प्रकाशक :
वासुदेव प्रकाशन
माडल टाउन, दिल्ली-९

•

प्रथम सस्करण : १९६२
प्रतियो की संख्या . ११००
पृष्ठसख्या : २४०

•

•

मूल्य : ७ रु०

•

मुद्रक :
उद्योगशाला, प्रेस,
किंग्सवे, दिल्ली—९

डॉ० नगेन्द्र

को

जिनकी काव्यशास्त्र-विषयक अनेक सुविचारित व्याख्याओं एवं मान्यताओं द्वारा हिन्दी-साहित्य के अध्येता को अभिनव मार्ग मिला।

—सत्यदेव चौधरी

- नासत्यं नाम किञ्चन काव्ये यस्तु स्तुत्येष्वर्थवादः ।

—राजशेखर

- समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव सङ्गतौ ।
  परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा ।।

—कुन्तक

- शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग् विदुः ।
  अर्थे तत्त्वेन युक्ते तु वदन्त्याख्यानमेतयोः ।
  द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवेत् ।।

—भट्टनायक

- सारस्वतं किमपि तत्सुमहारहस्यं
  यद्गोचरं च विदुषां निपुणैकसेव्यम् ।
- तत्सिद्धये परमय परमोऽभ्युपायो
  यच्चेतसो विदितवेद्यविधेः समाधि. ।।

—राजशेखर

★

अपनी बात

'भारतीय काव्यांग' के उपरान्त भारतीय काव्यशास्त्र से सम्बद्ध यह मेरा दूसरा निबन्ध-संग्रह है। इस संग्रह में विषय-सामग्री का चयन एव प्रतिपादन कैसा बन पड़ा है इसकी जानकारी मै विषय के मर्मज्ञ विद्वानों से प्राप्त करना चाहूगा। मुझे तो केवल इतना कहना है कि इस ग्रन्थ में मैंने विषय के प्रति यथासम्भव न्याय करने का प्रयास किया है।

मै अपने सम्मान्य मित्र श्री० पं० कृष्णशंकर शुक्ल तथा स्नेही बन्धु डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी का अत्यन्त कृतज्ञ हूं जिन्होने विचार-विनिमय द्वारा समय-समय पर मुझे अनेक सुझाव दिये।

—सत्यदेव चौधरी

एफ ११/१२ माडल टाउन
दिल्ली—९
२१ मई, १९६३

लेखक की रचनाएं

- हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य
  [हरजीमल डालमिया पुरस्कार-समिति नयी दिल्ली तथा भाषाविभाग पंजाब पटियाला द्वारा पुरस्कृत]
  प्रकाशक : साहित्यभवन, इलाहाबाद

- भारतीय काव्यांग
  [काव्यशास्त्रीय दस अंगों का विवेचनात्मक अनुशीलन]
  प्रकाशक . साहित्यभवन, इलाहाबाद

- हिन्दी वाङ्मय का विकास
  प्रकाशक : मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, दरयागंज, दिल्ली

- हमारी भाषा-परम्परा
  प्रकाशक · श्री भारतभारती लिमिटेड, दरयागज, दिल्ली

- काव्यशास्त्रीय निबन्ध (परम्परा तथा सिद्धान्त-पक्ष)
  ,, (सिद्धान्त-पक्ष)
  प्रकाशक : वासुदेव प्रकाशन, माडलटाउन दिल्ली

- हिन्दी के प्रतिनिधि कवि
  प्रकाशक : एस. चन्द एण्ड कम्पनी, दिल्ली

यन्त्रस्थ—

- रुद्रट-प्रणीत काव्यालंकार [हिन्दी व्याख्या-सहित]
- Essays on Indian Poetics Vol I



विषय-सूची

काव्यशास्त्रीय परम्परा

सिद्धान्त पक्ष

परिशिष्ट

मर्मज्ञैः काव्यतत्त्वस्य कृतमत्र विमर्शनम् ।
सर्वथा स्याच्छिरोधार्यं मम तुष्टिप्रदं परम् ।।

काव्यशास्त्रीय परम्परा

: १ :

संस्कृत के प्रख्यात काव्यशास्त्री

संस्कृत के काव्यशास्त्रीय उपलब्ध ग्रन्थो के आधार पर भरत मुनि को काव्यशास्त्र का प्रथम आचार्य माना जाता है। उनका समय ३य-२य शती ई० पू० और २य-३य शती ईस्वी के बीच माना गया है। इस परम्परा के अन्तिम उद्भावक आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ (१७वी शती) है। इस प्रकार लगभग डेढ-दो सहस्र वर्षो का यह शास्त्रीय साहित्य अपनी व्यापक विषय-सामग्री, अपूर्व तर्क-सम्मत विवेचन-पद्धति और अधिकाशत: प्रौढ़ एवं गम्भीर शैली के कारण, तथा विशेषत: नूतन मान्यताओ को प्रस्तुत करने के बल पर भारतीय वाङ्मय में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। जहाँ तक इन आचार्यो में से भरत, भामह, वामन, आनन्दवर्द्धन, कुन्तक, महिमभट्ट, जगन्नाथ आदि जैसे उद्भावक आचार्यो द्वारा प्रस्तुत मान्यताओ एव धारणाओ का प्रश्न है वे सम्भवत: विद्वद्गोष्टियो में भी प्रचलित रही होगी। किन्तु ग्रन्थाकार रूप में इन्हें प्रस्तुत करने का श्रेय इन्ही आचायो को ही है। सम्भावना यह भी है कि कई ग्रन्थ उपलब्ध न भी हों, किन्तु उनकी अनुपलब्धि-पर्यन्त इन्ही आचार्यो को यह श्रेय मिलता रहेगा।

कतिपय प्रख्यात एव उद्भावक आचार्यो का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :

१. भरत

भरत मुनि की ख्याति नाट्यशास्त्र के प्रणेता के रूप में है, पर उनके जीवन और व्यक्तित्व के विषय में इतिहास अभी तक मौन है। इस सम्बन्ध में विद्वानों का एक मत यह भी है कि भरत वस्तुत: एक काल्पनिक मुनि का नाम है। सस्कृत के प्राचीन महाकाव्यो के उल्लेखानुसार नाटक के नट को 'भरत' कहा जाता था। नाट्यविधान के जो तत्त्व समय-समय पर निर्मित होते गये, उनका

संग्रह 'भरत' (नाटकीय-नट) के नाम पर कर दिया गया। संग्रहकारो मे विशेष उल्लेखनीय नाम कोहल का है, और उसके पश्चात् शाण्डिल्य, दत्तिल और मतग का। सम्भव है कि भरत नामक किसी मुनि का भी इस संग्रह को प्रस्तुत करने मे प्रमुख हाथ रहा हो। अस्तु! इस ग्रंथ का संग्रह-काल ३य शती ई० पू० से लेकर ३य शती ई० के बीच माना जाता है।

नाट्यशास्त्र के दो सस्करण उपलब्ध है–(१) काव्यमाला बम्बई (निर्णय-सागर) का सस्करण, और (२) काशी सस्कृत-सीरीज काशी (चौखम्बा) का सस्करण। इनमें क्रमशः ३६ और ३७ अध्याय है। बडौदा से भी गायकवाड़ ओरियण्टल-सीरीज मे 'अभिनवभारती' सहित नाट्यशास्त्र का प्रकाशन दो खण्डो (न० ३६ और ६८) में हुआ है, पर वह अभी तक अपूर्ण है। रायल-एशियाटिक सोसाइटी आफ बगाल द्वारा नाट्यशास्त्र के प्रथम २७ अध्यायो का अंग्रेजी-अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। अनुवादक है—श्री० एम. एन. घोष। इसके अतिरिक्त दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग द्वारा 'हिन्दी अभिनवभारती' नाम से नाट्यशास्त्र के प्रथम, द्वितीय तथा षष्ठ अध्यायो की हिन्दी-व्याख्या मूल-पाठ तथा टीका-भाग सहित प्रकाशित करायी गयी है। व्याख्याकार है—आचार्य विश्वेश्वर।

नाट्यशास्त्र नाट्यविधानों का एक अमर विश्वकोश है। नाट्य की उत्पत्ति, नाट्यशाला, विभिन्न प्रकार के अभिनय, नाटकीय सन्धियाँ, वृत्तियाँ, सगीतशास्त्रीय सिद्धान्त आदि इसके प्रमुख विषय है। इनके अतिरिक्त ६ठे, ७वें और १७वे अध्यायो मे काव्यशास्त्रीय अंगो—रस, गुण, दोष, अलकार तथा छन्द का भी निरूपण हुआ है। नायक-नायिका-भेद का भी इस ग्रन्थ में निरूपण है। स्वाधीनपतिका आदि अष्ट नायिकाओं का उल्लेख सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में उपलब्ध है। ग्रन्थकार रसवाद का पूर्ण समर्थक है। रस-स्वरूप-निर्देशक प्रसिद्ध सूत्र, तथा रसनिष्पत्ति-विषयक अन्य प्रचुर सामग्री भी इसी ग्रन्थ में उपलब्ध है। विषय के स्पष्टीकरण के लिए इसी प्रसग में गद्य का भी आश्रय लिया गया है।

नाट्यशास्त्र के प्राचीन व्याख्याकारों में से निम्नोक्त नाम प्रसिद्ध है—उद्भट, लोल्लट, शकुक, भट्टनायक भट्टतौत (तोत) और अभिनवगुप्त। इन में से केवल अभिनवगुप्त की ही टीका 'अभिनवभारती' उपलब्ध है। शेष टीका-कारों का उल्लेख सर्वप्रथम इसी टीका में मिलता है। सम्भावना यह भी है कि इन टीकाकारो की टीकाएं स्वतन्त्र ग्रन्थो के रूप मे कभी निर्मित हो न हुई हो। केवल इनके मान्य सिद्धान्त ही मौखिक रूप में प्रचलित रहे हो। अस्तु!

२. भामह

भामह कश्मीर-निवासी कहे जाते है । इनका जीवन-काल षष्ठ शतक ई० का मध्यकाल माना गया है। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यालकार है । इसका अन्य नाम भामहालकार भी है । इस ग्रन्थ मे ६ परिच्छेद है और कुल ४०० श्लोक । इसमें इन विषयो का निरूपण किया गया है—काव्यशरीर, अलंकार, दोष, न्यायनिर्णय और शब्दशुद्धि ।

भामह अलंकारवाद के समर्थक थे । इन्होने 'वक्रोक्ति' को सब अलंकारो का मूल माना है । काव्य का लक्षण सर्वप्रथम इन्होने प्रस्तुत किया है । दश के स्थान पर तीन काव्यगुणो की स्वीकृति भी इन्होने सर्वप्रथम की है, तथा वैदर्भ और गौड नामक काव्यरीतियो के 'प्रदेशाभिधान' का भी इन्होने सर्वप्रथम खण्डन किया है । इनके ग्रन्थ की महत्ता का प्रमाण इससे भी ज्ञात होता है कि उद्भट जैसे उद्भट आचार्य ने 'भामह-विवरण' नाम से इनके ग्रन्थ पर भाष्य लिखा था । आज यदि यह भाष्य उपलब्ध हो तो उससे भामह-सम्मत सिद्धान्तो के स्पष्टीकरण मे अत्यधिक सहायता मिलती । अलकारवाद के अन्य प्रख्यात आचार्य दण्डी भी इन्ही के अधिकाश रूप मे ऋणी है । इनके अतिरिक्त उद्भट ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालकारसारसग्रह' के निर्माण में दण्डी के अतिरिक्त भामह का भी आधार ग्रहण किया है ।

३. दण्डी

दण्डी का समय सप्तम शती का उत्तरार्द्ध माना गया है । इनके तीन ग्रन्थ उपलब्ध है—काव्यादर्श, दशकुमारचरित और अवन्तिसुन्दरीकथा । प्रथम ग्रन्थ काव्यशास्त्र-विषयक है, और शेष दो गद्य-काव्य हैं । काव्यादर्श में तीन परिच्छेद है और श्लोको की कुल सख्या ६६० है । प्रथम परिच्छेद मे काव्य-लक्षण, काव्यभेद, रीति और गुण का निरूपण है और द्वितीय परिच्छेद में अलकारो का । तृतीय परिच्छेद में यमक, चित्र-बन्ध और प्रहेलिका के अतिरिक्त दोषो का भी निरूपण किया गया है ।

दण्डी अलंकारवाद के समर्थक थे । काव्य के विभिन्न अगो को अलकार में ही अन्तर्निहित समझना इनका मान्य सिद्धान्त था । यहा तक कि रस, भाव आदि को भी इन्होने रसवदादि अलंकार माना है । भामह के समान इन्होने भी वैदर्भ और गौड ये दो काव्य-रूप माने है, तथा इन्हे 'मार्ग' नाम दिया है । गौड मार्ग की अपेक्षा वैदर्भ मार्ग इन्हे अधिक प्रिय था, फिर भी गौड मार्ग को इन्होने सर्वथा हेय और त्याज्य नही कहा । हाँ, अपेक्षाकृत हीन

अवश्य माना है। अलंकारो के लक्षणो मे इन पर भामह का प्रभाव है। दश गुणो और दश दोषो के स्वरूप-निर्धारण मे इन्होने भरत से साक्षात् अथवा असाक्षात् रूप में सहायता ली प्रतीत होती है।

काव्यादर्श अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है। [कहा जाता है कि सिंहली और कन्नड़ भाषाओं के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो क्रमशः 'सिय-बस-लकर' और 'कविराजमार्ग' पर काव्यादर्श का स्पष्ट प्रभाव है।] संस्कृत में इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएं रची गयी। तरुणवाचस्पति की टीका के अतिरिक्त हृदयगमा, प्रभा आदि टीकाए विशेष उल्लेखनीय है। एस. के. बेलवल्कर महोदय ने इस ग्रन्थ का अंग्रेजी मे भी अनुवाद प्रस्तुत किया है। हिन्दी में इस ग्रन्थ के तीन अनुवाद उपलब्ध है—१. श्री व्रजरत्नदास का, २. डॉ० रणवीरसिंह का, तथा ३. श्री रामचन्द्र मिश्र का।

४. उद्भट

उद्भट कश्मीरी राजा जयापीड के सभा-पण्डित थे। इनका समय नवम शती का पूर्वार्द्ध है। इनके तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध है—काव्यालंकारसारसंग्रह, भामह-विवरण और कुमारसम्भव। इनमें से केवल प्रथम ग्रन्थ उपलब्ध है, जिसके ६ वर्गो मे अलकारो के लक्षणोदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। अलंकारो के स्वरूप-निर्देश मे प्रायः भामह का आश्रय लिया गया है। कुछ अलकारो के उदाहरण स्वरचित कुमारसम्भव काव्य से भी लिये गये हैं। उद्भट अलकार-वादी आचार्य थे। दण्डी के समान ये भी रस, भाव आदि को रसवदादि अल-कारो के अन्तर्गत मानते थे। इन अलकारो को सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप देने का श्रेय इनको है। अनुप्रास अलंकार के अन्तर्गत उपनागरिका आदि वृत्तियो के निरूपण करने की जो शैली आगे चलकर मम्मट ने चलायी, उसका मूला-धार भी यही ग्रन्थ काव्यालंकारसारसग्रह है। इस ग्रन्थ पर दो टीकाए' उपलब्ध है—राजानक तिलक की उद्भट-विवेक और प्रतिहारेन्दुराज की लघुवृत्ति।

उद्भट-प्रणीत 'भामह-विवरण' अप्राप्य है, पर आनन्दवर्द्धन, प्रति-हारेन्दुराज, अभिनवगुप्त, रुय्यक, मम्मट, जगन्नाथ आदि ने उद्भट-सम्मत जिन सिद्धान्तो का उल्लेख बार-बार बड़े समादर के साथ किया है, उनका मूल स्रोत यही ग्रन्थ प्रतीत होता है।[1]

---

१. अभी पिछले दिनों लगभग ५-६ मास पूर्व, सम्भवतः मार्च-अप्रेल १९६२ में, 'नवभारत टाइम्स' के किसी अंक में यह प्रकाशित हुआ था कि यह

५. वामन

उद्भट के समान वामन भी कश्मीरी राजा जयापीड़ के सभा-पण्डित थे। इनका समय ८०० ई० के आसपास है । इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति है। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो में यह पहला सूत्र-बद्ध ग्रन्थ है। सूत्रो की वृत्ति भी स्वयं वामन ने लिखी है। इस ग्रन्थ में ५ अधिकरण है। प्रत्येक अधिकरण में कुछ अध्याय है, और हर अध्याय में कुछ सूत्र। ग्रन्थ के पाँचो अधिकरणो मे अध्यायो की संख्या १२ है, और सूत्रो की सख्या ३१६। प्रथम अधिकरण में काव्य-प्रयोजनादि के उल्लेख के उपरान्त रीति के तीन भेदों तथा काव्य के विभिन्न प्रकारो का निरूपण है। अगले तीन अधिकरणो में क्रमशः दोप, गुण और अलकारो का विवेचन है, तथा अन्तिम अधिकरण में शब्दशुद्धि-समीक्षा है।

वामन रीतिवादी आचार्य थे। इन्होने रीति को काव्य की आत्मा माना है। इनके मतानुसार गुण रीति के आश्रित है। गुण काव्य के नित्य अंग है, और अलकार अनित्य अंग। रस को इन्होने 'कान्ति' नामक गुण से अभिहित किया है। वामन पहले आचार्य है, जिन्होने वक्रोक्ति को लक्षणा का पर्याय मानते हुए इसे अर्थालकारो में स्थान दिया है।

काव्यालंकारसूत्रवृत्ति के सस्कृत, अंग्रेज़ी और हिन्दी तीनों भाषाओ मे अनुवाद अथवा भाष्य प्रकाशित हो चुके हैं। हिन्दी-भाष्य आचार्य विश्वेश्वर ने प्रस्तुत किया है, तथा इसकी सारगर्भित, गम्भीर एवं विस्तृत भूमिका डॉ० नगेन्द्र ने लिखी है।

६. रुद्रट

रुद्रट नाम से कश्मीरी आचार्य मालूम पड़ते है। इनका जीवन-काल नवम शती का आरम्भ माना जाता है। इनके ग्रन्थ का नाम काव्यालंकार है, जिसमें १६ अध्याय है और कुल ७३४ पद्य। १६ अध्यायो में से ८ अध्यायों में अलकारो को स्थान मिला है, और शेष अध्यायो में काव्यस्वरूप, काव्यभेद, रीति, दोष, रस और नायक-नायिका-भेद का निरूपण है। यद्यपि रुद्रट अलंकारवादी युग के आचार्य है, किन्तु भरत के उपरान्त रस का व्यवस्थित

ग्रन्थ पाकिस्तान और इटली के सरकारों के मिश्रित प्रयास से प्रकाशित हो चुका है। किन्तु हमें अभी तक यह सुलभ नहीं हुआ, सम्भवतः भारत में अभी तक यह ग्रन्थ नहीं आया है। [दिनांक : २६ अगस्त १९६२]

और स्वतन्त्र निरूपण इनके ग्रन्थ में उपलब्ध है। नायक-नायिका-भेद का विस्तृत निरूपण भी इन्होंने सर्वप्रथम किया है। नायिका के प्रसिद्ध तीन भेद स्वकीया, परकीया और सामान्या का उल्लेख सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ मे मिलता है। प्रेयान् रस की सर्वप्रथम चर्चा भी रुद्रट ने की है, तथा अलकारो का वर्गीकरण भी सबसे पहले इन्होने प्रस्तुत किया है। इस प्रकार रुद्रट काव्यशास्त्रीय आचार्यों मे अपना विशिष्ट स्थान रखते है। कुछ विद्वान् इन्हे अलकारवादी मानते हैं, किन्तु अलकार की अपेक्षा रस के प्रति इनका झुकाव कही अधिक है। वस्तुतः रुद्रट उधर ध्वनि-पूर्ववर्ती और इधर ध्वनि-परवर्ती आचार्यों के बीच एक अनिवार्य कड़ी हैं। इन्ही दिनो इस ग्रन्थ की हिन्दी-व्याख्या प्रकाशित हो रही है।

७ आनन्दवर्द्धन

आनन्दवर्द्धन कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के सभापण्डित थे। इनका जीवन-काल नवम शती का मध्य भाग है। इनकी ख्याति 'ध्वन्यालोक' नामक अमर ग्रन्थ के कारण है। ग्रन्थ के दो प्रमुख भाग है—कारिका और वृत्ति। यद्यपि इस विषय मे विद्वानो का मतभेद है कि इन दोनो भागो का कर्त्ता एक व्यक्ति है या दो है, पर अधिकतर विद्वान् आनन्दवर्द्धन को ही दोनो भागो का कर्त्ता मानते है।

इस ग्रन्थ मे चार उद्योत है, और ११७ कारिकाएं। प्रथम उद्योत मे तीन प्रकार के ध्वनिविरोधियो—अभाववादी, भक्तिवादी और अलक्षणीयतावादी—का खण्डन किया गया है, तथा ध्वनि का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। द्वितीय और तृतीय उद्योत मे ध्वनि-भेदो का विस्तृत निरूपण है। प्रसगवश गुण, अलकार, सघटना और रस-विरोधी तत्त्वों (दोषो) का भी इसी उद्योत में यथेष्ट निरूपण है। अभिधा और लक्षणा के होते हुए भी ध्वनि की स्थिति क्यो आवश्यक है, इस विषय पर भी तृतीय उद्योत मे प्रकाश डाला गया है, तथा गुणीभूतव्यग्य-काव्य और चित्र-काव्य का स्वरूप भी निर्दिष्ट किया गया है। चतुर्थ उद्योत मे ध्वनि से सम्बद्ध स्फुट प्रसगो का पर्याप्त विवेचन है।

काव्यशास्त्रीय आचार्यों मे आनन्दवर्द्धन एक युगान्तरकारी आचार्य है। इन्होने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना। यद्यपि इन्होंने रस को ध्वनि का ही एक भेद माना है, पर रसध्वनि के प्रति अन्य ध्वनि-भेदो की अपेक्षा इन्होंने अधिक समादर प्रकट किया है। इनके रसध्वनि-सिद्धान्त ने काव्य-शास्त्रीय विधान को एक नयी दिशा की ओर मोड दिया। अब अलकार बाह्य आभूषण मात्र रह गये। गुण रीति के विशिष्ट धर्म न होकर रस के

ही नित्य धर्म बन गये। रीति सघटना-मात्र तथा रसोपकर्त्री बन गयी। दोषों का अनौचित्य तथा उनकी नित्यानित्य-व्यवस्था रस पर ही आधृत हो गयी। निष्कर्ष यह कि भामह, दण्डी, उद्भट और वामन के सिद्धान्त इनके ध्वनि-सिद्धान्त के आगे न केवल बदल गये अपितु मन्द पड़ गये। इनके प्रतिभाशाली व्यक्तित्व ने काव्यशास्त्रीय आचार्यों में विभाजन-रेखा खींचकर इन्हे दो भागो में विभक्त कर दिया—पूर्वध्वनिकालीन आचार्य और उत्तरध्वनिकालीन आचार्य।

ध्वन्यालोक के प्रधान टीकाकार अभिनवगुप्त है। टीका का नाम 'लोचन' है। ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत का अंग्रेजी-अनुवाद, तथा सम्पूर्ण ग्रन्थ की हिन्दी-व्याख्या प्रकाशित हो चुकी है। इस व्याख्या के कर्त्ता आचार्य विश्वेश्वर है। प्रथम उद्योत के लोचन-भाग का हिन्दी-अनुवाद आशालता ने प्रस्तुत किया है। 'लोचन' टीका-सहित इस ग्रन्थ की हिन्दी-व्याख्या इन्ही दिनो प्रणीत हो रही है।

८. अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त दशम शती के अन्त और एकादश शती के आरम्भ में विद्यमान थे। इनका काव्यशास्त्र के साथ-साथ दर्शन-शास्त्र पर भी समान अधिकार था। यही कारण है कि काव्यशास्त्रीय विवेचन को आप अत्यन्त उच्च स्तर पर ले गये—ध्वन्यालोक पर 'लोचन' और नाट्यशास्त्र पर 'अभिनव-भारती' नामक टीकाए इसके प्रमाण है। इन टीकाओ के गम्भीर एव स्वस्थ विवेचन तथा मार्मिक व्याख्यान के कारण इन्हे स्वतंत्र ग्रन्थ का ही महत्त्व प्राप्त है, और अभिनवगुप्त को टीकाकार के स्थान पर 'आचार्य' जैसे महा-महिमशाली पद से सुशोभित किया जाता है। 'लोचन' और 'अभिनवभारती' में स्थान-स्थान पर इनके गुरुओ—भट्टेन्दुराज और भट्टतौत (तोत) के भी सिद्धान्तो का उल्लेख भी बडे समादर के साथ किया गया है। इनके अतिरिक्त भरत-सूत्र के अन्य व्याख्याताओ—शकुक, लोल्लट तथा भट्टनायक के सिद्धान्तो की चर्चा भी इन टीकाओं में की गयी है। इस प्रकार ये दोनो टीकाएँ सैद्धान्तिक क्रमिक विकास को प्रतिपादित करने की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन गयी है। अभिनवगुप्त का 'अभिव्यक्तिवाद' रससिद्धान्त मे एक प्रौढ एव व्यवस्थित वाद है, यद्यपि इस वाद का समय-समय पर खण्डन किया गया, किंतु फिर भी यह वाद अद्यावधि अचल बना हुआ है। यहाँ तक कि जगन्नाथ जैसे पण्डितराज ने भी इसे ज्यो का त्यो अपना लिया था।

'अभिनवभारती' (१ म, २ य, ६ ठ अध्याय) की हिन्दी-व्याख्या आचार्य

विश्वेश्वर कृत उपलब्ध है। 'लोचन' की हिन्दी-व्याख्या हो रही है। अभिनव-गुप्त-प्रणीत दर्शनशास्त्र के कतिपय ग्रन्थो के नाम है—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्षिणी, तन्त्रसार और परमार्थसार।

९. राजशेखर

राजशेखर विदर्भ (वरार) के निवासी थे, और कन्नौज के प्रतिहार-वशी महेन्द्रपाल और महीपाल के राजगुरु थे। इनका जीवन-काल दशम शती का प्रथमार्द्ध माना गया है। काव्यशास्त्र से सम्बद्ध काव्यमीमासा नामक इन का एक ग्रन्थ प्रसिद्ध है, जो १८ भागो या अधिकरणो मे विभक्त है, पर अभी तक 'कविरहस्य'नामक एक ही भाग प्राप्त हो सका है, जिसे सर्वप्रथम गा०ओ० मी० वडोदा ने, और फिर विहार-राष्ट्रभापा-परिषद् ने [हिन्दी-अनुवाद-सहित] प्रकाशित कराया। इस भाग मे अठारह अध्याय है, जिनमे काव्य-स्वरूप, काव्य-भेद, काकु-वक्रोक्ति, रीति-प्रकार, कवि-भेद, आलोचक-भेद, कविचर्या, राजचर्या, राजदरवारी वैभव, शब्दहरण, अर्थहरण, कवि-समय,काल-विभाग आदि नवीन एव पुरातन विपयो का अद्भुत और विशद सग्रहात्मक निरूपण है। इनके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर भौगोलिक तथ्यो का उल्लेख आचार्य की 'यायावर'[1] वश से उत्पत्ति की सार्थकता घोषित करता है। साहित्यविद्यावधू और काव्य-पुरुष की यात्रा की काल्पनिक कथा मे एक ही साथ काव्य के तीन अगो—वृत्ति, रीति और प्रवृत्ति का देशपरक स्वरूप-निर्देश किया गया है। इससे राजशेखर की इतिहास-प्रवृत्ति, भूगोल-रुचि तथा साहित्यिक कल्पनाशक्ति का भी परि-चय मिलता है। इस ग्रन्थ के आरम्भ में अनेक अप्रख्यात आचार्यों का नामो-ल्लेख है, जो कि भारतीय काव्यशास्त्र की विशाल परम्परा और महान् साहित्य का परिचायक है। निस्सन्देह अपने प्रकार का यह सग्रह-ग्रन्थ एक निराला एव अभिनव प्रयास है, जो कि अनेक दृष्टियो से अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है।

राजशेखर के अन्य ग्रन्थ है—वालरामायण, वालभारत, कर्पूरमंजरी (प्राकृत) और विद्धशालभंजिका।

१०. धनंजय और धनिक

कहा जाता है कि धनंजय और धनिक दोनो भाई थे। वे दसवी शती के अन्त में विद्यमान थे। धनंजय का ग्रन्थ दशरूपक है, और धनिक ने उस

---

१. निरन्तर चलने फिरने वाले गृहस्थ ऋषि।

पर 'अवलोक' नामक टीका लिखी है, जो विद्वत्तापूर्ण और सारगर्भित है। दशरूपक नाट्यशास्त्र से सम्बद्ध ग्रन्थ है। इसमे चार प्रकाश और लगभग ३०० कारिकाएं है। प्रथम प्रकाश में सन्धि आदि नाटकीय अंगो का निरूपण है, और द्वितीय प्रकाश में नायक-नायिका-भेद का। तृतीय प्रकाश मे दृश्य काव्य का सांगोपाग निरूपण है, और अन्तिम प्रकाश मे रस-विवेचन है। रसनिष्पत्ति के विषय मे इन्होने व्यंजनावाद को अस्वीकृत कर तात्पर्यवाद का समर्थन किया है। 'साधारणीकरण' के प्रसंग मे इन्होने सर्वप्रथम कवि-तत्त्व का समर्थ शब्दो में निर्देश किया है। शान्त रस को ये काव्य में तो ग्राह्य मानते है, पर नाटक में नही।

भरत मुनि का नाटचशास्त्र एक तो विशाल ग्रन्थ था, तथा दूसरे इधर कई शताब्दि-पर्यन्त केवल काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो का ही अविरत सर्जन होता रहा। इन दोनो कारणों से पाठक नाट्यविधानो से अपरिचित-सा होता जा रहा था। धनंजय ने अपने इस लघु किन्तु सारगर्भित ग्रन्थ द्वारा साहित्य-मर्मज्ञों को नाट्यशास्त्रीय विधान की ओर आकृष्ट किया। परिणाम-स्वरूप सागरनन्दी और रामचन्द्र-गुणचन्द्र जैसे आचार्यो ने नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे, तथा विश्वनाथ जैसे आचार्य ने अपने सकल-काव्यांगनिरूपक ग्रन्थ में नाट्य-विधान से भी सम्बद्ध एक परिच्छेद सम्मिलित कर दिया। अस्तु।

इस ग्रन्थ की सस्कृत मे कई टीकाएँ है। इधर हिन्दी में भी दो टीकाएँ उपलब्ध है—एक गोविन्द त्रिगुणायत द्वारा प्रणीत, और दूसरी डॉ० भोलाशंकर व्यास द्वारा प्रणीत।

११. कुन्तक

कुन्तक का समय दशम शती का अन्त तथा एकादश शती का आरम्भ माना जाता है। इनकी प्रसिद्धि 'वक्रोक्तिजीवितम्' नामक ग्रन्थ के कारण है। इसमें चार उन्मेष हैं। प्रथम उन्मेष में काव्य का प्रयोजन तथा वक्रोक्ति का स्वरूप और उसके छ: भेद निर्दिष्ट किये गये है। द्वितीय उन्मेष मे वक्रोक्ति के प्रथम तीन भेदों—वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्द्धवक्रता तथा प्रत्ययवक्रता का वर्णन है। तृतीय उन्मेष में वाक्यवक्रता का विस्तृत निरूपण है, तथा अन्तिम उन्मेष मे अन्तिम दो भेदो—प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता का विवरण है।

कुन्तक प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे। इन्होने वक्रोक्ति को काव्य का 'जीवित' माना। इसके उक्त छ: भेदो में काव्य के सभी अंगो को अन्तर्भूत किया। कुन्तक की मौलिकता स्तुत्य है। इन्होने सर्वप्रथम अलकारो की

वर्द्धमान सख्या को स्थिर करने का मार्ग दिखाया। स्वभावोक्ति अलकार के सम्बन्ध में इनकी धारणा साहसपूर्ण है, और रसवदादि अलकारो का विवेचन नितान्त मौलिक है। वैदर्भादि मार्गो के 'प्रदेशाभिधानवाद'का इन्होने प्रबल शब्दो मे खण्डन किया है, तथा परम्परा से हट कर इन्होने नवीन गुणो का उल्लेख किया है।

उपलब्ध प्रतियो मे ग्रन्थ के प्रथम दो उन्मेष तो पूर्ण है, पर अन्तिम दो खण्डित हैं। अब इस ग्रन्थ का आचार्य विश्वेश्वर-प्रणीत हिन्दी-भाष्य भी उपलब्ध है। इसके मूलपाठ मे अधिकतर खण्डित पाठ को आचार्य जी ने अपने विचारानुमार जोड दिया है, तथा कही कही शुद्ध भी किया है। इसकी गम्भीर एव मार्मिक भूमिका डॉ० नगेन्द्र ने लिखी है।

१२. महिम भट्ट

महिम भट्ट कश्मीर-निवासी प्रतीत होते है। इनका समय ११वी शती का प्रथम चरण है। इनकी कृति का नाम व्यक्तिविवेक है, जिसका शाब्दिक अर्थ है व्यक्ति अर्थात् व्यजना का विवेक। ग्रन्थ मे तीन विमर्श है। महिम भट्ट अनुमानवादी आचार्य थे। किन्तु इन्होने इस ग्रन्थ का नाम 'अनुमानवाद' से सम्बन्धित न करके व्यक्ति (व्यजना) से किया है, पर आज का समालोचक एवं मनोवैज्ञानिक इसे हीनभावना की प्रतिक्रिया कहेगा। अस्तु !

इम ग्रन्थ के प्रथम और तृतीय विमर्श मे इन्होने आनन्दवर्द्धन-सम्मत ध्वनिसिद्धान्त को अनुमान मे अन्तर्भूत करके अपने विलक्षण पाण्डित्य का परिचय दिया है। पर महिमभट्ट के अनुमानवाद का अनुसरण नही हुआ। यहा तक कि इस ग्रन्थ के ही टीकाकार रुय्यक ने, जो ध्वनिवाद के समर्थक थे, इस वाद का खण्डन तथा उपहास किया है। द्वितीय विमर्श का सम्बन्ध दोष से है, जिसे इन्होने 'अनौचित्य' नाम दिया है। मम्मट ने जिन दोपो को अपने ग्रन्थ में निरूपित किया है, उनमे से पाच दोषो के लिए वे महिम भट्ट के ऋणी है। यह ग्रन्थ गम्भीर गद्य-शैली मे लिखित होने के कारण पर्याप्त रूप मे जटिल है। इस ग्रन्थ का भी सम्भवत हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत हो रहा है।

१३. क्षेमेन्द्र

क्षेमेन्द्र कश्मीर निवासी थे। वे ११ वी शती के उत्तरार्द्ध मे विद्यमान थे। इन के तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध है—औचित्यविचारचर्चा, सुवृत्ततिलक और कविकण्ठाभरण। प्रथम ग्रन्थ मे औचित्य को लक्ष्य में रखकर इन्होने वाणी के

विभिन्न अंगो—वाक्य, गुण, रस, क्रिया, करण, लिग, उपसर्ग, देश, स्वभाव आदि का स्वरूप निर्धारित किया है। द्वितीय ग्रन्थ में छन्द के औचित्य का निर्देश है। तीसरा ग्रन्थ कवि-शिक्षा से सम्बद्ध है। इस ग्रन्थ की ५ सन्धियो मे क्रमशः कवित्व-प्राप्ति के उपाय, कवियो के भेद, काव्य के गुण तथा दोष का विवेचन है। क्षेमेन्द्र के ये ग्रन्थ लघुकाय हैं, पर इनमे काव्य के बहुविध अगों पर प्रकाश डाला गया है। यद्यपि 'औचित्य' कोई नया तत्त्व नही है, आनन्दवर्द्धन 'औचित्य' शब्द को और महिम भट्ट 'अनौचित्य' शब्द को अपने दोष-प्रकरणो मे स्थान दे आये थे, पर इसी के आधार पर समस्त वागङ्गो को निर्धारित कर देना क्षेमेन्द्र की मौलिक प्रतिभा का परिचायक है। कुछ विद्वान् औचित्य को भी काव्यशास्त्र का एक सिद्धान्त मानने लगे है, पर हमारे विचार में यह काव्यशास्त्रीय विधानो में से एक आवश्यक विधान है, यह कोई स्वतन्त्र सिद्धान्त नही है। इस ग्रन्थ की हिन्दी-टीका डॉ० मनोहरलाल गौड ने प्रस्तुत की है। डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री ने अंग्रेजी मे 'क्षेमेन्द्र स्टडीज' नाम से, और श्री रामपाल विद्यालकार ने हिन्दी में 'क्षेमेन्द्र की औचित्य-दृष्टि' नाम से, क्षेमेन्द्र की मान्यताओं पर विशिष्ट प्रकाश डाला है।

१४. भोजराज

भोजराज धारा के नरेश थे। इनका जीवन-काल ११ वी शती का प्रथमार्द्ध है। भोज कवियों के आश्रयदाता होने के अतिरिक्त स्वय भी प्रगाढ आलोचक एवं काव्यशास्त्री थे। काव्यशास्त्र से सम्बद्ध इनके दो ग्रन्थ उपलब्ध है—सरस्वतीकण्ठाभरण और शृ गारप्रकाश। ये दोनो ग्रन्थ विशालकाय है। प्रथम ग्रन्थ मे पांच परिच्छेद है। इनमें दोष, गुण, अलंकार और रस का विशद और संग्रहात्मक विवेचन है। स्थान-स्थान पर प्राचीन आचार्यो के उद्धरणो से यह ग्रन्थ भरा पड़ा है। शृंगारप्रकाश मे ३६ प्रकाश है। प्रथम आठ प्रकाशो में व्याकरण-सम्बधी सिद्धान्तो का प्रतिपादन है। अगले चार प्रकाशो में गुण, दोष, महाकाव्य और नाटक का विवेचन है, तथा अन्तिम २४ प्रकाशो में रस का सांगोपाग विशद निरूपण है। भोज का प्रमुख सिद्धान्त है—केवल शृ गार रस की मान्यता तथा इसी मे अन्य रसो का अन्तर्भाव। पर शृ गार के विषय में भोज की धारणा परम्परागत शृ गार रस से नितान्त विभिन्न है। शृंगारप्रकाश अभी तक अप्रकाशित है, पर डॉ० राघवन के अंग्रेजी भाषा में लिखित प्रबंध भोज'स् शृंगारप्रकाश से इस ग्रन्थ का सम्यक् परिचय मिल जाता है। इस प्रबंध के प्रथम दो भाग प्रकाशित हो चुके है, तथा शेष दो अभी प्रकाशित नही हुए। भोजराज के उपर्युक्त दोनों ग्रन्थो को 'काव्य-

शास्त्रीय विश्वकोष' कहना चाहिए। सरस्वतीकण्ठाभरण पद्यवद्ध ग्रन्थ है, और इस की शैली सरल सुबोध है, किन्तु शृंगारप्रकाश गम्भीर और प्रौढ शैली में रचित गद्य-पद्यवद्ध ग्रन्थ है। इन दो विभिन्न शैलियों को देखकर सहज अनुमान होता है कि इन ग्रन्थो के कर्त्ता कदाचित् भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं, और यह अनुमान भोजराज जैसे आश्रयदाता के विषय मे ठीक भी हो सकता है। सम्भव है दो विभिन्न आचार्यो ने ये ग्रन्थ लिखकर भोजराज के नाम पर समर्पित कर दिये हो, किन्तु फिर भी निश्चयपूर्वक कुछ नही कहा जा सकता। हिन्दी मे भोज के इन दोनो ग्रन्थो की हिन्दी-व्याख्या अत्यन्त अपेक्षित है।

१५. मम्मट

मम्मट काश्मीर के निवासी माने जाते है। इनका जीवनकाल ११ वी शती का उत्तरार्द्ध है। इनकी प्रख्याति 'काव्यप्रकाश' के कारण है, जिसमें दश उल्लास है। प्रथम उल्लास मे काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु तथा काव्यभेदो की चर्चा है। अगले दो उल्लासो में शब्दशक्ति का विवेचन है। चतुर्थ उल्लास में ध्वनिभेदो तथा उनके अन्तर्गत रस-भावादि का गम्भीर विवेचन है। पचम उल्लास में गुणीभूतव्यंग्य-काव्य के भेदो के स्वरूप-निर्देश के उपरान्त ध्वनि की स्थापना की गयी है। षष्ठ उल्लास मे चित्र-काव्य का संक्षिप्त सा परिचय है, तथा अन्तिम चार उल्लासो मे क्रमश दोष, गुण, शब्दालकार तथा अर्थालकार का निरूपण है। अनुप्रास नामक शब्दालकार के अन्तर्गत वृत्तियो अथवा रीतियो की भी चर्चा की गयी है। इस प्रकार उनका यह ग्रन्थ सर्वांगपूर्ण वन गया है।

काव्यशास्त्र के आचार्यो मे मम्मट का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इनके निरूपण की प्रमुख विशेषता है अपने समय तक की काव्यशास्त्रीय सभी विषय-सामग्री का स्वच्छ एव उपादेय सकलन, तथा उसका ध्वनि-सम्प्रदाय की दृष्टि से व्यवस्थापूर्ण सम्पादन। यह ग्रन्थ इतना सुव्यवस्थित और सुसम्वद्ध है कि अद्यावधि इसके अध्ययन के विना काव्यशास्त्र का ज्ञान अपूर्ण समझा जाता है। मम्मट ने ध्वनि-सम्प्रदाय की पुष्टि करने के लिए अनुमानवादी, अभिधावादी, लक्षणावादी आदि आचार्यो का प्रवल तर्को द्वारा खण्डन प्रस्तुत कर ध्वनि की स्थापना की है। अभिनवगुप्त की 'अभिनवभारती' अथवा अन्य स्रोतो से भरतसूत्र के चार व्याख्याताओ, भट्ट लोल्लट आदि, के व्याख्यान को इन्होने अत्यन्त सक्षिप्त किन्तु सारगभित एवं सुसम्वद्ध शैली में इतनी परिपूर्णता से प्रस्तुत किया है कि काव्यशास्त्र के विद्यार्थी को मूलस्रोत के अध्ययन

विशेष आवश्यकता नही रहती। इससे एक हानि भी हुई—मूल स्रोत धीरे-धीरे लुप्त हो गये। पर हाँ, इससे मम्मट की प्रतिष्ठा मे क्षति होने के स्थान पर वृद्धि ही हुई है।

काव्यप्रकाश की अन्य विशेषता है—तीन गुणो की स्वीकृति और उनमें वामन-सम्मत २० गुणो का समाहार। दोप-निरूपण का विस्तार इस ग्रन्थ की अन्य उल्लेखनीय विशेपता है। ध्वनि-सम्प्रदाय के समर्थक होने के नाते इन्होने आनन्दवर्धन के समान अन्य काव्याङ्गो का स्वरूप रस-ध्वनि के आधार पर स्थिर किया है। मम्मट की इन विशिष्टताओ का प्रभाव आगामी आचार्यो पर भी पड़ा। विश्वनाथ जैसे आचार्य ने, जिसने मम्मट के काव्यलक्षण का बुरी तरह से खण्डन किया है, अपने ग्रन्थ के निर्माण के लिये कुछ-एक स्थलो को छोड़कर प्राय: शेप सामग्री काव्यप्रकाश से ही लेकर उसे पद्यबद्ध कर दिया है। इधर हिन्दी के रीतिकालीन सर्वांगनिरूपक आचार्यो को भी साक्षात् अथवा असाक्षात् रूप से काव्यप्रकाश की शरण लिये विना अन्य मार्ग नही सूझा।

इस ग्रन्थ की ख्याति और उपादेयता का परिचय इससे भी मिलता है कि संस्कृत मे इस पर ७० से अधिक टीकाएं रची गयी है, जिनमे से मौलिकता की दृष्टि से गोविन्द ठक्कुर की 'काव्यप्रदीप' टीका सर्वश्रेष्ठ है, और संकलन की दृष्टि से भट्ट वामन की वालवोधिनी। हिन्दी में भी कई टीकाए उपलब्ध है। इस महान् ग्रन्थ की हिंदी-व्याख्याएँ आचार्य विश्वेश्वर तथा डॉ० सत्यव्रतसिह ने प्रस्तुत की है। आचार्यजी की व्याख्या अनेक दृष्टियो से महत्त्व-पूर्ण है। इस ग्रन्थ के अंग्रेजी में भी दो अनुवाद उपलब्ध है।

१६. रुय्यक

रुय्यक कश्मीर-निवासी थे। इनका समय १२ वी शती का मध्यकाल है। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अलकारसर्वस्व' है। इन्होने 'व्यक्तिविवेक' पर भी टीका लिखी थी। पर इसमे उन्होंने महिम भट्ट के अनुमानवाद को अमान्य ठहराया है, तथा एक स्थान पर उसका उपहास भी किया हैं। अलंकार-सर्वस्व अलंकारो का प्रौढ एवं प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमे दो नवीन अलकारो—विकल्प और विचित्र का समावेश किया गया है। अलंकारो की शब्दगतता अथवा अर्थगतता का आधार मम्मट ने 'अन्वयव्यतिरेक-सम्बन्ध' को माना था, किंतु रुय्यक ने 'आश्रयाश्रयिभाव' को माना है। रुय्यक के ग्रन्थ की एक अन्य विशिष्टता है इसके आरम्भ मे अपने पूर्ववर्ती आचार्यो के विभिन्न सिद्धान्तों के सम्बन्ध में सारगर्भित, मार्मिक और तुलनात्मक समीक्षण का समावेश। यह समीक्षण जितना संक्षिप्त है, उतना ही महत्त्वपूर्ण और सुसम्बद्ध

है। इनका ग्रन्थ ग्रलकार-विषयक है, किन्तु इसी ग्राधार पर इन्हे भामह ग्रादि के समान ग्रलंकारवादी नही कहना चाहिए। ये ग्रलकार-निरूपक तो है, पर इन्हे ग्रलकारवादी किसी रूप मे नही कहना चाहिए।

१७. विश्वनाथ

विश्वनाथ कदाचित् उड़ीसा के निवासी थे। इनका समय १४ वी शती का पूर्वार्द्ध है। इनकी ख्याति साहित्यदर्पण नामक ग्रन्थ के कारण हुई है। इसमे दश परिच्छेद है। प्रथम परिच्छेद मे काव्यस्वरूप, काव्यभेद ग्रादि का निरूपण है, द्वितीय मे शब्दशक्ति का, ग्रौर तृतीय में रस ग्रौर नायक-नायिका-भेद का। चतुर्थ परिच्छेद मे ध्वनि तथा गुणीभूतव्यग्य के प्रकारो का विवेचन है। पचम परिच्छेद मे व्यंजना वृत्ति की स्थापना की गयी है। षष्ठ मे दृश्य काव्य का सागोपाग निरूपण है। ग्रन्तिम चार परिच्छेदो मे क्रमश· दोप, गुण, रीति ग्रौर ग्रलंकार का निरूपण है।

विश्वनाथ ने मम्मट, ग्रानन्दवर्द्धन, कुन्तक, भोजराज ग्रादि के काव्य-लक्षणो का खण्डन प्रस्तुत करने के उपरान्त रस को काव्य की ग्रात्मा घोषित करते हुए काव्य का लक्षण निर्धारित किया है। सब से घोर खण्डन मम्मट के काव्यलक्षण का किया गया है, किन्तु फिर भी ग्रपने ग्रन्थ की ग्रधिकाश सामग्री के लिए वे मम्मट के ही ऋणी हैं। ग्राश्चर्य तो यह है कि रस को काव्य की ग्रात्मा मानते हुए भी इन्होने ग्रानन्दवर्द्धन तथा मम्मट के समान रस को ध्वनि के एक भेद—'ग्रसंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' ध्वनि का ग्रपर नाम—माना है। ग्रलकारो के स्वरूप-निर्देश के लिए इन्होने मम्मट के ग्रतिरिक्त रुय्यक से भी सहायता ली है।

साहित्यदर्पण ग्रत्यन्त लोकप्रिय ग्रथ रहा है। इस का एक ही कारण है काव्यप्रकाश की सूत्रवद्ध ग्रौर समास-प्रधान शैली की तुलना मे सुबोध शैली में प्राय· पद्यवद्ध सिद्धान्त-प्रतिपादन। इसी विशेपता के द्वारा विश्वनाथ ने ग्रपना विशिष्ट स्थान वना लिया है। पर मौलिक प्रतिभा ग्रौर ग्राचार्यत्व की दृष्टि से इन की देन ग्रधिक नही है। मम्मट ग्रौर विशेषत· ग्रानन्दवर्द्धन एवं कुन्तक के काव्य-लक्षणों के खण्डन में इतना सार नही है, जितना दुराग्रह ग्रथवा पूर्वाग्रह है। वस्तुत वे खण्डन केवल खण्डन के लिए ही है। इनके ग्रन्थ की उल्लेखनीय विशिष्टता है—नायक-नायिका-भेद तथा दृश्य काव्य के भेदोप-भेदो का समावेश। इन प्रसगो के लिए वे धनजय के ऋणी है, पर यहा भी सुबोध शैली इनकी ग्रपनी है।

साहित्यदर्पण पर जीवानन्द शास्त्री की संस्कृत-टीका तथा शालग्राम शास्त्री की 'विमला' नामक हिन्दी-टीका अति प्रख्यात है। इसकी हिन्दी-व्याख्या डॉ. सत्यव्रतसिंह ने भी प्रस्तुत की है। विश्वनाथ का दूसरा ग्रन्थ है—काव्यप्रकाशदर्पण, जिसमे काव्यप्रकाश पर टीका लिखी गयी है, पर वह अनुपलब्ध है।

१८. जगन्नाथ

जगन्नाथ का यौवनकाल दिल्ली के प्रसिद्ध शासक शाहजहा के दरबार में बीता था। शाहजहां ने ही इन्हे 'पडितराज' की उपाधि से विभूषित किया था। अत. इनका समय १७ वी शती का मध्यभाग है। इनकी प्रसिद्ध रचना 'रसगगाधर' है, जो अपूर्ण है। इसमे दो आनन है। प्रथम आनन में काव्य-लक्षण, काव्यहेतु तथा काव्यभेदो के निरूपण के पश्चात् रस, रसदोष तथा गुण आदि का सांगोपांग विशद व्याख्यान है। द्वितीय आनन मे ध्वनि के विभिन्न भेदोपभेदो के विवेचन के उपरान्त अभिधा तथा लक्षणा का विवेचन है, और इसके बाद अलंकार-निरूपण प्रारम्भ हो जाता है। ७० अलकारो के निरूपण के पश्चात् ग्रन्थ का अगला भाग उपलब्ध नही है। अधिक सम्भावना यही है कि इसके आगे ग्रन्थ लिखा ही न गया हो।

जगन्नाथ का काव्यलक्षण अधिकाशत परिपूर्ण तथा सुबोध है। इन्होने काव्य के चार भेद माने है—उत्तमोत्तम, उत्तम. मध्यम तथा अधम। ये ध्वनि-वादी आचार्य थे, फिर भी रस के प्रति इन्होंने अधिक समादर प्रकट किया है। भरत-सूत्र पर उपलब्ध ग्यारह व्याख्याओ का विशुद्ध संकलन भी इसी ग्रन्थ में किया गया है। गुण को रस के अतिरिक्त शब्द, अर्थ और रचना का भी धर्म इन्होने सर्वप्रथम समान रूप से स्वीकार किया है।

जगन्नाथ की समर्थ भाषा-शैली, सिद्धान्त-प्रतिपादन की अद्‌भुत एवं परिपक्व विचार-शक्ति, और खण्डन करने की विलक्षण प्रतिभा इन्हे प्रौढ़ एवं सिद्धहस्त आचार्य मानने का बाध्य करती है। भाषा की कठिनता के कारण विद्वानो की ज्ञान-परीक्षा के लिए रसगंगाधर ग्रन्थ भले ही एक निकष रहा हो, पर साधारण पाठक इसे नही अपना सके। किन्तु इससे पण्डितराज के गम्भीर पाण्डित्य की कोई क्षति नही होती। इस ग्रन्थ की दो हिन्दी-व्याख्याएं उपलब्ध है—एक पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी द्वारा प्रणीत और दूसरी पं० मदनमोहन झा द्वारा प्रणीत।

रसगगाधर के अतिरिक्त काव्यशास्त्र से सम्बद्ध इनका एक अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध है–चित्रमीमासा-खण्डन। इसमे अप्पय्यदीक्षित के अलकार-विषयक चित्रमीमांसा ग्रन्थ की कटु शैली में किन्तु यथार्थ आलोचना प्रस्तुत की गयी है।



: २ :

संस्कृत-काव्यशास्त्र का अवलोकन

संस्कृत का काव्यशास्त्र विकास-बद्ध सिद्धान्तो का एक अमर कोष है। सम्भवत: उधर तीसरी-दूसरी शती ई० पू० से लेकर इधर सत्रहवी शती ई० पर्यन्त इसके सिद्धान्तो में निरन्तर, कभी तीव्र और कभी मन्द गतिमय, विकास होता रहा। काव्यविधान की जो अवस्था रसवादी भरत के समय—सम्भवत. तीसरी-दूसरी शती ई० पू० अथवा दूसरी-तीसरी ई० मे रही होगी, वह अलकार को काव्य-सर्वस्व मानने वाले भामह और दण्डी के समय, छठी-सातवी शती ई० मे, परिवर्तित हो गयी। इनके अनुसार रस 'अलकार' का ही एक रूप मान लिया गया।

आगे चलकर नवी शती मे एक साथ तीन प्रवल काव्यचार्यो का आविर्भाव हुआ। इनमें से वामन ने 'रीति' का समर्थन करते हुए, और इसे काव्य की आत्मा घोपित करते हुए अलंकार तथा रस को गौण स्थान दिया, और उद्‌भट ने अलकारवाद का प्रवल समर्थन किया। इनके अतिरिक्त आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिष्ठापन कर काव्यशास्त्र को एक नयी दिशा की ओर मोड दिया। यही कारण है कि आनन्दवर्द्धन को इस शास्त्र का युग-प्रवर्त्तक कहा जाता है, और सम्पूर्ण काव्यशास्त्र को इन्ही के ध्वनि-सिद्धान्त के आधार पर तीन कालो में विभक्त किया जा सकता है: (१) ध्वनि-पूर्ववर्ती काल, (२) ध्वनि-काल अथवा आनन्दवर्द्धन-काल और (३) ध्वनि-परवर्ती काल।

इनके पश्चात् पूरे दो सौ वर्ष तक विभिन्न काव्यशास्त्री ध्वनि-सिद्धान्त का विरोध करते रहे। धनंजय (दसवी शती) ने इसे 'तात्पर्य' में अन्तर्भूत किया, कुन्तक (दसवी-ग्यारहवी शती) ने 'वक्रोक्ति' में, और महिमभट्ट (ग्यारवी शती) ने अनुमान में। परन्तु मम्मट (ग्यारहवी शती) ने अपने गम्भीर विवेचन द्वारा ध्वनि-विरोधियो का समर्थ शैली में खण्डन प्रस्तुत कर ध्वनि-सिद्धान्त की अकाट्य रूप से स्थापना की, और इसके प्रति आस्था उत्पन्न कर

दी। यह आस्था अगली छ. शताब्दियों तक निरन्तर बनी रही। यहाँ तक कि अलंकार को काव्य का अनिवार्य अग स्वीकृत करने वाले जयदेव (तेरहवी शती) ने भी अपने ग्रन्थ मे ध्वनि-प्रकरण को स्थान दिया, ध्वनि के स्थान पर रस को काव्य की आत्मा घोपित करने वाले विश्वनाथ ने न केवल ध्वनि-प्रकरण का निरूपण किया, अपितु रस को ध्वनि का ही एक भेद माना। सस्कृत के अन्तिम प्रकाण्ड आचार्य जगन्नाथ ने भी ध्वनि-सिद्धान्त का पूर्ण समर्थन किया।

मम्मट से पूर्व और इनके पश्चात् अनेक आचार्यो ने संग्रह-ग्रन्थो का भी निर्माण किया। इस दिशा मे मम्मट से पूर्ववर्ती आचार्यो में रुद्रट, भोज और अग्निपुराणकार का नाम उल्लेखनीय है, और परवर्ती आचायो में जयदेव तथा विश्वनाथ के अतिरिक्त हेमचन्द्र, वाग्भट प्रथम, वाग्भट द्वितीय, विद्याधर, विद्यानाथ, केशव मिश्र और कविकर्णपूर का। मम्मट-परवर्ती प्राय. सभी आचार्यो पर मम्मट का विशिष्ट प्रभाव है। इन सभी आचार्यो ने काव्य के प्रायः सभी अगो को अपने ग्रन्थो मे समाविष्ट किया है।

इन संग्रहकर्त्ता आचार्यो के अतिरिक्त दो अन्य आचार्य उल्लेखनीय है—भानुमिश्र और अप्पय्यदीक्षित। भानुमिश्र ने दो ग्रथो का निर्माण किया। इनमे से रसतरंगिणी का सम्बन्ध रस के साथ है, और रसमजरी का नायक-नायिका-भेद के साथ। अप्पय्यदीक्षित के तीन ग्रथो में से 'वृत्तिवार्त्तिक' शब्दशक्ति-विषयक ग्रन्थ है, और 'कुवलयानन्द' तथा 'चित्रमीमांसा' अलकार से सम्बद्ध ग्रन्थ है।

●

संस्कृत के आचार्यों ने काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो के अतिरिक्त नाटच-शास्त्रीय सिद्धान्तो का भी समय-समय पर सर्जन किया। भरत के 'नाटच-शास्त्र' की व्यापक, विस्तृत और बहुविध विपय-सामग्री यह मानने को बाध्य करती है कि यह ग्रन्थ नाट्यविधान-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थो की अनेक शताब्दियो से प्रचलित परम्परा का सुपरिणाम है। भरत के पश्चात् यह परम्परा बन्द-सी हो गयी। इसका सम्भव कारण यह प्रतीत होता है कि काव्यविधान' के उत्तरोत्तर गम्भीर निर्माण ने आचार्यो को उस दिशा से विमुख-सा कर दिया। इनके लगभग तेरह-चौदह सौ वर्ष उपरान्त धनंजय, सागरनन्दी, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, शारदातनय और शिगभूपाल ने प्रमुखतः नाटचशास्त्रीय ग्रन्थों का निर्माण कर इस काव्याग का पुनरुद्धार किया। सर्वांग-निरूपक आचार्यों मे अकेले विश्वनाथ ने धनजय के ग्रन्थ से प्रेरणा प्राप्त कर नाट्यविधान को भी अपने ग्रन्थ में सम्मिलित किया।

हमारे विचार में नायक-नायिका-भेद का विषय काव्यशास्त्र की अपेक्षा नाट्यशास्त्र से ही अधिक सम्बद्ध है। यही कारण है कि उक्त सभी नाट्य-शास्त्रकारो ने इस प्रसग का भी निरूपण करना आवश्यक समझा है। इनके अतिरिक्त रुद्रट, रुद्रभट्ट,भोज, अग्निपुराणकार, भानुमिश्र, रूपगोस्वामी, और अकबरशाह के ग्रन्थो का प्रधान विषय ही नायक-नायिका-भेद है।

काव्यसिद्धान्त और नाट्यसिद्धान्त के अतिरिक्त सस्कृत-काव्यशास्त्र का तीसरा प्रधान विषय है—कविशिक्षा। राजशेखर, वाग्भट द्वितीय, क्षेमेन्द्र, अमरचन्द और देवेश्वर ने अपने ग्रन्थों में अन्य काव्यागो के साथ इसे भी निरूपित किया है।



उक्त मौलिक आचार्यों के अतिरिक्त टीकाकारो का भी इस दिशा मे योगदान कुछ कम नही है। भरत के प्राचीन व्याख्याताओ मे उद्भट, लोल्लट, शकुक, भट्टतौत (तोत), भट्टनायक और अभिनवगुप्त के नाम उल्लेखनीय है। इनमे से केवल अभिनवगुप्त की टीका 'अभिनवभारती' उपलब्ध है। अन्य टीकाकारो का इसी टीका में उल्लेख मिलता है। उद्भट ने संभवतः भामह के ग्रन्थ की भी टीका 'भामह-विवरण' नाम से प्रस्तुत की थी। दण्डी का प्रसिद्ध टीकाकार तरुण वाचस्पति है। उद्भट के दो टीकाकार है—राजानक तिलक और प्रतिहारेन्दुराज। वामन का प्रसिद्ध टीकाकार गोपेन्द्रत्रिपुर हरभूपाल है। आनन्दवर्द्धन के टीकाकारों मे अभिनवगुप्त का नाम उल्लेखनीय है। इस टीका का नाम 'लोचन' है। धनंजय का टीकाकार धनिक है, और महिमभट्ट का रुय्यक। मम्मट के ग्रन्थ के लगभग सत्तर टीकाकार बताये जाते है, जिनमें से प्रख्यात एव उद्भावक टीकाकार गोविन्दठक्कुर है। विश्वनाथ के प्रसिद्ध टीकाकार रामचरण तर्कवागीश और शालग्राम है, और जगन्नाथ का टीका-कार नागेश भट्ट है। इन टीकाकारो के गम्भीर प्रौढ़ एवं तर्कसम्मत व्याख्यान-विवेचन ने काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो के परीक्षण, पोषण एवं परिवर्द्धन मे, तथा इनसे सम्बद्ध समस्याओ को सुलझाने में महत्त्वपूर्ण एव प्रशसनीय सहायता दी है। इन टीकाकारों मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य अभिनवगुप्त का है, अतः इन्हे आचार्य-पद से विभूषित किया जाता है।



समग्र काव्यशास्त्रीय वर्ण्य-विषय को दृष्टि में रखते हुए काव्यशास्त्र के दश अग माने गये है। इन्हे काव्यशास्त्रीय अग न कहा जाकर सुविधा

के लिए 'काव्यांग' कहा जाता है। इनकी निर्धारित नामावलि संस्कृत के प्रामाणिक काव्यशास्त्रो में हमे एकत्र उपलब्ध नही होती। फिर भी इन की संख्या इस प्रकार पूरी की जा सकती है—(१) काव्यस्वरूप [काव्यलक्षण, काव्यभेद, काव्यप्रयोजन, और काव्यहेतु], (२) शब्दशक्ति, (३) ध्वनि, (४) गुणीभूत-व्यंग्य (५) दोष, (६) गुण, (७) रीति, (८) अलंकार (९) नाट्यविधान और (१०) छन्द। इनके अतिरिक्त दो काव्यांग अन्य भी है—रस तथा नायक-नायिका-भेद। परन्तु रस का अन्तर्भाव ध्वनि में किया जा सकता है, और नायक-नायिका-भेद का रस मे। किन्तु सामान्यत: इन दोनो का निरूपण स्व-तन्त्र रूप से किया जाता है। 'रस' का इसलिए कि यह न केवल ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट भेद है, अपितु इसलिए भी कि विश्वनाथ आदि द्वारा इसे काव्य की 'आत्मा' के रूप में स्वीकृत किया गया है। 'नायक-नायिका-भेद' का इसलिए कि यह प्रसंग कलेवर एवं भेदोपभेदो की दृष्टि से इतना अधिक व्यापक एवं दीर्घ है कि रस के अन्तर्गत इसे स्थान देने से रस जैसे महत्त्वपूर्ण अंग के आच्छादित हो जाने की आशंका रहती है। यद्यपि इस प्रकार इन काव्यांगो की संख्या १२ होनी चाहिए, किन्तु फिर भी काव्यांग दश ही माने जाते है। अधिकाश आचार्यो ने छन्दोविधान को अपने ग्रन्थो में स्थान नही दिया। नाट्य-विधान का भी अधिकाश काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो में निरूपण नही हुआ। केवल विश्वनाथ ही ऐसे प्रख्यात आचार्य है जिन्होने इसका निरूपण किया है, किन्तु इन्होने भी दस काव्यागो की ही प्रकारान्तर से स्वीकृति करने के लिए मानो नायक-नायिका-भेद को रस-प्रकरण के अन्तर्गत निरूपित कर दिया है। अस्तु।



संस्कृत के प्रमुख आचार्यो का उद्देश्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रति-पादन एव उनका उत्तरोत्तर विकास करना था। इसके लिये उन्होने लक्ष्य-ग्रन्थो का आधार ग्रहण करते हुए प्राय. उदाहरण इन्ही ग्रन्थो से प्रस्तुत किये। यद्यपि दण्डी, जयदेव और जगन्नाथ जैसे आचार्यो ने स्वनिर्मित उदाहरण प्रस्तुत किये है, किन्तु ऐसे आचार्यो की सख्या नगण्य है। शब्दशक्ति, ध्वनि, रस, नायक-नायिका-भेद, अलकार, रीति और दोप के भेदोपभेदो की उत्तरोत्तर वर्द्धमान सख्या इस तथ्य का सवल प्रमाण है कि लक्ष्य-ग्रन्थो की ही तद्युगीन आलोचना के आधार पर वे काव्यांगो के कारो में भी वृद्धि करते चले गये। हाँ, यदि कुन्तक और जयदेव ने अलंकारो की संख्या को कम किया, अथवा मम्मट

वस्तुत: इनमे से केवल रस-सिद्धान्त का ही प्रश्न विवादास्पद है। शेप चारो का क्रम इनके प्रवंतको के काल-क्रमानुसार नियत है—अलकारसिद्धान्त के उपरान्त रीतिसिद्धान्त और इनके उपरान्त ध्वनिसिद्धान्त और वक्रोक्तिसिद्धान्त।

रससिद्धान्त को स्वीकृत करने वाले प्रमुख आचार्य हैं—भरत, अग्निपुराणकार, भोजराज और विश्वनाथ। इनमें से अन्तिम दो तो आनन्दवर्द्धन के परवर्ती है। जहाँ तक अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय भाग का सम्बन्ध है, इसकी तुलना अन्य काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो से करने पर हम निश्चयपूर्वक इस परिणाम पर पहुँचते है कि इसकी रचना भी आनन्दवर्द्धन के वाद हुई है। शेष रहे भरत। हमारा विचार है कि भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र के षष्ठ और सप्तम अध्याय का प्रणयन, जिनमे क्रमश रस और भाव का निरूपण हुआ है, या तो भामह और दण्डी के उपरान्त हुआ है, या यदि इनसे पहले इन अध्यायो का प्रणयन हो भी चुका था, तो ये दोनो आचार्य किसी कारणवश इनका अध्ययन नही कर सके—शायद ये उन्हे उपलब्ध ही न हुए हो। हाँ, ये दोनो आचार्य 'रस' नामक काव्यतत्त्व से परिचित अवश्य थे। सम्भवत उन्हे यह परिचिति विद्वद्गोष्ठियो द्वारा मिली हो, क्योकि इन गोष्ठियो मे रस जैसे गम्भीर तत्त्व पर विचार-विमर्श एव चिन्तन अवश्य होता होगा। किन्तु भामह और दण्डी भरत-प्रस्तुत रस तथा भाव-विषयक चर्चा से परिचित प्रतीत नही होते, अन्यथा इस चर्चा से परिचित रहते हुए इसका यथावत् एव सम्यक् उल्लेख न करना इन दोनो, विशेषत भामह जैसे प्रौढ आचार्य, के लिए नितान्त असम्भव था। भरत-प्रस्तुत रस-विषयक चर्चा इतनी व्यापक, स्वच्छ एव उपादेय है कि कोई भी काव्यशास्त्री चाहे कितना भी पूर्वाग्रह-ग्रस्त क्यो न हो, इससे प्रभावित हुए विना, और शायद इसका उल्लेख किये विना भी, नही रह सकता।

यह कहा जा सकता है कि भामह अलंकारवादी आचार्य था। अतः भरत-प्रस्तुत रस का अन्तर्भाव उसने अलकार मे किया, किन्तु हमारे विचार मे विद्वद्-गोष्ठियो द्वारा रस के जिस सामान्य स्वरूप से वह अवगत हुआ, उसी के आधार पर उसने अपनी यह मान्यता प्रस्तुत कर दी, किन्तु यदि वह भरत द्वारा प्रस्तुत रस-विपयक विशिष्ट चर्चा से परिचित होता तो शायद ऐसी भूल न करता। इसके अतिरिक्त भरत कोई विशिष्ट आचार्य भी तो नही माने जाते। वे सम्भवतः एक सग्रहकर्त्ता है जिन्होने समय-समय पर निर्मित एव निश्चित नाट्यशास्त्रीय [तथा कतिपय काव्यशास्त्रीय] चर्चाओ, मान्यताओ एव धारणाओ का सकलन प्रस्तुत कर दिया। इसी तथ्य के स्वीकार कर लेने पर

तो यह मान लेने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिये कि रस-भाव-विषयक दोनो अध्याय भामह के उपरान्त सकलित हुए होगे । भामह से पहले नाट्यशास्त्र में उपलब्ध रस-भाव के प्रसंग प्रणीत हो चुके थे अथवा नही—इस सम्बन्ध में निश्चय-पूर्वक कुछ कह सकना कठिन है, परन्तु यह निश्चित है कि भामह और दण्डी [और शायद उद्भट भी] इन स्थलो का अध्ययन नही कर सके । हाँ रस-सिद्धान्त आनन्दवर्द्धन के समय पूर्णतः प्रचलित हो चुका होगा, जिसे कि इन्होने ध्वनि पर ही आधारित किया, तथा उसे इसी का ही एक उपभेद माना। आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त के बीच के काल मे तो इस विषय पर जमकर विचार किया गया । लोल्लट, शकुक, नायक, तौत (तोत) जैसे मर्मज्ञ एव गम्भीर व्याख्याता इसी काल की उपज है । अस्तु ! इन सिद्धान्तो का कालानुसार क्रम इस प्रकार होना चाहिए—अलकार, रीति, रस, ध्वनि और वक्रोक्ति । किन्तु अन्ततः ध्वनिसिद्धान्त ही स्वीकृत रहा, और ध्वनि के ही एक प्रभाग-स्वरूप रस की प्रतिष्ठा तथा इसके प्रति समादर की भावना किसी भी समय किसी भी रूप में कम नही हुई ।

●

निरूपण-शैली की दृष्टि से देखें तो संस्कृत के कुछ आचार्यो ने केवल 'पद्यात्मक शैली' को अपनाया है । इस दिशा मे भरत, भामह, दण्डी, उद्भट रुद्रट, धनजय, वाग्भट प्रथम, जयदेव, अप्पय्यदीक्षित आदि के नाम उल्लेख्य है । भरत ने कुछ स्थलो पर गद्य का भी आश्रय लिया है । सस्कृत के आचार्यो की दूसरी निरूपण-शैली 'सूत्र-वृत्ति शैली' है । वामन और रुय्यक के शास्त्रीय सिद्धान्त सूत्रबद्ध हैं, और सूत्रो की वृत्ति गद्यात्मक है । उदाहरणो के लिए इन्होने पद्य का आश्रय लिया है । इनसे मिलती-जुलती शैली वाग्भट द्वितीय, भानुमिश्र, जगन्नाथ और अकबरशाह की है । तीसरी 'कारिका-वृत्ति शैली' है । आनन्दवर्द्धन, कुन्तक, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ आदि ने इसी शैली को अपनाया है । इनके प्रमुख शास्त्रीय सिद्धान्त कारिकाबद्ध हैं, उनकी व्याख्या गद्यबद्ध वृत्ति मे है, और उदारण पद्यात्मक है ।



ने अलंकार-दोषों को नितान्त अस्वीकृत किया तो उनका आशय इन सब का स्वसम्मत काव्यागो में ही अन्तर्भाव करना था, इन्हे लक्ष्य-ग्रन्थों में अस्वीकृत करना उनको अभीष्ट न था । सस्कृत के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त धीरे-धीरे विकसित एवं खण्डित-मण्डित होते-होते आनन्दवर्द्धन और तदुपरान्त मम्मट के समय तक इतना प्रौढ तथा स्थिर बन गये, कि विभिन्न काव्यसम्प्रदायों अथवा काव्य-सिद्धान्तो की भी परिगणना की जाने लगी ।

काव्यशास्त्रीय विचार-परम्परा पांच सिद्धान्तो में विभक्त की जाती है । अलंकारसिद्धान्त, रीतिसिद्धान्त, ध्वनिसिद्धान्त, वक्रोक्तिसिद्धान्त और रस-सिद्धान्त । इन सिद्धान्तो मे से किसे काव्य-सम्प्रदाय माना जाए, यह एक विचारणीय प्रश्न है । 'सम्प्रदाय' शब्द से वह सिद्धान्त अभिहित किया जाना चाहिए जिसका आगे चलकर अन्य आचार्यो द्वारा अनुकरण एव अनुगमन हुआ हो, तथा उसकी मान्यताओ का विवेचन एव परिवर्द्धन हुआ हो । इस दृष्टि से अलकार, ध्वनि और रस-सिद्धान्त तो 'सिद्धान्त' कहाने के साथ-साथ सम्प्रदाय कहाने के भी अधिकारी है, किन्तु रीति और वक्रोक्ति-सिद्धान्त इसके अधिकारी नही है, क्योकि न तो किसी आचार्य ने वामन तथा कुन्तक के इन सिद्धान्तो का अनुकरण किया, और न किसी ने इनसे सम्बद्ध धारणाओ एव मान्यताओ का विकास एव परिवर्द्धन ही प्रस्तुत किया, वरन् इनका ध्वनि एव रसवादियो द्वारा खण्डन ही किया गया । इनके विपरीत भामह के अलंकारसिद्धान्त का अनुमोदन, विकास तथा परिवर्द्धन दण्डी और उद्भट द्वारा किया गया, और आनन्दवर्द्धन के ध्वनि-सिद्धान्त का मम्मट और जगन्नाथ जैसे मर्मवेत्ता आचार्यो द्वारा । रससिद्धान्त भरत, अग्निपुराणकार, भोजराज और विश्वनाथ जैसे प्रख्यात आचार्यो के अतिरिक्त अन्य अनेक आचार्यो द्वारा स्वीकृत एवं विकसित हुआ । अस्तु ! वामन के रीति-सिद्धान्त और कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त को यद्यपि 'सम्प्रदाय' नाम नही दे सकते, फिर भी अनेक कारणो से इनका निजी महत्त्व है । एक प्रत्यक्ष कारण तो यह है कि यह दोनो सिद्धान्त काव्य के बाह्यपक्ष के स्वरूप-प्रतिपादक हैं । बाह्य पक्ष आन्तरिक पक्ष की अपेक्षा निस्सन्देह न्यून कोटि का सही, किन्तु त्याज्य एवं उपेक्षणीय किसी भी मे रूप नही होता ।

●

उक्त पांच सिद्धान्तों के अतिरिक्त इसी प्रसग मे औचित्य-सिद्धान्त का भी उल्लेख किया जाता है । किन्तु वस्तुत यह कोई अलग सिद्धान्त न होकर विभिन्न काव्यांगो को परिष्कृत एवं उपादेय बनाने का हेतु मात्र है ।

अलंकार आदि पांच काव्य-सिद्धान्तो के प्रवर्त्तक एव अनुमोदक या तो अपने मान्य सिद्धान्त के अन्तर्गत अन्य काव्यांगो को समाविष्ट करते है—जैसे अलंकारवादी एवं वक्रोक्तिवादी, या अन्य काव्यांगों को अपने मान्य सिद्धान्त के परिपोषक रूप में स्वीकृत करते है—जैसे रस एवं ध्वनिवादी, किन्तु 'औचित्य' नामक काव्य-तत्त्व के प्रवर्तक क्षेमेन्द्र इनमे से किसी भी प्रवृत्ति को नही अपनाते। वे सभी काव्यांगो को स्वीकार करते हुए केवल उनके औचित्यपूर्ण प्रयोग पर ही बल देने के पक्ष मे है। उदाहरणार्थ, गुण और अलकार के सम्बन्ध में उनका कथन है कि 'अलकार और गुण अपने उचित प्रयोग के कारण ही इन्ही नामो से अभिहित होते है अन्यथा नही।'[1] अलकार और गुण की स्थिति को क्षेमेन्द्र भी वैसा ही स्वीकार करते है जैसा रस एवं ध्वनिवादी स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार उन्ही के समान वे भी काव्य को 'रससिद्ध' मानने के पक्ष में है। पर हाँ, ऐसे 'रससिद्ध' काव्य का स्थिर जीवित औचित्य ही है।[2] दूसरे शब्दो मे, काव्य का प्रधान तत्त्व रस है, और उसका 'जीवित' है औचित्य। यहाँ 'जीवित' शब्द से तात्पर्य है—किसी काव्यांग को उपादेय बनाने का हेतु। केवल गुण, अलकार और रस ही नही, अपितु ऐसे अन्य २४ काव्य से सम्बद्ध तत्त्वो के विषय मे भी क्षेमेन्द्र की यही धारणा है कि उनका प्रयोग औचित्यपूर्ण होना चाहिए।[3] इसी पर आधारित रहकर ही अन्य काव्यांग अपने यथावत् रूप में प्रस्तुत हो सकते हैं अन्यथा नही। इस प्रकार 'औचित्य' वस्तुत कोई स्वतन्त्र वाद अथवा सिद्धान्त न होकर अन्य काव्यांगो को उपादेय बनाने का साधन मात्र है, और साध्य तो वे काव्यांग ही है। किन्तु इसके विपरीत उधर उक्त पाँचो काव्यसिद्धान्तो मे अलकार, वक्रोक्ति, रीति, रस तथा ध्वनि विभिन्न आचार्यो द्वारा स्वय साध्य माने जाते है, तथा अन्य काव्यांग इनके प्रति साधन रहते है। अत' 'औचित्य' को स्वतन्त्र सिद्धान्त मानना समुचित नही है।

●

इसी प्रसग से सम्बद्ध एक शका का समाधान का लेना अपेक्षित है। अलकारसिद्धान्त आदि पाँचो काव्य-सिद्धान्तो मे कालक्रम की स्थिति क्या है?

---

१. उचितस्थानविन्यासाद् अलकृतिरलंकृतिः।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा. गुणा.॥ औ० वि० च०—६

२. अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एवं गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥ वही—५

३. औचित्यविचारचर्चा ८-१०

वस्तुतः इनमे से केवल रस-सिद्धान्त का ही प्रश्न विवादास्पद है। शेप चारो का क्रम इनके प्रवंतको के काल-क्रमानुसार नियत है—अलकारसिद्धान्त के उपरान्त रीतिसिद्धान्त और इनके उपरान्त ध्वनिसिद्धान्त और वक्रोक्तिसिद्धान्त।

रससिद्धान्त को स्वीकृत करने वाले प्रमुख आचार्य है—भरत, अग्नि-पुराणकार, भोजराज और विश्वनाथ। इनमें से अन्तिम दो तो आनन्दवर्द्धन के परवर्ती है। जहाँ तक अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय भाग का सम्बन्ध है, इसकी तुलना अन्य काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो से करने पर हम निश्चयपूर्वक इस परिणाम पर पहुँचते है कि इसकी रचना भी आनन्दवर्द्धन के बाद हुई है। शेष रहे भरत। हमारा विचार है कि भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र के षष्ठ और सप्तम अध्याय का प्रणयन, जिनमे क्रमश रस और भाव का निरूपण हुआ है, या तो भामह और दण्डी के उपरान्त हुआ है, या यदि इनसे पहले इन अध्यायो का प्रणयन हो भी चुका था, तो ये दोनो आचार्य किसी कारणवश इनका अध्ययन नही कर सके—शायद ये उन्हे उपलब्ध ही न हुए हो। हाँ, ये दोनो आचार्य 'रस' नामक काव्यतत्त्व से परिचित अवश्य थे। सम्भवतः उन्हे यह परिचिति विद्वद्गोष्ठियो द्वारा मिली हो, क्योकि इन गोष्ठियो मे रस जैसे गम्भीर तत्त्व पर विचार-विमर्श एवं चिन्तन अवश्य होता होगा। किन्तु भामह और दण्डी भरत-प्रस्तुत रस तथा भाव-विषयक चर्चा से परिचित प्रतीत नही होते, अन्यथा इस चर्चा से परिचित रहते हुए इसका यथावत् एवं सम्यक् उल्लेख न करना इन दोनो, विशेपत भामह जैसे प्रौढ आचार्य, के लिए नितान्त असम्भव था। भरत-प्रस्तुत रस-विषयक चर्चा इतनी व्यापक, स्वच्छ एव उपादेय है कि कोई भी काव्यशास्त्री चाहे कितना भी पूर्वाग्रह-ग्रस्त क्यो न हो, इससे प्रभावित हुए विना, और शायद इसका उल्लेख किये विना भी, नही रह सकता।

यह कहा जा सकता है कि भामह अलंकारवादी आचार्य था। अतः भरत-प्रस्तुत रस का अन्तर्भाव उसने अलंकार मे किया, किन्तु हमारे विचार में विद्वद्-गोष्ठियो द्वारा रस के जिस सामान्य स्वरूप से वह अवगत हुआ, उसी के आधार पर उसने अपनी यह मान्यता प्रस्तुत कर दी, किन्तु यदि वह भरत द्वारा प्रस्तुत रस-विषयक विशिष्ट चर्चा से परिचित होता तो शायद ऐसी भूल न करता। इसके अतिरिक्त भरत कोई विशिष्ट आचार्य भी तो नही माने जाते। वे सम्भवत. एक सग्रहकर्त्ता हैं जिन्होने समय-समय पर निर्मित एवं निश्चित नाट्यशास्त्रीय [तथा कतिपय काव्यशास्त्रीय] चर्चाओ, मान्यताओ एव धारणाओ का सकलन प्रस्तुत कर दिया। इसी तथ्य के स्वीकार कर लेने पर

तो यह मान लेने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिये कि रस-भाव-विषयक दोनो अध्याय भामह के उपरान्त संकलित हुए होगे। भामह से पहले नाट्यशास्त्र मे उपलब्ध रस-भाव के प्रसंग प्रणीत हो चुके थे अथवा नही—इस सम्बन्ध में निश्चय-पूर्वक कुछ कह सकना कठिन है, परन्तु यह निश्चित है कि भामह और दण्डी [और शायद उद्भट भी] इन स्थलो का अध्ययन नही कर सके। हाँ रस-सिद्धान्त आनन्दवर्द्धन के समय पूर्णतः प्रचलित हो चुका होगा, जिसे कि इन्होने ध्वनि पर ही आधारित किया, तथा उसे इसी का ही एक उपभेद माना। आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त के बीच के काल मे तो इस विषय पर जमकर विचार किया गया। लोल्लट, शकुक, नायक, तौत (तोत) जैसे मर्मज्ञ एव गम्भीर व्याख्याता इसी काल की उपज है। अस्तु ! इन सिद्धान्तो का कालानुसार क्रम इस प्रकार होना चाहिए—अलकार, रीति, रस, ध्वनि और वक्रोक्ति। किन्तु अन्ततः ध्वनिसिद्धान्त ही स्वीकृत रहा, और ध्वनि के ही एक प्रभाग-स्वरूप रस की प्रतिष्ठा तथा इसके प्रति समादर की भावना किसी भी समय किसी भी रूप मे कम नही हुई।

●

निरूपण-शैली की दृष्टि से देखे तो सस्कृत के कुछ आचार्यो ने केवल 'पद्यात्मक शैली' को अपनाया है। इस दिशा मे भरत, भामह, दण्डी, उद्भट रुद्रट, धनंजय, वाग्भट प्रथम, जयदेव, अप्पय्यदीक्षित आदि के नाम उल्लेख्य है। भरत ने कुछ स्थलो पर गद्य का भी आश्रय लिया है। सस्कृत के आचार्यो की दूसरी निरूपण-शैली 'सूत्र-वृत्ति शैली' है। वामन और रुय्यक के शास्त्रीय सिद्धान्त सूत्रबद्ध हैं, और सूत्रों की वृत्ति गद्यात्मक हैं। उदाहरणो के लिए इन्होंने पद्य का आश्रय लिया है। इनसे मिलती-जुलती शैली वाग्भट द्वितीय, भानुमिश्र, जगन्नाथ और अकबरशाह की है। तीसरी 'कारिका-वृत्ति शैली' है। आनन्दवर्द्धन, कुन्तक, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ आदि ने इसी शैली को अपनाया है। इनके प्रमुख शास्त्रीय सिद्धान्त कारिकाबद्ध है, उनकी व्याख्या गद्यबद्ध वृत्ति में है, और उदारण पद्यात्मक है।



: ३ :

हिन्दी-रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ

[क] हिन्दी में प्रचलित 'रीति' शब्द की व्युत्पत्ति—

संस्कृत काव्यशास्त्र में 'रीति' शब्द एक काव्यांग-विशेष के रूप में व्यवहृत रहा है। सर्वप्रथम वामन (९ वी शती) ने इसका स्वरूप 'विशिष्टा पदरचना' निर्दिष्ट करते हुए इसे 'काव्य की आत्मा' घोषित किया। किन्तु आगे चलकर आनन्दवर्द्धन के समय में ध्वनि—विशेषतः रसध्वनि—को काव्य की आत्मा घोषित किये जाने पर अन्य काव्यांगों के समान 'रीति' की उक्त महत्ता नष्ट हो गयी, और अब वह रस की उपकर्त्री मात्र रह गयी। इस काव्यांग के अनेक भेदों में से सर्वाधिक प्रचलित तीन भेद हैं—वैदर्भी, गौडी और पाचाली 'रीति' के इस शास्त्रीय अर्थ का ग्रहण और विवेचन संस्कृत के आचार्यों के समान हिन्दी के आचार्यों ने भी किया है

किन्तु हिन्दी में 'रीति' शब्द का प्रयोग एक अन्य अर्थ में भी रीतिकाल के प्रवर्त्तक आचार्य चिन्तामणि के समय (१७ वी शती ई०) से ही होता आया है, और वह अर्थ है—काव्यरचना-पद्धति अथवा उसका निर्देशक शास्त्र। केशव तथा कुछ-एक रीतिकालीन आचार्यों ने इसी अर्थ में 'पन्थ' शब्द का भी प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ :

केशव : समुझैं बाला बालक हूं वर्णन पंथ अगाध।
चिन्तामणि : रीति सु भाषा कवित की बरनत बुध अनुसार।
मतिराम : सो विश्रब्धनवोढ यों बरनत कवि रसरीति।
भूषण : सुकविन हूं की कछु कृपा, समुझि कविन को पंथ।
देव : अपनी अपनी रीति के काव्य और कवि-रीति।
सुरतिमिश्र : बरनन मन रंजन जहाँ रीति अलौकिक होइ।
निपुन कर्म कवि कौ जु तिहि काव्य कहत सब कोइ।
सोमनाथ : छन्द-रीति समुझै नहीं बिन पिंगल के ज्ञान।

दास : (क) काव्य की रीति सिखी सुकवीन्ह सौं ।
(ख) अरु कछु मुक्तक रीति लखि, कहत एक उल्लास।
(ग) वंदौं सुकविन के चरण अरु सुकविन के ग्रंथ।
जाते कछु हौं हूँ लह्यो कविताई को पंथ ॥
दूलह · थोरे क्रम-क्रम ते कही अलंकार की रीति ।
पद्माकर . ताही को रति कहत है, रस-ग्रन्थन की रीति ।
बेनीप्रवीन . या रस अरु नव तरंग में, नव रस रीतिहिं देखि ।
अति प्रसन्न ह्वै ललन जी, कीन्ही प्रीति विसेखि ॥
प्रतापसाहि : कवित रीति कछु कहत हौं व्यंग्य अर्थ चित्त लाय ।

उपर्युक्त उद्धरणो से स्पष्ट है कि 'रीति' अथवा 'पथ' शब्द प्राय: अकेले प्रयुक्त नही हुए, अपितु इनके साथ कोई न कोई विशेषण प्राय संलग्न है—कवित-रीति, कवि-रीति, काव्य-रीति, छन्द-रीति, अलकार-रीति, मुक्तक-रीति, वर्णन-पन्थ, कवि-पन्थ और कविता-पन्थ । अत. 'रीति' शब्द काव्यशास्त्र अथवा काव्यशास्त्रीय विधान का वाचक न होकर व्यापक अर्थ मे विधान अथवा शास्त्रीय विधान का ही वाचक है ।

किन्तु हिन्दी में 'रीति-कवि' अथवा 'रीति-ग्रथ' में प्रयुक्त 'रीति' शब्द का सम्बन्ध काव्यशास्त्र के साथ ही स्थापित हो गया है, और यही कारण है कि मिश्रबन्धुओ ने 'रीतिकाल' का नाम 'अलकृत काल' रखते हुए भी इन कवियों के ग्रंथो को रीति-ग्रथ और उनके विवेचन को रीति-कथन कहा है । 'मिश्रबन्धु विनोद' मे एक स्थान पर रीति शब्द के तत्कालीन प्रयोग की बड़ी स्वच्छ व्याख्या की गयी है . "इस प्रणाली के साथ रीति-ग्रथो का भी प्रचार बढा और आचार्यता की वृद्धि हुई । × × × आचार्य लोग तो कविता करने की रीति सिखलाते है, मानो वह ससार से यह कहते है कि अमुकामुक विषय के वर्णनो मे अमुक प्रकार के कथन उपयोगी है और अमुक प्रकार के अनुपयोगी । ऐसे ग्रथों से प्रत्यक्ष प्रगट है कि वह विविध वर्णनो वाले ग्रथो के सहायक मात्र हैं न कि उनके स्थानापन्न ।"

तात्पर्य यह कि 'रीति' शब्द जैसा कि कुछ लोगो का विचार है, शुक्ल जी का आविष्कृत नही है । वह बहुत पहले से हिंदी में प्रयुक्त हो रहा था, इसीलिये तो शुक्ल जी ने कही भी उसकी व्याख्या करने की चेष्टा नही की । यह शब्द स्वयं इतना सुपरिचित था कि व्याख्या की आवश्यकता ही नहीं हुई । फिर भी' शुक्ल जी की शास्त्रनिष्ठ प्रतिभा ने ही उसे शास्त्रीय व्यवस्था एवं वैज्ञानिक विधान दिया, इसमे तनिक भी सदेह नही है । उनसे पूर्व 'रीति'

शव्द का स्वरूप निश्चित और व्यवस्थित नही था। ऐसे लक्षण-ग्रथो के लिए भी, जिनमे रीति-कथन तो नही है, परतु रीति-वन्धन निश्चित रूप से है, 'रीति' सज्ञा शुक्ल जी से पहले अकल्पनीय थी। शुक्ल जी ने वामन-सम्मत 'रीति' शव्द का कुछ अंशो मे अर्थ-संकेत ग्रहण करते हुए रीति को केवल एक 'प्रकार' न मानकर एक 'दृष्टिकोण' माना। यह उनकी विशेषता थी। उनके विधान में जिस कवि ने रीति-ग्रन्थ रचा हो केवल वही रीति-कवि नही है वरन् जिसका काव्य के प्रति दृष्टिकोण रीति-वद्ध हो वह भी रीति-कवि है। शुक्ल जी के उपरात कुछ आलोचको ने इस काल को 'रीति-काल' की अपेक्षा अलंकार-काल या शृंगार-काल कहना अधिक उपयुक्त माना, परन्तु हिंदी मे उनका अनुसरण नही हुआ। फलत. आज हिंदी के लगभग सभी विद्वान् आलोचक एव इतिहासकार केशव, विहारी, देव, पद्माकर आदि के काव्यविशेष को, जिसमें रचना-सम्वन्धी नियमो का विवेचन अथवा उन नियमो का वन्धन है, रीति-काव्य के ही नाम से पुकारते है।

यदि 'रीति' शव्द का हिन्दी मे प्रचलित इस विशिष्ट अर्थ का स्रोत संस्कृत के काव्यशास्त्रो से ढू ढने का प्रयास करे तो इधर-उधर से शायद कुछ सामग्री मिल जाए। उदाहरणार्थ, भोज ने 'पंथ' शव्द का प्रयोग किया है, और 'रीड् गतौ' धातु से रीति शव्द की व्युत्पत्ति स्वीकार कर इस शव्द को 'काव्यपथ' अथवा 'काव्यमार्ग' का पर्याय माना है। कुन्तक ने भी 'पथ' को रीति का पर्याय स्वीकार किया है। निस्सदेह इन दोनो आचार्यों के निम्नोक्त उद्धरणो में ये दोनो शव्द अपने पारिभापिक अर्थ में, काव्याग-विशेप के अर्थ मे, प्रयुक्त हुए है, न कि शास्त्रीय अथवा काव्यशास्त्रीय विधान के अर्थ मे, फिर भी 'रीति' का स्रोत ढू ढ निकालने मे उनका यह प्रयोग अप्रत्यक्ष सकेत अवश्य कर देता है :—

भोज—वैदर्भादिकृतः पन्था काव्ये मार्ग इति स्मृतः।
रीड् गताविति धातो सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते ॥
—स० क० भ० २।२७

कुन्तक—तत्र तस्मिन् काव्ये मार्गा पन्थानस्त्रयः सम्भवन्ति।
—व० जी० १।४४ वृत्ति

इन उद्धरणो में 'रीति' शव्द काव्य-मार्ग अथवा पन्थ का पर्याय होने से इस अर्थ का भी प्रकारान्तर से द्योतक अवश्य है कि आचार्यो द्वारा निर्दिष्ट जिस मार्ग पर गमन कर कविजन काव्य-निर्माण करते थे उसे भी 'रीति' कहते है। इस प्रकार हिन्दी मे उपर्युक्त प्रचलित अर्थ का—काव्यरचना-

पद्धति का—आधार भी संस्कृत-काव्यशास्त्र मे ढू ढा जा सकता है, किन्तु केवल प्रकारान्तर से, स्पष्ट रूप से नही। अस्तु !

'रीति' शब्द के इसी अर्थ के ही आधार पर हिन्दी-साहित्य के इतिहास का तीसरा काल 'रीतिकाल' नाम से प्रचलित हो गया।

[ख] हिन्दी-रीतिकालीन लक्षणवद्ध काव्य-ग्रन्थ—

ईसा की सत्रहवी शती के मध्य भाग मे सस्कृत की काव्यशास्त्रीय परम्परा के क्षीण होते ही इसे हिन्दी के आचार्यो ने अपना लिया। सस्कृत के अन्तिम प्रकाण्ड आचार्य जगन्नाथ और हिन्दी के प्रथम प्रतिनिधि आचार्य चिन्तामणि—ये दोनो समकालीन थे। वस्तुत. हिन्दी की काव्यशास्त्रीय परम्परा रीतिकाल से भी पूर्व ईसा की १६ वी शती के उत्तरार्द्ध से प्रारम्भ हो गयी थी। इस शती के पिछले ५० वर्षो में कृपाराम, सूरदास, नन्ददास, रहीम, मोहनलाल, सुन्दर आदि नायक-नायिका-भेद-सम्बन्धी ग्रंथो का और गोपा तथा करनेस अलंकार-सम्बन्धी ग्रन्थो का प्रणयन कर चुके थे। इनके अतिरिक्त केशव ने काव्य के लगभग सभी अगो का निरूपण किया था। १७वी शती का पूर्वार्द्ध, अर्थात् केशव के उपरान्त ५० वर्ष तक का समय, काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ-निर्माण की दृष्टि से नितान्त निष्क्रिय समझा जाता है। परन्तु यह धारणा तभी तक बनी रहेगी, जब तक इस काल में निर्मित काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की उपलब्धि नही होती। यह परम्परा इस अन्तराल मे भी विच्छिन्न नही हुई होगी। हाँ, यह अलग बात है कि इस कालखण्ड के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ संख्या की दृष्टि से अपेक्षाकृत अत्यल्प तथा साधारण कोटि के हो और सभवतः इसी कारण काल के कराल गर्त में लुप्त हो गये हो। अस्तु हिन्दी-काव्यशास्त्र की यह धारा वि० स० १७०० (सन् १६४३ ई०) के आसपास तीव्र वेग से प्रवाहित हुई, और लगभग वि० स० १९०० (सन् १८४३) तक निरन्तर चलती रही। इस काल के प्रवर्तक आचार्य चिन्तामणि है और अन्तिम आचार्य प्रतापसाहि। लगभग २०० वर्षो के इस दीर्घकाल में शतशत रीतिवद्ध ग्रन्थो का निर्माण हुआ।

ये रीतिवद्ध ग्रन्थ दो प्रकारों में विभक्त किये जाते है—लक्षण-लक्ष्यवद्ध और लक्ष्यवद्ध। इनमें से प्रथम प्रकार को 'लक्षण-वद्ध' अथवा 'काव्यशास्त्रीय' आदि ग्रन्थ भी कह सकते है। इन दोनो मे अन्तर यह है कि प्रथम प्रकार के ग्रन्थों मे विभिन्न काव्यागो का लक्षण प्रस्तुत करने के उपरान्त एक अथवा

एकाधिक लक्ष्य अर्थात् उदाहरण प्रस्तुत किये जाते है। उदाहरणार्थ, दास का काव्यनिर्णय। किन्तु इसके विपरीत द्वितीय प्रकार के ग्रन्थो में किसी काव्याग अथवा काव्य-तत्त्व का लक्षण ध्यान मे रखते हुए भी केवल लक्ष्य प्रस्तुत किया जाता है, लक्षण नही। उदाहरणार्थ—विहारी, मतिराम आदि की 'सतसइयाँ'। प्रस्तुत लेख मे लक्ष्यवद्ध (काव्यशास्त्रीय) ग्रन्थो के विवेच्य विषय एव प्रतिपादन-शैली पर प्रकाश डाला जाएगा।



विवेच्य विषय-सामग्री—रीतिकालीन लक्षण-बद्ध ग्रन्थो को हम तीन रूपो में विभक्त कर सकते हैं :—

१ रसनिरूपक ग्रन्थ : इनके अन्तर्गत नायक-नायिका भेद के ग्रन्थ भी सम्मिलित है। जैसे—सुधानिधि (तोष), रसराज (मतिराम), रसविलास तथा सुखसागर तरग(देव),रससाराश, शृगारनिर्णय(दास), रसप्रवोध (रसलीन), जगतविनोद (पद्माकर), नवरसतरग (बेनीप्रवीन,) व्यङ्ग्यार्थकौमुदी (प्रताप साहि), आदि।

२. अलकार निरूपक ग्रन्थ जैसे—भाषाभूषण(जसवन्तसिंह), ललितललाम तथा अलकार-पचाशिका(मतिराम),शिवराजभूषण (भूषण) अलकारचन्द्रोदय (रसिकसुमति), कर्णाभरण (गोविन्द कवि), कविकुलकण्ठाभरण (दूलह), पद्माभरण (पद्माकर), आदि।

३. विविध-काव्याङ्ग-निरूपक ग्रन्थ : जैसे—कविकुलकल्पतरु (चिन्तामणि), रसरहस्य(कुलपति), काव्यमजरी(पदुमन मास), काव्यरसायन अथवा शब्दरसायन (देव), काव्यसिद्धान्त (सूरति मिश्र), रसिकरसाल (कुमारमणि), काव्यसरोज (श्रीपति), रसपीयूषनिधि (सोमनाथ), काव्यनिर्णय (दास), काव्यविलास (प्रतापसाहि), आदि।

इन ग्रन्थो के निर्माता अपने शास्त्रीय विवेच्य विषय के लिए संस्कृत के काव्यशास्त्रो के ऋणी है। सस्कृत-काव्यशास्त्र मे काव्यविधान, नाट्यविधान तथा कविशिक्षा इन तीनों विषयो का विवेचन किया गया है, पर इधर रीतिकालीन रीतिग्रन्थो में अधिकांशत काव्यविधान को ही स्थान दिया गया है, शेष दो विषयो को नही। नाट्यविधान से सम्बद्ध हिन्दी का केवल एक ग्रन्थ उपलब्ध है—नारायणकृत नारायणदीपिका, तथा कविशिक्षा-सम्बन्धी उल्लेख भी शायद केवल एक ही ग्रन्थ केशव-प्रणीत कविप्रिया में उपलब्ध है, और यह ग्रन्थ भी रीतिपूर्व युग का है।

संस्कृत का काव्यशास्त्र समय समय पर रसवाद, अलंकारवाद, रीतिवाद, ध्वनिवाद तथा वक्रोक्तिवाद का समर्थन एव खण्डन-मण्डन प्रस्तुत करता रहा था। इधर हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य इन वादो के पचडे मे नही पड़े। इनमें से अधिकाश ने नायक-नायिका-भेद विपयक ग्रन्थो का प्रणयन किया है, कुछ ने अलकार-ग्रन्थो का, और कुछ-एक ने इन दोनों का। नायक-नायिका-भेद के लिए वे प्राय: भानुमिश्र के ऋणी है, तथा अलंकारों के लिए प्राय: अप्पय्यदीक्षित के। संस्कृत के ये दोनो आचार्य वस्तुत: किसी भी उपर्युक्त वाद अथवा सम्प्रदाय से सम्वद्ध नही थे। अत: इनके अनुकर्ता हिन्दी के आचार्यो को भी किसी वाद अथवा सम्प्रदाय का समर्थक कहना युक्तियुक्त नही होगा। हिन्दी के कतिपय आचार्यो ने विविधाग-निरूपक ग्रन्थो का भी निर्माण किया है, जिनकी सख्या अपेक्षाकृत अत्यल्प है। इस क्षेत्र में वे प्राय. मम्मट अथवा विश्वनाथ अथवा दोनों के ऋणी है। मम्मट ध्वनिवादी आचार्य थे और विश्वनाथ रसवादी। ये दोनो आचार्य काव्यशास्त्रीय अन्य वादो अथवा सम्प्रदायो से सम्यक् अवगत थे। उनसे अवगत रहकर इन्होने ध्वनिवाद अथवा रसवाद का निर्वाचन एव समर्थन किया था। इधर हिन्दी के आचार्य अलंकारवाद, रीतिवाद तथा वक्रोक्तिवाद से सम्यक् अवगत नही थे। अत. इनके लिए पांचो वादो मे से किसी एक वाद के निर्वाचन का प्रश्न ही उपस्थित नही होता। वस्तुत मम्मट के उपरान्त उनके ग्रन्थ काव्यप्रकाश का इतना अधिक प्रभाव एवं प्रचार हो गया था कि संस्कृत के आचार्य भी शताब्दियों पर्यन्त ध्वनि को छोड अन्य वादो की ओर प्राय. प्रवृत्त नही हो सके। हेमचन्द्र, वाग्भट प्रथम, वाग्भट द्वितीय, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, जगन्नाथ—ये सभी ख्यात आचार्य ध्वनिवाद के समर्थक है और अधिकाशत: मम्मट के अनुकारक रहे है। एक भी ऐसा आचार्य नही है जिसने अलकारवादी भामह, दण्डी और उद्भट का अनुकरण किया हो, अथवा जो रीतिवादी वामन अथवा वक्रोक्तिवादी कुन्तक का अनुगामी रहा हो। यहां तक कि जयदेव ने भी, जिन्हे अलकारवादी समझा जाता है, उक्त तीनो अलकारवादियो का अनुकरण नही किया। इस प्रकार मम्मट और फिर विश्वनाथ का अनुकरण करने की यही परम्परा सम्पूर्ण हिन्दी-रीतिकाल तक अक्षुण्ण बनी रही। इसी परम्परागत मार्ग का अवलम्बन करते हुए विविध-काव्यागनिरूपको मे से किसी ने मम्मट के समान ध्वनि का, तथा किसी ने विश्वनाथ के समान रस का समर्थन किया। पर इस समर्थन का उत्तरदायित्व इस बात पर इतना नही है कि वे किसी एक सिद्धान्त-विशेप के प्रति विवेचक बुद्धि से

उन्मुख हुए थे, अपितु इस बात पर अधिक है कि उन्होने मम्मट अथवा विश्वनाथ मे से किसी एक ग्रन्थ का आधार ग्रहण किया था। हिन्दी के प्रख्यात आचार्यों मे देव ने अलंकारो के लक्षणों के लिए दण्डी के ग्रन्थ से भी सहायता ली है, पर इसका कारण भी अलकारवाद का समर्थन नही है। एक कारण तो केशव का अनुकरण है, और दूसरा कारण सग्रह-प्रवृत्ति है। इन्होने अपने एक ग्रन्थ मे अलकारो के स्वरूप के लिए मम्मट और विश्वनाथ की सहायता ले ली है, तो दूसरे ग्रन्थ मे दण्डी की। निष्कर्ष यह है कि–

(१) नायक-नायिका-भेद निरूपक आचार्यों को यदि हम रसवादी आचार्य मान भी ले, तो इस कारण नही कि इन्होने विश्वनाथ के समान रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए रस की तुलना मे ध्वनि, वक्रोक्ति आदि को अपेक्षाकृत निम्न कोटि का काव्याग स्वीकृत किया है, अपितु इसलिए मानेगे कि इन्होने भानुमिश्र के समान रस-प्रकरण के एक व्यापक अंग—नायक-नायिका-भेद—का विस्तृत निरूपण प्रस्तुत किया है, जिससे प्रकारान्तर से इनकी प्रवृत्ति 'रसवाद' की ओर प्रतीत होती है।

(२) ठीक यही स्थिति अलकार-निरूपक आचार्यों की भी है। इन्हे यदि हम अलकारवादी मान लें तो इस दृष्टि से नही कि वे भामह, दण्डी एव उद्भट के समान अन्य काव्यांगो का अन्तर्भाव अलकार में करने के समर्थक है, अथवा वे अलंकार को 'काव्यशोभा' का पर्याय स्वीकृत करते हुए केवल इसी काव्याग को काव्यसर्वस्व मानते हैं, अपितु इसलिए मानेगे कि इन्होने जयदेव एवं अप्पय्यदीक्षित के समान 'अलकार' का विस्तृत निरूपण प्रस्तुत कर प्रकारान्तर से 'अलंकारवाद' की ओर अपनी प्रवृत्ति दिखायी है।

(३) इसी प्रकार विविधाग-निरूपक आचार्य 'ध्वनिवाद' अथवा 'रसवाद' से इसलिए सम्बद्ध समझे जाने चाहिएँ कि वे मम्मट अथवा विश्वनाथ के ग्रन्थो के ऋणी है, न कि इसलिए कि वे पाँचों वादो के सम्यक् ज्ञाता होकर किसी एक वाद को सर्वोत्कृष्ट समझने के कारण उसके समर्थक हो गये हैं।

(४) यदि इन्हे प्रकारान्तर से अलंकारवादी, ध्वनिवादी अथवा रसवादी मानना अभीष्ट न हो तो इन्हे केवल इन ग्रन्थों के उलथकार ही मानना चाहिए और वस। हमारी सम्मति मे वस्तुत. वे केवल उलथाकार ही है।



विषय-सामग्री का चयन—जहाँ तक विषय-सामग्री के चयन का प्रश्न है, इन्होने सरल मार्ग का अवलम्बन किया है। इसके लिए इन्होने कही संस्कृत-ग्रन्थो का सरल अनुवाद किया है, कही उसका भाव लेकर अपने सुबोध

शब्दो में ढाल लिया है और कही-कही वही शब्द प्रयोग करते हुए इधर-उधर हेरफेर कर उसे रूपान्तरित मात्र कर दिया है। सामग्री के निर्वाचन में भी इन्होने सरल मार्ग का अवलम्बन किया है। नायक-नायिका-भेद तथा अलंकार के निरूपको ने तो जानबूझ कर सरल विषय का चयन कर दुरूह शास्त्रार्थ एव जटिल समस्याओं से अवकाश पा ही लिया है, इधर विविधांग-निरूपको में भी यही प्रवृत्ति लक्षित होती है। गम्भीर शास्त्रार्थो से दूर रहकर इन्होने अधिकाशतः स्थूल विषय-सामग्री तक— काव्यागो तथा उनके स्थूल भेदोपभेदो के लक्षण एव उदाहरण-निर्माण तक—ही अपने रीतिकर्म को सीमित रखा है। जहाँ इन्होने सूक्ष्म और जटिल समस्याओ पर प्रकाश डालने का प्रयास किया भी है, वहाँ प्रायः ये असफल रहे है। इस धारणा की पुष्टि के लिए कुछ उदाहरण लीजिए

(१) काव्यलक्षण-प्रकरण में मम्मट के लक्षण का विश्वनाथ ने खण्डन किया है। इस प्रसंग को कुलपति और प्रतापसाहि के सिवा शायद किसी भी अन्य आचार्य ने अपने ग्रन्थ मे स्थान नही दिया। परन्तु कुलपति के ग्रन्थ में यह प्रसंग एकांगी और अपूर्ण रूप में है, तथा प्रतापसाहि के ग्रन्थ मे सर्वथा शास्त्रासम्मत और भ्रामक रूप में प्रस्तुत किया गया है।

(२) शब्दशक्ति-प्रकरण के अन्तर्गत तात्पर्य वृत्ति के प्रसग में अन्विताभिधानवादी और अभिहितान्वयवादी मीमासको के मतो को समझाने का किसी आचार्य को साहस नही हुआ। कुलपति ने इस प्रसंग को अवश्य छेड़ा है, पर पाठक उसमें उलझ कर रह जाता है। इसी प्रकार व्यजना-स्थापना जैसे गम्भीर प्रसग पर भी लेखनी चलाना इनकी सामर्थ्य से वाहर था।

(३) रस-प्रकरण में भरतसूत्र के चारो व्याख्याताओ के मन्तव्यो पर भी प्रकाश नही डाला गया। प्रतापसाहि इस मार्ग की ओर अवश्य वढ़े, पर कुछ दूर तक जाकर वापस मुड़ आये। जहाँ तक गये है, उसे भी साफ नही कर सके।

(४) गुण-प्रकरण में गुण और अलकार के पारस्परिक अन्तर पर कुछ-एक आचार्यो ने थोडा-वहुत प्रकाश डालने का प्रयास किया है, परन्तु वे उद्भट के मत को यथेष्ट रूप में प्रकाशित नही कर सके।

(५) दोष-प्रकरण के शास्त्रार्थ-प्रसंगो का नितान्त त्याग कर दिया गया है। केवल इतना ही नही, अपेक्षाकृत जटिल दोषो का स्वरूप भी निरूपित नही किया गया।

यद्यपि कुछ आचार्यों ने प्राचीन शास्त्रीय प्रसंगों में इधर-उधर नवीनता लाने का प्रयास किया है, पर उसमें वे प्रायः पूर्णतः सफल नही हुए। उदाहरणार्थ दास ने अलकारो को तथाकथित 'मूल' अलंकारो के अन्तर्गत वर्गीकृत किया है, पर यह वर्गीकरण न तो वैज्ञानिक है और न संगत। इसी प्रकार कुलपति की शान्तरस-सम्बन्धी नवीन धारणा भी पूर्णतः शास्त्र-सम्मत नही है।

देखा जाए तो रीतिकालीन विविधांग-निरूपक ग्रन्थों में एक भी ऐसा ग्रन्थ नही है जो काव्यप्रकाश अथवा साहित्यदर्पण का, जिनके आधार पर इनका निर्माण हुआ है, पूर्ण, शुद्ध और व्यवस्थित उल्था उपस्थित कर सके। एक क्यों, यदि इन सभी उपलब्ध-ग्रन्थो की सामग्री को समन्वित रूप में देखा जाए, तो भी सस्कृत-ग्रन्थों की सामग्री व्यवस्थित रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित नही होती। इनके नायक-नायिका-भेद-प्रकरण निस्सन्देह विशालकाय है। इन्होने भानुमिश्र और उसकी 'रसमंजरी' का नाम अमर कर दिया है। इनका उदाहरण-पक्ष सरस तथा शास्त्रसम्मत है, और जीवन के मार्मिक चित्रों का उद्घाटक भी, पर ऐसे प्रसंगो का भी शास्त्रीय पक्ष दुर्बल है। ऐसा एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नही है, जिसमें रसमजरी के समान नायक-नायिका के भेदोपभेदो के अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोषो से रहित लक्षण प्रस्तुत किये गये हो। यहा तक कि चिन्तामणि ने अकबरशाह-प्रणीत 'शृंगारमंजरी' के शास्त्रीय पक्ष का शब्दशः अनुवाद करने का प्रयास करते हुए भी इसे इतना अस्पष्ट बना दिया है कि इसे मूल पाठ के बिना समझ सकना असम्भव है।

इस प्रकार संस्कृत-काव्यशास्त्र की तुलना में हिन्दी का रीतिकालीन काव्यशास्त्र वर्ण्य विषय की दृष्टि से लगभग समान होता हुआ भी विषय की व्यापकता, शास्त्रीय विवेचना और प्रतिपादन-शैली की दृष्टि से शिथिल है, और इस शिथिलता का प्रधान कारण है उद्देश्य की भिन्नता। वहां लक्ष्य-ग्रन्थो को ध्यान में रखकर लक्षण-निर्माण प्रमुख उद्देश्य रहा है, यहाँ लक्ष्य-निर्माण को ही प्रमुख उद्देश्य बनाकर पूर्वनिर्मित लक्षणों का आधार ग्रहण किया गया है।

हाँ, अपने प्रमुख उद्देश्य में, उदाहरण-(लक्ष्य-) निर्माण में, ये आचार्य निस्सन्देह अत्यंत सफल रहे है। इन्होंने सरस उदाहरणो का एक अक्षय कोष सा तैयार कर दिया है। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से तो ये महत्त्वपूर्ण हैं ही, तत्कालीन सामाजिक, पारिवारिक एव गार्हस्थ्य जीवन पर भी इनके द्वारा पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। पर साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि इन ग्रन्थो में उदाहरणों की संख्या इतनी अधिक है कि इन्होंने अपना अनुपात खोकर शास्त्रीय विवेचन

को आच्छादित-सा कर दिया है। इस प्रकार ये ग्रन्थ लक्षण-ग्रन्थो की अपेक्षा लक्ष्य-ग्रन्थ ही अधिक वन गये है, और इसी आधार पर हम कह सकते है कि रीतिकालीन रीति-ग्रन्थकार वस्तुतः कवि पहले थे और आचार्य वाद में। उधर इनके विपरीत सस्कृत के काव्यशास्त्र-निर्माता, विशेषतः वे जिनका इन कवियों ने आधार ग्रहण किया है, केवल आचार्य थे, कवि नही थे।



प्रतिपादन-शैली—रीतिकालीन आचार्यों की प्रतिपादन-शैली पर प्रकाश डालने से पूर्व सस्कृत के आचार्यों की प्रतिपादन-शैली पर सामान्य रूप में दृष्टिपात करना आवश्यक है। इन आचार्यों की शैली को तीन प्रधान रूपो में विभक्त कर सकते है : पद्यात्मक शैली, सूत्रवृत्ति शैली और कारिका-वृत्तिशैली।

(क) पद्यात्मक शैली—सस्कृत के कुछ आचार्यों ने केवल पद्यात्मक शैली को अपनाया है। उदाहरणार्थ भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, वाग्भट प्रथम, जयदेव, अप्पय्यदीक्षित आदि के नाम उल्लेखनीय है। इनमें से भरत ने कुछ स्थलों पर गद्य का भी आश्रय लिया है।

(ख) सूत्रवृत्ति शैली—वामन और रुय्यक के शास्त्रीय सिद्धान्त सूत्रवद्ध है, और सूत्रों की वृत्ति गद्यात्मक है। उदाहरणो के लिए इन दोनों ने पद्य का आश्रय लिया है। इनसे मिलती-जुलती शैली भानुमिश्र, जगन्नाथ, अकवरशाह आदि की है।

(ग) कारिकावृत्ति शैली—आनन्दवर्द्धन, कुन्तक, मम्मट, विश्वनाथ आदि ने कारिका-वृत्ति शैली को अपनाया है। इनके प्रमुख शास्त्रीय सिद्धान्त कारिका-वद्ध है। उनकी व्याख्यात्मक विवेचना गद्यवद्ध वृत्ति में है, और उदाहरण पद्यात्मक है।

इधर हिन्दी के अधिकतर आचार्यों ने सामान्यत· प्रथम शैली को अपनाया है। वाग्भट प्रथम की प्रतिपादन-शैली के समान शास्त्रीय विवेचन के लिए इन्होने दोहा और सोरठा जैसे छोटे छन्दो का प्रयोग किया है, और उदाहरण के लिए प्राय कवित्त-सवैया जैसे वड़े छन्दो का। केशव, तोष, मतिराम, भूषण, देव, कुमारमणि भट्ट, भिखारीदास. दूलह, पद्माकर, वेनीप्रवीन आदि की प्रतिपादन-शैली यही है। जसवन्तसिंह की शैली इन आचार्यों से थोडी भिन्न है। इन्होने जयदेव के समान शास्त्रीय विवेचन और उदाहरण को प्राय· एक ही दोहे में समाविष्ट करने का प्रयास किया है। सूत्र-वृत्ति शैली में रचित हिन्दी का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही है। कारिकावृत्ति शैली

अभी इस विषय पर अत्यधिक कार्य करना शेष है।

—'रीतिकाल की भूमिका' के प्रकाशित होने के बाद सैद्धान्तिक शोध में एक युगान्तर उपस्थित हो गया। विषय-सामग्री का चिन्तनपरक व्यवस्थापन शोध का एक अनिवार्य तत्त्व है, और इसी तत्त्व से अधिकांशतः समन्वित हिन्दी का प्रथम सैद्धान्तिक शोध-ग्रन्थ 'रीतिकाल की भूमिका' है। यही कारण है कि इसीके ही लेखक द्वारा 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' जैसे अपेक्षाकृत कहीं अधिक प्रौढ एवं चिन्तनपरक ग्रन्थ की रचना के उपरान्त भी उक्त ग्रन्थ काव्यशास्त्र के शोधार्थियों, जिज्ञासुओं एवं विचारकों के लिए अत्यन्त विशिष्ट तथा ऐतिहासिक महत्त्व रखता है, तथा शोध के शैली-तत्त्वों से प्रथम वार अवगत करा देता है।

—'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' अपने नाम के अनुरूप एक इतिहास-ग्रन्थ के प्रायः सभी गुणों से सम्पन्न है। हिन्दी के प्राचीन एवं अर्वाचीन आचार्यों के ग्रन्थों तथा उनकी काव्यशास्त्र-विषयक धारणाओं एवं मान्यताओं का ऐतिहासिक क्रम से संक्षिप्त एवं स्वच्छ परिचय इस ग्रन्थ की विशेषता है। हिन्दी-रीतिकालीन रीति-परम्परा का भी एक साथ विस्तृत परिचायक प्रथम ग्रन्थ यही है। शिवसिंह सेंगर और यहां तक कि रामचन्द्र शुक्ल के रीतिकालीन प्रसंग इतिहास-ग्रन्थ की दृष्टि से इसकी तुलना में हलके पड़ जाते हैं।

—'हिन्दी साहित्य में अलंकार' नामक ग्रन्थ में अलंकार की दृष्टि से किया गया अध्ययन शोधार्थियों के लिए पर्याप्त उपयोगी है।

—'ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त' अपने विषय का पाण्डित्यपूर्ण तथा व्यवस्थित प्रबन्ध है। लेखक ध्वनि जैसे गम्भीर काव्यतत्त्व का मर्मज्ञ है, और उसे स्वच्छ एव ऋजु शैली में प्रतिपादित कर सकने मे भी पूर्णतः सक्षम है।

—'हिन्दी मे महाकाव्य का स्वरूप-विकास' अपने प्रकार का गम्भीर, स्वच्छ एव विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करता है।

—'हिन्दी मे हास्य रस' नामक ग्रंथ हास्यरस के शास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक विवेचन की दृष्टि से इतना अधिक महत्त्वपूर्ण नही है जितना कि हिन्दी मे इस रस के उदाहरण प्रस्तुत करने की दृष्टि से है। वस्तुतः सस्कृत-काव्यशास्त्र में भी हास्य रस का न तो गम्भीर विवेचन है और न उसमें प्रचुर सामग्री प्रस्तुत की गयी है। अतः सस्कृत का कोई उपजीव्य ग्रथ यदि उस विषय मे किंचिद् अंश तक शिथिल रह जाए जिसमें स्वय संस्कृत-साहित्य शिथिल हो तो ऐसी शिथिलता नगण्य है।

—'आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त' में शुक्ल जी के सिद्धान्तों का

स्रोत-निर्देश एवं विवेचनात्मक परीक्षण किया गया है। शुक्ल जी जैसे मर्मवेत्ता शास्त्रज्ञ एवं चिन्तक आचार्य की साहित्यशास्त्रीय मान्यताओं के परीक्षण के लिए एक गम्भीर पर्यवेक्षण-शक्ति की आवश्यकता है, नि.सन्देह इस ग्रन्थ के लेखक ने इसे प्रायः पूर्ण करने का प्रयास भी किया है, फिर भी शुक्ल जी जैसे आचार्य के गम्भीर सिद्धान्तो पर अभी कई शोध-ग्रन्थ लिखे जाने चाहिएं।

—'आधुनिक हिन्दी-कवियो के काव्य-सिद्धान्त' में 'भारतेन्दु' से लेकर 'दिनकर' पर्यन्त अनेक कवियो की रचनाओ में साक्षात् अथवा असाक्षात् रूप में उपलब्ध काव्यशास्त्रीय मान्यताओ का सम्यक् विवेचन किया गया है।

—'रससिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण' मे रस-विषयक प्रचुर सामग्री और उसका विवेचन एव अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है।

—'रसगगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' में पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा प्रतिपादित काव्यतत्त्वों का स्वच्छ एवं प्रौढ प्रतिपादन तथा विवेचन किया गया है।

—विहारी से सम्वद्ध उक्त दोनो प्रवन्ध शास्त्रीय विवेचन एव प्रतिपादनशैली दोनो दृष्टियो से अति स्वच्छ ग्रन्थ है।

—'हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य' मेरा विनम्र प्रयास है। अत· इसके विपय में मुझे स्वय कुछ नही कहना।

●

इन ग्रंथो के संक्षिप्त दिग्दर्शन के उपरान्त अव प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या उक्त शोध-ग्रन्थ अकेले-अकेले रूप मे अथवा एक साथ सभी मिलकर संस्कृत के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो का स्वस्थ, स्वच्छ तथा विशद परिचय देने में समर्थ है ? इसका उत्तर अभी तक तो 'न' मे ही मिलेगा, किन्तु काव्यशास्त्रीय अध्ययन मे जो रुचि, जिज्ञासा एव तत्परता आज का पाठक दिखा रहा है यह इसके उज्ज्वल भविष्य का सूचक है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उक्त सैद्धान्तिक शोध-ग्रथो से इतर कतिपय काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ [यद्यपि शोध-ग्रन्थ नही है, किन्तु वे] इस दिशा में कही अधिक उज्ज्वल पथ-प्रदर्शन कर रहे है। वर्तमान युग में श्री वलदेव उपाध्याय, डॉ० नगेन्द्र और आचार्य विश्वेश्वर के ग्रंथो का नाम इस दिशा में अत्यन्त गौरव एवं समादर के साथ लिया जाता है।



उपर्युक्त वर्गीकरण केवल 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' के आधार पर किया गया है, अन्यथा एक श्रेणी के आचार्यों की प्रवृत्ति दूसरी श्रेणी के आचार्यों में भी सरलतापूर्वक ढूंढी जा सकती है। अस्तु !

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य इनके अनुरूप उद्भावक तो है नही, वे व्याख्याता और कविशिक्षक भी नही है। इन्हें केवल संग्रहकर्ता आचार्यों के समकक्ष रखा जा सकता है, क्योकि इधर-उधर इन्होने जो कतिपय उद्भावनाए प्रस्तुत की है, वे या तो अति निम्न धरातल पर अवस्थित है, या फिर भ्रान्त है, यही स्थिति इनकी कविशिक्षा-विषयक चर्चाओ की भी है। ये व्याख्याता आचार्य भी नही है, क्योकि विवेचन-प्रतिभा की दृष्टि से मम्मट आदि से इनकी क्या तुलना ? हा, ये कोरे सग्रहकर्ता आचार्य है । इनमे से सर्वाङ्ग-निरूपक आचार्य हेमचन्द्र, वाग्भट प्रथम तथा द्वितीय, विद्याधर, विद्यानाथ आदि जैसे सामान्य कोटि के आचार्यो के समक्ष रखे जा सकते है। अलकार-निरूपक आचार्य जयदेव और अप्पय्यदीक्षित के आसपास ठहरते हैं, और नायक-नायिका-भेद-निरूपक आचार्य रुद्रभट्ट और भानुमिश्र के आसपास। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस श्रेणी के संस्कृत आचार्यों की अपेक्षा इनकी दो-तीन दृष्टियो से निस्सन्देह उच्चता है—विषय-सामग्री के विस्तार की दृष्टि से, उदाहरण-भाग के आधिक्य तथा वैविध्य की दृष्टि से, तथा हिन्दी-साहित्य-विषयक कतिपय उद्भावनाओ को प्रस्तुत करने की दृष्टि से। इन आचार्यो में परस्पर एक अन्तर और भी है। वे केवल आचार्य थे, ये आचार्य भी है और कवि भी। कवि पहले है और आचार्य बाद में। इनका उद्देश्य अपने ग्रन्थो द्वारा, उदाहरणो के माध्यम से, बहुविध सरस पद्य-निर्माण भी था, तथा साथ ही जिज्ञासु पाठकों, राजपुत्रो एव रसिक पारिषदो को कदाचित् काव्यशास्त्रीय शिक्षा देना भी। इस प्रकार ये आचार्य यदि 'कवि-शिक्षक' के रूप में ग्रहण किये भी जाएँ तो उस रूप में नही जिस रूप में उपर्युक्त अमरचन्द्र यति, देवेश्वर, राजशेखर आदि को माना जाता है, क्योकि न तो उनकी शैली में इन्होने किसी ग्रन्थ का निर्माण किया है, और न विषय-सामग्री के सयोजन की दृष्टि से ये उनके अनुरूप है। वस्तुत इन दोनो के दृष्टिकोण में विभिन्नता है। उन कविशिक्षको ने कवियो को शिक्षित करने के लिए 'कवि-समय' आदि से सम्बद्ध सामग्री का सकलन यथेष्ट मात्रा में किया था, और इधर इनमें से कुछ-एक ने ऐसी सामग्री प्रस्तुत की अवश्य है किन्तु अत्यन्त अल्पमात्रा में। उधर वे कवियों के शिक्षक है तो इधर ये काव्य-जिज्ञासुओ एव रसिकजनो के। अतः ये वस्तुतः

प्रकारान्तर से ही सामान्य कोटि के काव्यशास्त्र शिक्षक आचार्य माने जा सकते हैं—आचार्य भी नही अपितु आचार्य-कवि ।

स्थान-निर्धारण के प्रसंग में अगला प्रसंग यह उपस्थित होता है कि इनकी काव्यशास्त्र-विषयक किस सिद्धान्त में आस्था थी ? क्या यह अलकार-वादी, रीतिवादी अथवा वक्रोक्तिवादी आचार्य थे, या ध्वनिवादी अथवा रसवादी? इस सम्बन्ध में, जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया गया है, हमारा विचार है कि ये आचार्य किसी वाद से सम्बन्धित नही है (देखिये पृ० ४०) ।

इस प्रकार इन आचार्यो के सम्बन्ध में नि.संकोच एव स्पष्टतः कहा जा सकता है कि इन्होने भारतीय काव्यशास्त्र के विकास मे कोई योगदान नही दिया । हिन्दी के वर्तमान काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो के निर्माण में भी इनका कोई योगदान नही है—यह भी स्पष्ट है, क्योकि आज का समालोचक या तो सस्कृत-ग्रन्थो से सहायता ले रहा है, या पाश्चात्य ग्रन्थो से । परन्तु फिर भी रीति-काल के इन आचार्यो का महत्त्व नगण्य नहीं माना जाएगा । वर्तमान आलोचना-शास्त्र और प्राचीन काव्यशास्त्र के बीच ये अनिवार्य कड़ी है । इनका गौरव इस तथ्य मे निहित है कि इस विशाल अन्तराल मे इन्होने सस्कृत-काव्यशास्त्र को हिन्दी में अवतरित कर काव्यजिज्ञासा एव अभिरुचि का निरन्तर परि-पोषण किया है, और सम्भवत. इसी परिपोषण का ही यह सुपरिणाम है कि यह अभिरुचि अभी तक न केवल अक्षुण्ण बनी रही है, अपितु उत्तरोत्तर वृद्धि पर है, जिससे काव्यशास्त्र-विषयक नूतन सामग्री सकलित भी हो रही है और नूतन सरणियो का द्वार भी उद्घाटित हो रहा है । इस दृष्टि से रीति-कालीन आचार्य-कवियो का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इधर, उदाहरण-पक्ष का व्यापक एव चमत्कृत रूप से निर्वाह करने में तो इनका योगदान किसी भी दृष्टि से कम नही है ।[1] इस दिशा मे वे सस्कृत-आचार्यों से साक्षात् अथवा असाक्षात रूप से प्रभावित होते हुए भी उनसे कहीं बहुत आगे बढ गये है ।

[ग] हिन्दी-रीतिकालीन उपलब्ध सामग्री के मूल स्रोत—

रीतिकालीन सैकड़ो, सम्भवत. हजारों, रीति-ग्रन्थो मे से इने-गिने ग्रन्थो को छोड़ कर शेष लुप्तप्रायः होने जा रहे है । चिन्तामणि का कविकुल-कल्पतरु, जसवन्तसिंह का भाषाभूषण, कुलपति का रसरहस्य, मतिराम का ललितललाम और रसराज, देव का शब्दरसायन, भूषण का शिवराज-भूषण, भिखारीदास का काव्यनिर्णय, पद्माकर का पद्माभरण और जगद्विनोद,

१. इस सम्बन्ध में अवलोकनार्थ: 'रीति-शृंगार' (डॉ० नगेन्द्र), तथा 'रीति-काव्यसंग्रह' (डॉ० जगदीश गुप्त)

प्रतापसाहि की व्यंग्यार्थकौमुदी आदि केवल ऐसे गिने-चुने ग्रन्थ ही आज शेष रह गये हैं। यद्यपि ये सभी ग्रन्थ प्रकाशित हैं पर भारत के कुछ-एक पुस्तकालयों में ही ये प्राप्य हैं। यह अवस्था तो उक्त प्रख्यात एवं प्रतिनिधि ग्रन्थों की है, ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं जो प्रकाशित हो जाने पर भी न केवल स्मृति से हट चुके है, अपितु प्रसिद्ध पुस्तकालयों तक में अप्राप्य है, और केवल थोडे से पुस्तकालयों एव संग्रहालयों में प्राचीन ऐतिहासिक पदार्थों के समान प्रदर्शनी की वस्तु बन गये हैं। इनके अतिरिक्त अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं, जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुए। पिछले कुछ वर्षों से कुछ रीति-ग्रन्थ पुनः प्रकाशित हो रहे हैं, और हस्तलिखित ग्रन्थ भी प्रकाशित किये जा रहे हैं। इस दिशा में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की 'आकार-ग्रन्थ-माला' का सत्प्रयास सराहनीय है। नीचे प्रकाशित तथा हस्तलिखित उपलब्ध रीति-ग्रन्थों की एक सूची दी जा रही है।[1] अप्रकाशित ग्रन्थों का प्राप्ति-स्थान तथा अप्राप्य ग्रन्थों की सूची भी प्रस्तुत की जा रही है :

[क] प्रकाशित ग्रन्थ

आचार्य-नाम (कालक्रमानुसार)	ग्रन्थ-नाम	प्रकाशक अथवा सम्पादक
केशवदास	कविप्रिया	नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ
		सं० लाला भगवानदीन
		सं० लक्ष्मीनिधि त्रिपाठी
		सं० हरिचरणदास
	रसिकप्रिया	वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
		सं० लक्ष्मीनिधि त्रिपाठी
	केशवग्रन्थावली	हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद
चिन्तामणि	कविकुलकल्पतरु	नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ
	शृंगारमंजरी	सं० डॉ० भगीरथ मिश्र
तोष	सुधानिधि	भारतजीवन प्रेस, काशी
जसवन्तसिंह	भाषाभूषण	मन्नालाल बनारस
		सं० ब्रजरत्नदास
		सं० गुलाबराय
		वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई

1. किन्तु इस सूची को किसी भी रूप में अन्तिम नहीं समझना चाहिए।

		रामचन्द्र पाठक, बनारस
		हिन्दी-साहित्य कुटीर बनारस
मतिराम	रसराज, ललितललाम	भारतजीवन प्रेस, काशी
	मतिराम-ग्रन्थावली	गगा पुस्तकालय, लखनऊ
रघुनाथ	रसिक मोहन	नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ
भूषण	शिवराजभूषण	नागरीप्रचारिणी सभा, बनारस
	भूषणग्रन्थावली	„
कुलपति	रसरहस्य	इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद
देव	शब्दरसायन	हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
	भवानीविलास	भारतजीवन प्रेस, काशी
	सुखसागर तरग	बम्बई बुकसेलर, अयोध्या
	रसविलास	भारतजीवन प्रेस, काशी
	भावविलास	तरुण भारत-ग्रन्थावली, प्रयाग
		भारतजीवन प्रेस, काशी
कुमारमणि	रसिकरसाल	विद्याविभाग, काकरोली
गोविन्द	कर्णाभरण	भारतजीवन प्रेस, काशी
रसलीन	रसप्रबोध	गोपीनाथ पाठक, काशी
		नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ
		भारतजीवन प्रेस, काशी
भिखारीदास	काव्यनिर्णय	बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
		भारतजीवन प्रेस, काशी
		गुलशने अहमद प्रेस, प्रतापगढ
	रससाराश, शृ गारनिर्णय	„
	भिखारीदास ग्रथावली	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
समनेस	रसिकविलास	दतिया राजपुस्तकालय, दतिया
रतन कवि	अलकारदर्पण	„
ऋषिनाथ	अलंकारमणिमजरी	आर्य यन्त्रालय, वाराणसी
रामसिंह	अलकारदर्पण	भारतजीवन प्रेस, काशी
दूलह	कविकुलकण्ठाभरण	दुलारेलाल भार्गव, लखनऊ
पद्माकर	पद्माभरण जगद्विनोद	भारतजीवन प्रेस काशी
	पद्माकर पचामृत	रामरत्न पुस्तक भवन, काशी
काशीराज	चित्रचद्रिका	नागरीप्रचारणी सभा, काशी

गिरिधरदास	भारतीभूषण	नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ
बेनी प्रवीन	नवरसतरग	स० कृष्णविहारी मिश्र
रसिक गोविन्द	रसिक गोविन्दानन्दघन	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
प्रतापसाहि	व्यंग्यार्थकौमुदी	भारतजीवन प्रेस, काशी
		वाराणसी सस्कृत-यन्त्रालय, काशी

[ख] हस्तलिखित प्राप्त ग्रन्थ

आचार्य-नाम	ग्रन्थ-नाम	प्राप्ति-स्थान
(कालक्रमानुसार)		
चिन्तामणि	शृगारमजरी	दतिया राजपुस्तकालय, दतिया
मतिराम	अलकारपचाशिका	आर्काइव्स लाइब्रेरी, पटियाला
	छदसारसग्रह(वृत्तकौमुदी)	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
		कैप्टेन शूरवीरसिंह (अतिरिक्त जिला अधिकारी), बुलन्दशहर
देव	रसविलास	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
	सुखसागरतरग	,,
	काव्यरसायन	सवाई महेन्द्र-पुस्तकालय, ओरछा
कालिदास	वधूविनोद	दतिया राजपुस्तकालय, दतिया
		कैप्टन शूरवीरसिंह (अतिरिक्त जिला अधिकारी), बुलन्दशहर
सूरति मिश्र	काव्यसिद्धान्त	सवाई महेन्द्र-पुस्तकालय ओरछा
कृष्णभट्ट देवऋषि	शृ गाररसमाधुरी	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
गोप कवि	रामचन्द्र भूषण	सवाई महेन्द्र-पुस्तकालय, ओरछा
		दतिया राजपुस्तकालय, दतिया
	रामचन्द्राभरण	सवाईमहेन्द्र पुस्तकालय, ओरछा
याकूब खाँ	रसभूषण	दतिया राजपुस्तकालय, दतिया
कुमारमणि	रसिकरसाल	सवाई महेन्द्र-पुस्तकालय, ओरछा
श्रीपति	काव्यसरोज	पं० कृष्णबिहारी मिश्र
		गधौली का पुस्तकालय लखनऊ
रसिक सुमति	अलंकारचन्द्रोदय	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
सोमनाथ	शृंगारविलास	,,

	रसपीयूषनिधि	सेठ कन्हैयालाल पोद्दार (निजी पुस्तकालय) मथुरा
		हिन्दी-साहित्यसमिति भरतपुर
		राजपुस्तकालय, भरतपुर
रसलीन	रसप्रबोध	सवाई महेन्द्र पुस्तकालय, ओरछा
भिखारीदास	रससारांश	प्रतापगढ नरेश पुस्तकालय
	शृंगारनिर्णय	प्रतापगढ़ नरेश पुस्तकालय
रसरूप	तुलसीभूषण	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
उदयनाथ कवीन्द्र	रसचन्द्रोदय	सवाई महेन्द्र पुस्तकालय ओरछा
रूपसाहि	रूपविलास	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
शोभाकवि	नवलरसचन्द्रोदय	,,
बैरीसाल	भाषाभरण	प० कृष्णविहारी मिश्र
रगखाँ	नायिकाभेद	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
जनराज	कवितारसविनोद	,,
उजियारे कवि	रसचन्द्रिका	,,
यशवन्त सिंह	शृंगारशिरोमणि	प० कृष्णविहारी मिश्र
जगतसिंह	साहित्यसुधानिधि	,,
रामसिंह	रसनिवास	दतिया राजपुस्तकालय, दतिया
	अलंकारदर्पण	,,
रतनेश	अलकारदर्पण	,,
सेवादास	रघुनाथ अलकार	नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
चन्दन	काव्याभरण	प० कृष्णविहारी मिश्र
रणधीर सिंह	काव्यरत्नाकर	सवाई महेन्द्र-पुस्तकालय, ओरछा
प्रतापसिंह	व्यंग्यार्थकौमुदी	दतिया राजपुस्तकालय, दतिया
-	काव्यविलास	नागरीप्रचारिणी सभा, बनारस
रामदास	कविकल्पद्रुम	सवाई महेन्द्र-पुस्तकालय, ओरछा
ग्वाल	रसरंग	सेठ कन्हैयालाल पोद्दार (निजी पुस्तकालय) मथुरा
	अलकारभ्रमभजन	चतुर्थ त्रैवार्षिक ना प्र. स. काशी की खोज के अनुसार प्राप्त
-	कविदर्पण	,,

लछिराम	रावणेश्वरकल्पतरु	पं० कृष्णविहारी मिश्र
	महेश्वरविलास	सवाई महेन्द्र-पुस्तकालय, ओरछा

[ग] उल्लिखित ग्रन्थ

उक्त पुस्तको के अतिरिक्त निम्नलिखित रीतिग्रन्थो का उल्लेख हिन्दी-साहित्य के इतिहास-सम्बन्धी विभिन्न ग्रन्थो मे मिलता है :

लेखक	ग्रन्थ	रचना-काल
मोहनलाल	श्रृंगारसागर	सं० १६१६
बलभद्र मिश्र	रसविलास	स० १६४०
ब्रजपति भट्ट	रंगभावमाधुरी	स० १६८०
सुन्दर कवि	सुन्दरश्रृंगार	सं० १६८८
शभुनाथ सोलकी	नायिकाभेद	स० १७०७
तुलसीदास	रसकल्लोल	स० १७११
मडन	रसरत्नावली	स० १७२०
गोपालराम	रससागर	स० १७२६
सुखदेव मिश्र	रसरत्नाकररसार्णव	सं० १७३० (लगभग)
	श्रृंगारलता	स० १७३३
श्रीनिवास	रससागर	स० १७५०
केशवराम	नायिकाभेद	सं० १७५४
बलवीर	दंपतिविलास	सं० १७५६
देव	जातिविलास	स० १७६०
लोकनाथ चौबे	रसतरग	स० १७६०
खड्गराम	नायिकाभेद	स० १७६५
बेनीप्रसाद	रसश्रृंगारसमुद्र	स० १७६५
श्रीपति	रससागर	स० १७७०
आज़म	श्रृंगाररसदर्पण	स० १७८६
कुन्दन	नायिकाभेद	सं० १७९२
गुरुदत्तसिंह (भूपति)	रसरत्नाकर, रसदीप	१८वी शती का अन्त
रघुनाथ	काव्यकलाकर	सं० १८०२
उदयनाथ कवीन्द्र	रसचन्द्रोदय	स० १८०४
शम्भुनाथ	रसकल्लोल, रसतरंगिणी	स० १८०६
चन्ददास	श्रृंगारसागर	स० १८११

शिवनाथ	रसवृष्टि	सं० १८२८
दौलतराम उजियारे	रसचन्द्रिका, जुगलप्रकाश,	सं० १८३७
	शृंगारचरित	सं० १८४१
वेनी वन्दीजन	रसविलास	सं० १८४६
लाल कवि	विष्णुविलास	सं० १८५०
भोगीलाल दुवे	वखतविलास	सं० १८५६
यशवतसिंह	शृंगारशिरोमणि	सं० १८५६
यशोदानंदन	बरवै-नायिकाभेद	सं० १८७२
करन कवि	रसकल्लोल	सं० १८६०
कृष्ण कवि	गोविंदविलास	सं० १८६३
नवीन	रगतरग	सं० १८६६
जगदीश लाल	व्रजविनोद-नायिकाभेद	१६वी शती का अन्त
गिरिधरदास	रसरत्नाकर	"
नारायण भट्ट	नाट्यदीपिका	"
चन्द्रशेखर	रसिकविनोद	सं० १६०३
वंशमणि	रसचन्द्रिका	अज्ञात

इन ग्रन्थो की सम्यक् एवं त्वरित उपलब्धि का प्रयास अनिवार्यत. अपेक्षित है। इससे रीतिकालिन साहित्य के नव-मूल्यांकन में पूर्ण सहायता मिलेगी।



: ४ :

आधुनिक युग में काव्यशास्त्र की प्रगति

आलोचना शब्द प्रायः गुण-दोष-परीक्षण का वाचक माना जाता है। आधुनिक साहित्यिक जगत् में आलोचना के स्वीकृत भेदों मे शास्त्रीय अथवा सैद्धान्तिक आलोचना नामक भेद अपनी एक अन्यतम तथा विशिष्ट महत्ता रखता है। इसका कारण यह है कि आलोचना के व्याख्यात्मक, प्रभावात्मक, निर्णयात्मक, तुलनात्मक, मनोविश्लेषणात्मक आदि भेद उपर्युक्त अर्थ की परिधि के अन्तर्गत जितने यथार्थ रूप मे घटित होते हैं, उतने यथार्थ रूप में यह शास्त्रीय आलोचना नामक भेद घटित नहीं होता। यह भेद वस्तुतः अपने आप में गुण-दोष-परीक्षण न होकर गुण-दोष-परीक्षण के मानदड एवं साधन जुटाता है। इस दृष्टि से काव्यशास्त्रीय सैद्धान्तिक ग्रन्थों को यदि आलोचना का एक भेद मान लिया जाता है तो केवल लाक्षणिक रूप से ही। उदाहरणार्थ, रामचन्द्र शुक्ल के 'तुलसीदास' तथा' 'सूरदास' नामक ग्रन्थों को आलोचना-ग्रन्थ कहने मे अभिधा शक्ति का व्यापार व्यवहृत होता है, तो उन्ही के 'रसमीमांसा' ग्रन्थ को आलोचना-ग्रन्थ स्वीकृत कर लेने में लक्षणा शक्ति का। निष्कर्षत., तथाकथित शास्त्रीय आलोचना यदि साधन है तो व्याख्यात्मक आदि आलोचना-भेद साध्य हैं। शास्त्रीय आलोचना सिद्धान्त-पक्ष का प्रतिपादन करती है तो व्याख्यात्मक आदि भेद व्यवहार-पक्ष का। यही कारण है कि आलोचना के विभिन्न भेदों मे से शास्त्रीय आलोचना नामक भेद अपना अन्यतम एव विशिष्ट स्थान रखता है। शास्त्रीय आलोचनात्मक ग्रन्थों से तात्पर्य है—काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ।

सस्कृत के काव्यशास्त्रीय उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर भरत का नाट्यशास्त्र प्रथम ग्रन्थ माना जाता है, यद्यपि राजशेखर की काव्यमीमांसा के साक्ष्याधार पर भरत से पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों ने भी इस विषय के विभिन्न रूपों पर ग्रन्थो का प्रणयन किया था। इस प्रकार इस ग्रन्थ-परम्परा को भरत से कई शताब्दि पूर्व तक खीचा जा सकता है। भरत के उपरान्त सस्कृत-भाषा में यह परम्परा शताब्दियो पर्यन्त चलती रही। इस क्षेत्र के अन्तिम

प्रख्यात आचार्य जगन्नाथ हैं। इन दोनों आचार्यों के बीच अनुमानतः डेढ सहस्त्र वर्ष की अवधि में निम्नोक्त प्रकार के ग्रन्थों की रचना हुई—(क) काव्यशास्त्रीय और नाट्यशास्त्रीय मौलिक ग्रन्थ, (ख) कविशिक्षा-सम्बन्धी ग्रन्थ, (घ) मौलिक ग्रन्थो की व्याख्यात्मक टीकाएँ, तथा (ग) सग्रह-ग्रन्थ।

जगन्नाथ के उपरान्त काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो का प्रणयन समाप्त नही हो गया, अब उसका माध्यम बदल गया। संस्कृत का स्थान हिन्दी ने ले लिया। हिन्दी का सम्पूर्ण रीतिकाल इस दृष्टि से अत्यन्त उर्वर है यद्यपि उसमे मौलिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन नही हो सका। किन्तु जैसा कि पहले लिख आये है इन रीतिकालीन रीतिग्रन्थो ने भारतीय वाङ्मय में इस काव्यशास्त्रीय प्रवृत्ति को सजग बनाये रखने में सक्रिय सहयोग प्रदान किया है। जिसका सुपरिणाम आज हमारे समक्ष यह है कि आधुनिक काल में एक ओर जगन्नाथप्रसाद भानु, कन्हैयालाल पोद्दार, अर्जुनदास केडिया, अयोध्यासिंह उपाध्याय, हरिशंकर शर्मा, रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', सीताराम शास्त्री, परमेश्वरानन्द शास्त्री के अतिरिक्त आचार्य विश्वेश्वर आदि भारतीय काव्यशास्त्रीय शैली के आख्याताओं ने, और दूसरी ओर श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल, सूर्यकान्त शास्त्री, गुलाबराय, रामदहिन मिश्र, बलदेव उपाध्याय, नगेन्द्र आदि भारतीय और पाश्चात्य दोनो शैलियो के आख्याताओ ने काव्यशास्त्रीय दिशा मे स्तुत्य एवं अनुकरणीय कार्य किया है।

●

आधुनिक हिन्दी-काव्यशास्त्र के इतिहास को 'ध्वन्यालोक' की हिन्दी व्याख्या से एक नया मोड़ मिला है। इसके प्रकाशन-काल अर्थात् सन् १९५२ से पूर्व साहित्यालोचन, रसमीमांसा, साहित्यमीमांसा, सिद्धान्त और अध्ययन, काव्यदर्पण, भारतीय साहित्यशास्त्र, रीतिकाल की भूमिका आदि अनेक ग्रन्थ उपलब्ध थे, किन्तु वे सभी पाठक को भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो का समन्वित रूप देते हुए भी उसे मूल रूप से अवगत न कराते थे। साधारण पाठक को इन ग्रन्थो के लेखको पर विश्वस्त रहकर इन की धारणाओं से प्रायः सहमत रहकर ही सन्तोष कर लेना पड़ता था। ध्वन्यालोक की हिन्दी-व्याख्या से पूर्व रसगगाधर, साहित्यदर्पण और काव्यप्रकाश के हिन्दी-अनुवाद प्राप्य थे। इनमें से काव्यप्रकाश का हिन्दी-अनुवाद (हरिमंगल मिश्र कृत) तो सरलार्थ मात्र प्रस्तुत करता है। रसगगाधर का (पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी कृत) अनुवाद अपनी कतिपय विशिष्टताओ से समन्वित होता हुआ भी अत्यधिक शास्त्रीय होने के कारण अनेक स्थलो पर दुरूह है। हाँ,

सन् १९५२ तक हिन्दी-पाठकों को भारतीय काव्यशास्त्र के समझाने मे साहित्य-दर्पण की प० शालग्राम कृत 'विमला' नामक हिन्दी-टीका ने जितना स्तुत्य कार्य किया, उतना किसी भी अन्य हिन्दी-टीका ने नही किया था। इधर ध्वन्यालोक की व्याख्या ने हिन्दी-टीकाशैली का नूतन एवं सरल मार्ग प्रशस्त किया। सन् १९५२ के उपरान्त 'वक्रोक्तिजीवित', फिर 'काव्यालकारसूत्रवृत्ति, और फिर (अभिनवभारती १,२,६, अध्याय) तथा 'काव्यप्रकाश', और अन्ततः 'नाट्यदर्पण' की हिन्दी-व्याख्याओ ने इस मार्ग को अधिक दीप्यमान कर दिया, और इस प्रकार क्रमश. ध्वनि, वक्रोक्ति और रीति रस और नाट्यसिद्धान्तो के ग्रथ हिन्दी-व्याख्या-सहित अपने मूलरूप में हिन्दी-जनता को सुलभ हो गये। इन भाष्यों का श्रेय दिवंगत आचार्य विश्वेश्वर को है। उक्त ग्रंथो में से प्रथम तीन ग्रंथो की वृहद् भूमिकाए आचार्य विश्वेश्वर के अतिरिक्त डॉ० नगेन्द्र ने लिखी। डॉ० नगेन्द्र ने इन भूमिकाओ में पाठको के सम्मुख काव्यशास्त्रीय समस्याएं उपस्थित की, उनका बुद्धिसगत एव शास्त्रीय समाधान प्रस्तुत किया, तथा उनके सम्मुख भारतीय एव पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय मान्यताओ का तारतम्य निर्दिष्ट किया। उनकी जिज्ञासा-वृत्ति को उभारा तथा शान्त किया। उन्हे इस विपय पर सोचने की दिशा दिखायी और आगे लिखने की सामग्री प्रदान की। इन ग्रथो के प्रकाशन-काल से आज तक लिखित हिन्दी के साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ किसी न किसी रूप मे इन भूमिकाओं के ऋणी है। विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से इन भूमिकाओ में से मेरे विचार में 'वक्रोक्ति-जीवित' की भूमिका को सर्वप्रथम स्थान मिलना चाहिए, और 'काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति' की भूमिका को द्वितीय स्थान। इस तारतम्य का कारण स्वयं 'वक्रोक्ति' और 'रीति' नामक काव्यवादो के विषय-गाम्भीर्य का ही तारतम्य है। हाँ, 'ध्वन्यालोक' की भूमिका अपने विपय पर हिन्दी मे अपना विशिष्ट स्थान रखते हुए भी नये सिरे से एक वार फिर लिखे जाने की अपेक्षा रखती है, और यदि इसका लेखक अब इसे फिर लिखे तो अपनी प्रौढ, परिपक्व, कुशल एवं अनुभवी प्रतिभा के वल पर इसे पहले की अपेक्षा कई गुना अधिक गम्भीर वना देगा।

'हिन्दी नाट्यदर्पण' की भूमिका आचार्य विश्वेश्वर, डॉ० दशरथ ओझा और डॉ० सत्यदेव चौधरी ने लिखी। इसी बीच डॉ० सत्यव्रतसिंह-लिखित साहित्यदर्पण और काव्यप्रकाश की, और डॉ० भोलाशंकर व्यास-लिखित दशरूपक और कुवलयानन्द की भी हिन्दी-व्याख्याए प्रकाशित हुई, जो अनेक दृष्टियों से पाठकों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है। इस दिशा में दशरूपक,

काव्यमीमांसा, औचित्यविचारचर्चा, काव्यादर्श और अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय भाग की हिन्दी-टीकाए भी उल्लेखनीय है, जिनके लेखक क्रमशः डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, स्व० पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत, डॉ० मनोहरलाल गौड़, डॉ०. रणवीरसिंह और श्री रामलाल वर्मा है। इधर इन्ही दिनो भामह का 'भामहालंकार' प्रकाशित हुआ है जिसके हिन्दी-भाष्यकार है प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा। रुद्रट-प्रणीत 'काव्यालंकार' हिन्दी-व्याख्या-सहित प्रकाशित हो रहा है। व्याख्याकार प्रस्तुत निबन्ध के लेखक है।



इसी प्रसंग में पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय तीन ग्रन्थो का हिन्दी-अनुवाद भी उल्लेखनीय है—(१) अरस्तू का काव्यशास्त्र, (२) काव्य में उदात्त तत्त्व, और काव्यकला। ये ग्रन्थ क्रमशः अरस्तू के "पेरि पोइतिकेस", लोजाइनस के "पेरि इप्सुस" और होरेस के "आर्स पोएतिका" के हिन्दी-अनुवाद है, जो डॉ० नगेन्द्र के सम्पादकत्व में दिल्ली-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग द्वारा प्रस्तुत किये गये है। इन ग्रन्थो की महत्तम विशेषता है इनकी भूमिका। प्रथम दो ग्रन्थो के भूमिका-लेखक डॉ० नगेन्द्र है, और तीसरे ग्रन्थ के डॉ० मोहनलाल। प्रथम ग्रन्थ की भूमिका मे हिन्दी-पाठक को अरस्तू द्वारा प्रतिपादित 'अनुकरण-सिद्धान्त', 'विरेचन-सिद्धान्त', 'त्रासदी' आदि पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय समस्याओ से अवगत कराया गया है, और दूसरे ग्रन्थ की भूमिका में लोजाइनस द्वारा प्रतिपादित 'उदात्त तत्त्व' और 'कला' से सम्बद्ध समस्याओ से। इन भूमिकाओं में लेखक पहले से भी कही अधिक तार्किक एवं मनीषी आचार्य के रूप में स्थान-स्थान पर भारतीय एव पाश्चात्य मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन एवं तारतम्य उपस्थित करता चला गया है। इन दोनो भूमिकाओं—विशेषत. पहली भूमिका का यदि अंग्रेज़ी-अनुवाद प्रस्तुत कर दिया जाए तो अंग्रेज़ी के पाठको को अरस्तू के समझने में एक भारतीय काव्याचार्य का आलोक मिलेगा, तथा १६५ पृष्ठों का यह लघु प्रबन्ध विश्व के काव्यशास्त्रीय जगत् में अपना विशिष्ट एवं ऐतिहासिक स्थान बना सकेगा। तीसरे ग्रन्थ 'काव्यकला' की भूमिका में इस कृति के दो प्रमुख विषयों काव्य और नाटक की परिचयात्मक आलोचना प्रस्तुत की गयी है। प्रसगवश काव्यशैली के सम्बन्ध में रचयिता के विचारों को प्रकट किया गया है, तथा उसके काव्य-सिद्धान्तो के आधारभूत तत्त्व 'औचित्य' पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है।

सन् १९५२ तक हिन्दी-पाठको को भारतीय काव्यशास्त्र के समझाने मे साहित्य-दर्पण की पं० शालग्राम कृत 'विमला' नामक हिन्दी-टीका ने जितना स्तुत्य कार्य किया, उतना किसी भी अन्य हिन्दी-टीका ने नही किया था। इधर ध्वन्यालोक की व्याख्या ने हिन्दी-टीकाशैली का नूतन एव सरल मार्ग प्रशस्त किया। सन् १९५२ के उपरान्त 'वक्रोक्तिजीवित', फिर 'काव्यालकारसूत्रवृत्ति, और फिर (अभिनवभारती १,२,६, अध्याय) तथा 'काव्यप्रकाश', और अन्ततः 'नाट्यदर्पण' की हिन्दी-व्याख्याओ ने इस मार्ग को अधिक दीप्यमान कर दिया, और इस प्रकार क्रमश. ध्वनि, वक्रोक्ति और रीति रस और नाट्यसिद्धान्तो के ग्रथ हिन्दी-व्याख्या-सहित अपने मूलरूप में हिन्दी-जनता को सुलभ हो गये। इन भाष्यो का श्रेय दिवंगत आचार्य विश्वेश्वर को है। उक्त ग्रथो में से प्रथम तीन ग्रथो की बृहद् भूमिकाए आचार्य विश्वेश्वर के अतिरिक्त डॉ० नगेन्द्र ने लिखी। डॉ० नगेन्द्र ने इन भूमिकाओ में पाठकों के सम्मुख काव्यशास्त्रीय समस्याएं उपस्थित की, उनका बुद्धिसगत एव शास्त्रीय समाधान प्रस्तुत किया, तथा उनके सम्मुख भारतीय एव पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय मान्यताओ का तारतम्य निर्दिष्ट किया। उनकी जिज्ञासा-वृत्ति को उभारा तथा शान्त किया। उन्हे इस विषय पर सोचने की दिशा दिखायी और आगे लिखने की सामग्री प्रदान की। इन ग्रंथो के प्रकाशन-काल से आज तक लिखित हिन्दी के साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ किसी न किसी रूप में इन भूमिकाओ के ऋणी है। विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से इन भूमिकाओ में से मेरे विचार मे 'वक्रोक्ति-जीवित' की भूमिका को सर्वप्रथम स्थान मिलना चाहिए, और 'काव्यालकार-सूत्रवृत्ति' की भूमिका को द्वितीय स्थान। इस तारतम्य का कारण स्वयं 'वक्रोक्ति' और 'रीति' नामक काव्यवादो के विषय-गाम्भीर्य का ही तारतम्य है। हाँ, 'ध्वन्यालोक' की भूमिका अपने विषय पर हिन्दी मे अपना विशिष्ट स्थान रखते हुए भी नये सिरे से एक बार फिर लिखे जाने की अपेक्षा रखती है, और यदि इसका लेखक अब इसे फिर लिखे तो अपनी प्रौढ, परिपक्व, कुशल एवं अनुभवी प्रतिभा के बल पर इसे पहले की अपेक्षा कई गुना अधिक गम्भीर बना देगा।

'हिन्दी नाट्यदर्पण' की भूमिका आचार्य विश्वेश्वर, डॉ० दशरथ ओझा और डॉ० सत्यदेव चौधरी ने लिखी। इसी बीच डॉ० सत्यव्रतसिंह-लिखित साहित्यदर्पण और काव्यप्रकाश की, और डॉ० भोलाशकर व्यास-लिखित दशरूपक और कुवलयानन्द की भी हिन्दी-व्याख्याए प्रकाशित हुई, जो अनेक दृष्टियो से पाठको के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है। इस दिशा में दशरूपक,

-काव्यमीमांसा, औचित्यविचारचर्चा, काव्यादर्श और अग्निपुराण के काव्य-शास्त्रीय भाग की हिन्दी-टीकाए भी उल्लेखनीय है, जिनके लेखक क्रमश. डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, स्व० पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत, डॉ० मनोहरलाल गौड, डॉ० रणवीरसिंह और श्री रामलाल वर्मा है। इधर इन्ही दिनो भामह का 'भामहालंकार' प्रकाशित हुआ है जिसके हिन्दी-भाष्यकार है प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा। रुद्रट-प्रणीत 'काव्यालंकार' हिन्दी-व्याख्या-सहित प्रकाशित हो रहा है। व्याख्याकार प्रस्तुत निबन्ध के लेखक है।

●

इसी प्रसंग में पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय तीन ग्रन्थो का हिन्दी-अनुवाद भी उल्लेखनीय है—(१) अरस्तू का काव्यशास्त्र, (२) काव्य में उदात्त तत्त्व, और काव्यकला। ये ग्रन्थ क्रमश: अरस्तू के "पेरि पोइतिकेस", लोजाइनस के "पेरि इप्सुस" और होरेस के "आर्स पोएतिका" के हिन्दी-अनुवाद है, जो डॉ० नगेन्द्र के सम्पादकत्व में दिल्ली-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग द्वारा प्रस्तुत किये गये है। इन ग्रन्थो की महत्तम विशेषता है इनकी भूमिका। प्रथम दो ग्रन्थो के भूमिका-लेखक डॉ० नगेन्द्र है, और तीसरे ग्रन्थ के डॉ० मोहनलाल। प्रथम ग्रन्थ की भूमिका मे हिन्दी-पाठक को अरस्तू द्वारा प्रतिपादित 'अनुकरण-सिद्धान्त', 'विरेचन-सिद्धान्त', 'त्रासदी' आदि पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय समस्याओ से अवगत कराया गया है, और दूसरे ग्रन्थ की भूमिका मे लोजाइनस द्वारा प्रतिपादित 'उदात्त तत्त्व' और 'कला' से सम्बद्ध समस्याओ से। इन भूमिकाओ में लेखक पहले से भी कही अधिक तार्किक एव मनीषी आचार्य के रूप में स्थान-स्थान पर भारतीय एव पाश्चात्य मान्यताओ का तुलनात्मक अध्ययन एवं तारतम्य उपस्थित करता चला गया है। इन दोनो भूमिकाओ—विशेषत. पहली भूमिका का यदि अंग्रेज़ी-अनुवाद प्रस्तुत कर दिया जाए तो अंग्रेज़ी के पाठको को अरस्तू के समझने में एक भारतीय काव्याचार्य का आलोक मिलेगा, तथा १६५ पृष्ठो का यह लघु प्रबन्ध विश्व के काव्य-शास्त्रीय जगत् मे अपना विशिष्ट एवं ऐतिहासिक स्थान बना सकेगा। तीसरे ग्रन्थ 'काव्यकला' की भूमिका में इस कृति के दो प्रमुख विषयों काव्य और नाटक की परिचयात्मक आलोचना प्रस्तुत की गयी है। प्रसंगवश काव्यशैली के सम्बन्ध में रचयिता के विचारों को प्रकट किया गया है, तथा उसके काव्य-सिद्धान्तों के आधारभूत तत्त्व 'औचित्य' पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है।

इन तीनो ग्रन्थों विशेषतः 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' ने हिन्दी-पाठको के लिए पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय अध्ययन का मार्ग उन्मुक्त कर दिया है।

●

उक्त हिन्दी-व्याख्याओ एवं हिन्दी-अनुवादों के उपरान्त काव्यशास्त्रीय दिशा में दूसरा स्थान सैद्धान्तिक आलोचनात्मक ग्रन्थों का है। प्रकाशन-क्रम की दृष्टि से प्रथम स्थान 'रीतिकाव्य की भूमिका' का है, जिसके लेखक डॉ० नगेन्द्र है। यद्यपि इस ग्रन्थ के प्रकाशन के उपरान्त पिछले लगभग १५ वर्ष में इस ग्रन्थ का लेखक अन्य कई ग्रन्थो के माध्यम से इसकी अपेक्षा कही अधिक परिष्कृत, विशुद्ध एव स्वच्छ काव्यशास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत कर चुका है, फिर भी अपने प्रकार का सर्वप्रथम प्रयास होने के कारण यह ग्रन्थ अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है और अद्यावधि संदर्भ-ग्रन्थ के रूप में प्रयुक्त होता चला आ रहा है।

इस ग्रन्थ के उपरान्त उन्ही दिनों पं० वलदेव उपाध्याय प्रणीत 'भारतीय साहित्यशास्त्र'(दो भाग), तथा पं० रामदहिन मिश्र प्रणीत 'काव्यदर्पण' और 'काव्यालोक' (दो भाग) प्रकाशित हुए। इन दोनो ग्रन्थो में भारतीय काव्यशास्त्र-सम्बन्धी मान्यताओ का संकलन एवं प्रतिपादन अत्यन्त स्वच्छ रूप में प्रस्तुत है। इस दृष्टि से प्रथम ग्रन्थ कही अधिक उपादेय है। इन दोनो ग्रन्थों के लेखक काव्यशास्त्र के प्रकाण्ड आचार्य हैं। इसका प्रमाण यह है कि उक्त ग्रन्थों के प्रकाशन के उपरान्त अद्यावधि जितने भी काव्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थो का प्रणयन हुआ है उनके लेखक इन दोनो विद्वानों के किसी न किसी रूप मे अवश्य ऋणी हैं। प० वलदेव उपाध्याय ने दोनों भागों के आधार पर 'संस्कृत आलोचना' नाम से अपेक्षाकृत संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित एवं प्रामाणिक ग्रंथ हिन्दी-जगत् को दिया है, जिससे सभी स्तर के जिज्ञासुओ को काव्यशास्त्र-विषयक आवश्यक सामग्री सकलित रूप में उपलब्ध हो गयी है।

●

सैद्धान्तिक आलोचनात्मक ग्रन्थो के प्रसंग में निम्नोक्त अन्य ग्रन्थ उल्लेखनीय है। प्रकाशन-क्रम की दृष्टि से सर्वप्रथम दो उल्लेखनीय ग्रन्थ है—डॉ० गुलाबराय प्रणीत 'सिद्धान्त और अध्ययन' और 'काव्य के रूप'। सामान्य पाठको ने जितना इन ग्रन्थो को अपनाया है, उतना किसी अन्य ग्रन्थ को नही। सुगम शैली और आवश्यक सामग्री का चयन—इन दोनों ग्रन्थो के ये दो महत्त्वपूर्ण गुण हैं।

इनके उपरान्त प्रकाशन-क्रम के अनुसार लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' के 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' और प्रभुदयाल मीतल के 'ब्रजभाषा-साहित्य का नायिका-भेद' का नाम लेना चाहिए। स्पष्टतः, पहले ग्रन्थ मे अभिव्यंजना पर, और दूसरे में नायिका-भेद पर प्रकाश डाला गया है। सामग्री-संचयन की दृष्टि से मीतल जी का यह प्रयास सम्भवतः हिन्दी में पहला प्रयास है।

पाँचवाँ ग्रन्थ है—डॉ० भगीरथ मिश्र का 'काव्यशास्त्र', जिसमें काव्य के विभिन्न अंगों पर संकलनात्मक एव विवेचनात्मक प्रकाश डाला गया है।

छठे और सातवे ग्रन्थ है—'व्यजना में नवीन कविता' और 'भारतीय साहित्यदर्शन'। इन दोनो ग्रन्थों के लेखक श्री राममूर्ति त्रिपाठी है। इन ग्रन्थो मे भारतीय काव्यशास्त्र का परिचय सुव्यवस्थित शैली में प्रस्तुत किया गया है। दूसरा ग्रन्थ लेखक की गम्भीरता एवं प्रौढता का अपेक्षाकृत अधिक परिचायक है।

आठवाँ ग्रन्थ है—'नाट्यसमीक्षा', जिसके लेखक डॉ० दशरथ ओझा हैं। इस ग्रन्थ मे नाट्यशास्त्र से सम्बद्ध १२ लेख प्रस्तुत किये गए है, जिनमें से निम्नोक्त पाँच लेख नाट्यशास्त्र एव नाटक-सम्बन्धी नूतन सामग्री प्रस्तुत करते हैं—(१) रासक का विकास (२) भापा-नाटक में प्रथम गद्य-प्रयोग, (३) हिन्दी-लोकनाट्य शैली-शिल्प, (४) पन्द्रहवी शताब्दी का रंगमचीय नाट्य-साहित्य, और (५) यक्षगान का इतिहास। निस्सन्देह ये लेख तथा अन्य सात लेख भी नाटक के भावी अनुसन्धाताओ के लिए सामग्री-संग्रह तथा प्रेरणा-प्राप्ति दोनो दृष्टियों से अवश्य पठनीय रहेगे, किन्तु वे इस ग्रन्थ की अव्यवस्थित शैली की अवश्य शिकायत करेंगे। एक सूत्र में अनुस्यूतता लेख अथवा निबन्ध का एक आवश्यक तत्त्व है। आशा है, विद्वान् लेखक आगामी संस्करण में इस तत्त्व के समावेश द्वारा ग्रन्थ की महत्ता को और अधिक बढ़ा लेंगे। रत्नों को एकसूत्र में पिरो देने से उनका मूल्य कही अधिक वढ जाता है।

नवाँ ग्रन्थ 'भारतीय साहित्यशास्त्र' गणेशत्र्यम्वक देशपाण्डे द्वारा प्रणीत है। यह ग्रन्थ मूलतः मराठी में लिखा गया था, फिर इसका हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किया गया। इसमे काव्यशास्त्रीय कतिपय तत्त्वो, विशेषत. रस के सम्बन्ध मे मौलिक धारणाएं प्रस्तुत की गयी हैं। ग्रन्थ लेखक के गम्भीर अध्ययन का परिचायक है, किन्तु शैली की सुगमता की अपेक्षा रखता है।

दसवाँ ग्रन्थ डॉ रघुवश द्वारा लिखित 'नाट्यकला' है। इसमें भारतीय नाट्यशास्त्र-विपयक सामग्री को स्वच्छ एवं सारगर्भित-रूप में संजोया गया है, तथा यूरोपीय नाट्य-प्रणाली पर भी किंचित् प्रकाश डाला गया है।

अन्तिम ग्रन्थ 'अनुसंधान और आलोचना' डॉ० नगेन्द्र की मौलिक प्रतिभा, दार्शनिक एव मनोवैज्ञानिक धरातल पर चिन्तन और विश्लेषणात्मक शैली का उत्कृष्ट नमूना है। इसमें काव्यशास्त्र से सम्बद्ध लेख है—'साहित्य का धर्म', 'कविता क्या है' और 'रस शब्द का अर्थ-विकास'।



इसी बीच छात्रों की उपयोगिता को ही लक्ष्य में रखकर अनेक ग्रन्थ लिखे गये। उदाहरणार्थ—डॉ० रामलालसिंह का 'समीक्षादर्शन', डॉ० दशरथ ओझा का 'समीक्षाशास्त्र', डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत का 'शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त' (दो भाग), सरोजनी मिश्रा का 'साहित्यशास्त्र के सिद्धान्त' तथा डॉ० रामदत्त भारद्वाज का 'काव्यशास्त्र की रूपरेखा'।

वस्तुतः पिछले दस-बारह वर्षों में हिन्दी-काव्यशास्त्र की प्रगति में इतनी अधिक त्वरता आ गयी है कि काव्यशास्त्र के किसी सामान्य-मति एवं परीक्षार्थी छात्र के लिए इस वृद्धि के साथ कदम मिला सकना कठिन हो गया है। उनकी आवश्यकताओ को ध्यान में रखते हुए इन्ही ग्रन्थों की रचना की गयी है। ऐसे ग्रन्थ अपने रचयिताओं के अध्यवसाय एवं संकलन-प्रवृत्ति के परिचायक होते है। ये ग्रन्थ यथेष्ट सामग्री सकलित कर देने के साथ-साथ समुचित उद्धरणों को भी जुटा देते है, जिससे इनके अध्येता मूल ग्रन्थो के मन्थन करने के श्रम से बच जाते है। यह प्रवृत्ति एक दृष्टि से हानिकारक होती हुई भी छात्रो की उपयोगिता की दृष्टि से किसी सीमा तक ग्राह्य रहती है। हाँ, अन्य ग्रन्थों के समान ऐसे ग्रन्थ भी सुव्यवस्थित प्रतिपादन, निर्भ्रान्त विवेचन और शुद्ध उद्धरणो की अपेक्षा रखते हैं, जिनके अभाव में ये ग्रन्थ हानिकारक अतएव अग्राह्य सिद्ध हो जाते है। उक्त ग्रन्थो में से 'समीक्षाशास्त्र' वस्तुतः और अधिक व्यवस्थित होना चाहिए था। 'शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त' (प्रथम भाग) तथा 'साहित्यशास्त्र के सिद्धान्त' इन दोनो में—विशेषत. दूसरे ग्रन्थ में—संस्कृत के उद्धरणो की अशुद्धिया बहुत खटकती है। फिर भी कुल मिलाकर ये सभी ग्रन्थ जिस उद्देश्य के लिए लिखे गये है, उसे पर्याप्त रूप से पूर्ण करते है।



आधुनिक युग में काव्यशास्त्र विषयक अनेक प्रबन्ध-ग्रन्थों का प्रणयन हुआ, जिनमें से कतिपय ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं—१. रीतिकाव्य की भूमिका—डॉ० नगेन्द्र, २. हिन्दी अलंकार-साहित्य—डॉ० ओमप्रकाश, ३. ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त—डॉ० भोलाशंकर व्यास, ४. भारतीय काव्यांग—डॉ० सत्यदेव चौधरी, ५. रससिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण—

डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित, ६. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन (अलंकार-भाग को छोड़कर)—डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त।

—इनमें से प्रथम ग्रन्थ का उल्लेख यथास्थान पीछे कर आये है।

—'हिन्दी अलंकार-साहित्य' की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें रीतिकालीन प्रख्यात तथा अप्रख्यात आचार्यों के अलकार-निरूपण का स्वस्थ प्रतिपादन प्रस्तुत किया गया है।

—'ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त' मे ध्वनि-विषयक शास्त्रीय विवेचन को विद्वत्तापूर्ण शैली में प्रस्तुत किया गया है। काव्यशास्त्रीय प्रसगो मे व्यंजना की स्थापना-विषयक प्रसंग अत्यन्त दुरूह एवं जटिल है। भारतीय आचार्यों ने व्यंजना की स्थापना के लिये अन्य वादो के खण्डन मे कुशाग्र बुद्धि तथा अन्तस्तल-प्रवेशिनी पर्यवेक्षण-शक्ति से काम लिया है। इधर डॉ० व्यास ने इस प्रसंग को सुवोध एव स्वच्छ रूप मे प्रस्तुत करके अपनी व्यवस्थित प्रतिपादन-शैली के अतिरिक्त तत्त्वग्राहिणी प्रतिभा का भी परिचय दिया है।

—तीसरे ग्रन्थ 'भारतीय काव्यांग' मे काव्य के दस अंगो का शास्त्रीय एव विवेचनात्मक अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है। यह अनुशीलन भरत से जगन्नाथ तक लगभग दो सहस्र वर्षों की विकसित काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त-परम्परा का शृंखलावद्ध स्वरूप उपस्थित करता है।

—'रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण' नामक ग्रन्थ में रस-विषयक अनेक प्रसगो की वहुविध शास्त्रीय सामग्री को अधिकांशतः सुनियोजित रूप में प्रस्तुत किया गया है।

—'रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' ग्रन्थ मे पण्डितराज जगन्नाथ की काव्यशास्त्रीय मान्यताओ के पृष्ठाधार पर अनेक काव्य-तत्त्वों का विवेचन शास्त्र-सम्मत, सुविचारित एव स्वच्छ रूप मे प्रस्तुत किया गया है।

अन्त मे दो अन्य सग्रह-ग्रन्थो का सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करना वाञ्छनीय है—'भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा' और 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा'। ये दोनो ग्रन्थ हिन्दी-विभाग, दिल्ली-विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित किये गये हैं। इनमें से प्रथम ग्रन्थ मे उधर भरत से जगन्नाथ तक, तथा चिन्तामणि से प्रतापसाहि तक, और इधर भारतेन्दु से नगेन्द्र तक के प्रख्यात लेखको के ग्रन्थों में से काव्यशास्त्र-सम्वन्धी महत्त्वपूर्ण स्थलों को संकलित किया गया है, तथा संस्कृत-भाग का हिन्दी-अनुवाद भी प्रस्तुत किया गया है।

दूसरा ग्रन्थ उधर प्लेटो (४२७ ई० पू०-३४७ ई० पू०) से लेकर इधर

आई. ए०. रिचर्डस (जन्म सन् १८९३ ई०) तक की लगभग २२०० वर्ष की सुदीर्घ काव्यशास्त्रीय परम्परा में से गम्भीर, स्थायी एव महत्त्वपूर्ण स्थलों का स्वस्थ एवं समर्थ हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत करता है। इनके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में मार्क्स, फ्रायड और युंग के भी काव्यशास्त्र से सम्बद्ध कतिपय मार्मिक स्थलों का अनुवाद परिशिष्ट रूप मे सम्मिलित कर दिया गया है। इस ग्रन्थ की एक अन्य विशेपता है—इन सब लेखको का जीवनात्मक एवं साहित्यिक परिचय। 'सन्दर्भ-टिप्पणियाँ' नामक परिशिष्ट के अन्तर्गत ग्रन्थ के मूल भाग में प्रयुक्त १९७ नामो—ग्रन्थकारो, चित्रकारो, रचनाओं आदि—का यथावत् परिचय प्रस्तुत किया है, तथा ग्रन्थ के अन्त में लगभग एक सौ अंग्रेज़ी-हिन्दी शब्दो के पर्याय प्रस्तुत किये गये है। 'भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा' के समान इस ग्रन्थ मे भी यदि मूल स्थल दे दिये जाते तो हिन्दी के पाठक को उद्धरण उपलब्ध करने में सुविधा मिल जाती। अस्तु! इन दोनों ग्रन्थो ने अब भारतीय और पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तो का नये सिरे से तुलनात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत करने का एक नया द्वार खोल दिया है।

इन गन्थो के अतिरिक्त काव्यशास्त्रीय सामग्री के प्रकाशन में हिन्दी-पत्रिकाओ का योगदान भी कम नही है। आलोचना (दिल्ली), समालोचक (आगरा), हिन्दी-अनुशीलन (प्रयाग), नागरी-प्रचारिणी पत्रिका (काशी), साहित्यसदेश तथा सरस्वती-सवाद (आगरा), सप्तसिन्धु (चण्डीगढ़), कल्पना (हैदराबाद) आदि पत्रिकाओं में इस विषय से सम्बद्ध जो लेख प्रकाशित होतें रहते है, उनमें से अनेक अपना स्थायी महत्त्व रखते है।

इस प्रकार आधुनिक युग में काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ-निर्माण की परम्परा उत्तरोत्तर वृद्धि पर है। यह परम्परा रीतिकालीन युग में भी वृद्धि पर थी, पर यह परम्परा उस युग की परम्परा से नितान्त विभिन्न है। उसमें मौलिक चिन्तन का अभाव था, शुद्ध और स्पष्ट प्रतिपादन की ओर भी ध्यान कम था, किन्तु वर्तमान-कालीन यह परम्परा इन गुणो को यथासम्भव रूप में अपनाने के साथ-साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का भी प्रयास कर रही है, तथा हिन्दी को लक्ष्य में रखकर नव-सिद्धान्त-निर्माण का भी। निस्सदेह यह परम्परा हिन्दी की गरिमा-वृद्धि में सहायक सिद्ध होगी। हाँ, काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ-निर्माण के नाम पर इधर-उधर कुछ अशो मे जो अस्वस्थ एव अस्वच्छ साहित्य भी निर्मित हो जाता है, उसके अपसारण के लिए कदम उठाना चाहिए।

*

: ५ :

हिन्दी में काव्यशास्त्रीय शोध : एक सर्वेक्षण

हिन्दी मे 'सैद्धान्तिक शोध' अथवा 'सिद्धान्त-सम्बन्धी शोध' कथन के अन्तर्गत 'सिद्धान्त' शब्द से तात्पर्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त से लिया जाता है—क्योकि किसी भाषा का साहित्य अथवा काव्य अपने मूलभूत सिद्धान्त के लिए स्वसम्बद्ध साहित्यशास्त्र अथवा काव्यशास्त्र का ही आश्रय लेता है।

हिन्दी में शोधकार्य का श्रीगणेश सन् १९१८ से माना जाता है जब 'थियॉलॉजी आफ़ तुलसीदास' पर श्री० जे एन. कारपेण्टर को लण्डन विश्वविद्यालय से 'डाक्टर आफ़ डिविनिटी' की उपाधि मिली, और हिन्दी में सैद्धान्तिक शोध का श्रीगणेश सन् १९३७ ई० में हुआ जब श्री० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' को 'हिन्दी काव्यशास्त्र का विकास' पर प्रयाग विश्वविद्यालय से डी. लिट् की उपाधि से विभूषित किया गया। इसी बीच, १८-१९ वर्ष के अन्तराल मे, केवल छः विषयों पर शोधपरक कार्य किया गया, जिनमें से तीन का सम्बन्ध भारतीय भाषाओ के साथ है, और शेष तीन का भक्तिसाहित्य के साथ। इस प्रकार सैद्धान्तिक शोध-कार्य विषय की दृष्टि से तीसरे स्थान पर है, और शोध-परक ग्रन्थो के सख्या-क्रम की दृष्टि से आठवें स्थान पर।

●

सन् १९३७ के उपरान्त अद्यावधि—कभी मन्द और कभी तीव्र गति के साथ—सैद्धान्तिक शोध-कार्य होता चला आया है, और लगभग ३० प्रबन्ध स्वीकृत हो चुके है। अधिकांशतः यह कार्य हिन्दी-काव्य को ही लक्ष्य में रख कर हुआ है। वस्तुतः होना भी यही चाहिए, क्योकि केवल सस्कृत के ही काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ अथवा ग्रन्थों को लक्ष्य में रखकर किया गया शोध-कार्य हिन्दी से नही अपितु संस्कृत भाषा से ही सम्बद्ध कार्य समझना चाहिए। उदाहरणार्थ निम्नोक्त चार ग्रन्थो को मूलतः सस्कृत भाषा ही के शोध-प्रबन्ध समझना चाहिए, यद्यपि इनका अभिव्यक्ति-माध्यम हिन्दी ही है : १. डॉ० नगेन्द्र-

प्रणीत 'रीतिकाल की भूमिका'[1] (१९४९), २. डॉ. भोलाशंकर व्यास प्रणीत 'ध्वनिसम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त' (१९५६), (३) डॉ० सत्यदेव चौधरी प्रणीत 'भारतीय काव्यांग'[2] (१९५९), (४) डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त प्रणीत 'रसगगाधर का शास्त्रीय अध्ययन (१९६२)।

वर्गीकरण की दृष्टि से उपर्युक्त ग्रथो के उपरांत दूसरा स्थान उन ग्रंथों को मिलना चाहिए जिन में एक अथवा अनेक काव्यांगों का अनुशीलन सिद्धान्त-पक्ष के रूप में उस विकसित परम्परा को ही लक्ष्य में रखकर किया गया है जो अधिकाशतः संस्कृत से आती हुई हिन्दी की ओर उन्मुख हो गयी है। इन ग्रन्थो का प्रणयन-क्रम इस प्रकार है—१. डॉ०रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' प्रणीत 'हिन्दी काव्यशास्त्र का विकास' (१९३७), २. डॉ० छैलविहारी 'राकेश' कृत 'साइकोलाजिकल स्टडी आफ रस' (१९५४), तथा ३. 'स्टडीज इन नायक-नायिका-भेद (अंग्रेजी, १९५२, अप्रकाशित), ४. डॉ. ओम्प्रकाश प्रणीत 'हिन्दी साहित्य में अलकार' (१९५६), तथा ५ डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित प्रणीत 'रससिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण' (१९६०)।

इन ग्रन्थो के उपरान्त तीसरा वर्ग उन ग्रन्थों का आता है जिनमें हिन्दी-काव्य के सन्दर्भ में किसी एक काव्यांग का सांगोपांग अनुशीलन व्यवहार-पक्ष के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। ये ग्रन्थ हैं—१. डॉ० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी कृत 'हिन्दी कविता में शृंगार रस का अध्ययन' (१९५५), २. डॉ० शम्भूनाथ-सिंह कृत 'हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास' (१९५८), ३. डॉ० बरसानेलाल चतुर्वेदी कृत 'हिन्दी साहित्य में हास्य रस' (१९५८), ४. डॉ० संसारचन्द्र कृत 'हिन्दी काव्य मे अन्योक्ति' (१९५८), ५. डॉ० व्रजवासीलाल श्रीवास्तव कृत करुणरस : मध्ययुगीन रामकाव्य के परिवेश में (१९६१), ६. डॉ० मिथिलेश-कान्ति कृत 'हिन्दी कविता मे भक्ति-शृंगार का स्वरूप' (१९६२), ७. डॉ० वटेकृष्ण कृत 'हिन्दी काव्य मे वीर रस' (१९६२), ८. डॉ० जगदीशनारायण त्रिपाठी कृत 'आधुनिक हिन्दी-कविता में अलंकार-विधान' (१९६२), डॉ० रामाधार शर्मा कृत 'हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा' (१९६२)। इनके अतिरिक्त डॉ० पूर्णमासी राय कृत 'कृष्णभक्ति में मधुर रस', डॉ० तारा कपूर कृत 'हिन्दी काव्य में करुण रस' आदि कतिपय ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है।

---

१. 'रीतिकाल की भूमिका' लेखक के शोध-प्रबन्ध का पूर्वार्द्ध है।

२. 'भारतीय काव्यांग' लेखक के शोध-प्रबन्ध के प्रत्येक अध्याय की पृष्ठ-भूमियों का संकलन है।

चौथे वर्ग मे उन प्रवन्धो को रख सकते हैं जो एक अथवा अनेक रीति-कालीन आचार्य-कवियो पर लिखे गये है, और उन्ही के अन्तर्गत काव्यसिद्धान्तों की भी चर्चा की गयी है[1]—१. डॉ० नगेन्द्र प्रणीत 'देव और उनकी कविता' (१९४९), २. डॉ० हीरालाल दीक्षित प्रणीत 'आचार्य केशवदास' (१९५४), ३. डॉ० नारायणदास खन्ना प्रणीत 'आचार्य भिखारीदास' (१९५५), ४. डॉ० सत्यदेव चौधरी प्रणीत 'हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य' (१९५९), ५. डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त प्रणीत 'हिन्दी काव्य मे शृंगार-परम्परा और महाकवि विहारी' (१९५९),७. डॉ० रामसागर त्रिपाठी प्रणीत 'मुक्तकाव्य-परम्परा और बिहारी' (१९६०), ८. डॉ० महेन्द्रकुमार प्रणीत 'मतिराम कवि और आचार्य' (१९६०), ९. डॉ० त्रिभुवनसिंह प्रणीत 'महाकवि मतिराम और मध्यकालीन हिन्दी कविता में अलंकरण-प्रवृत्ति' (१९६०), १०. डॉ० विजयपालसिंह प्रणीत 'केशव और उनका साहित्य' (१९६१), ११. डॉ० किरणचन्द्र शर्मा प्रणीत 'केशवदास : जीवनी, कला और कृतित्व' (१९६१)।

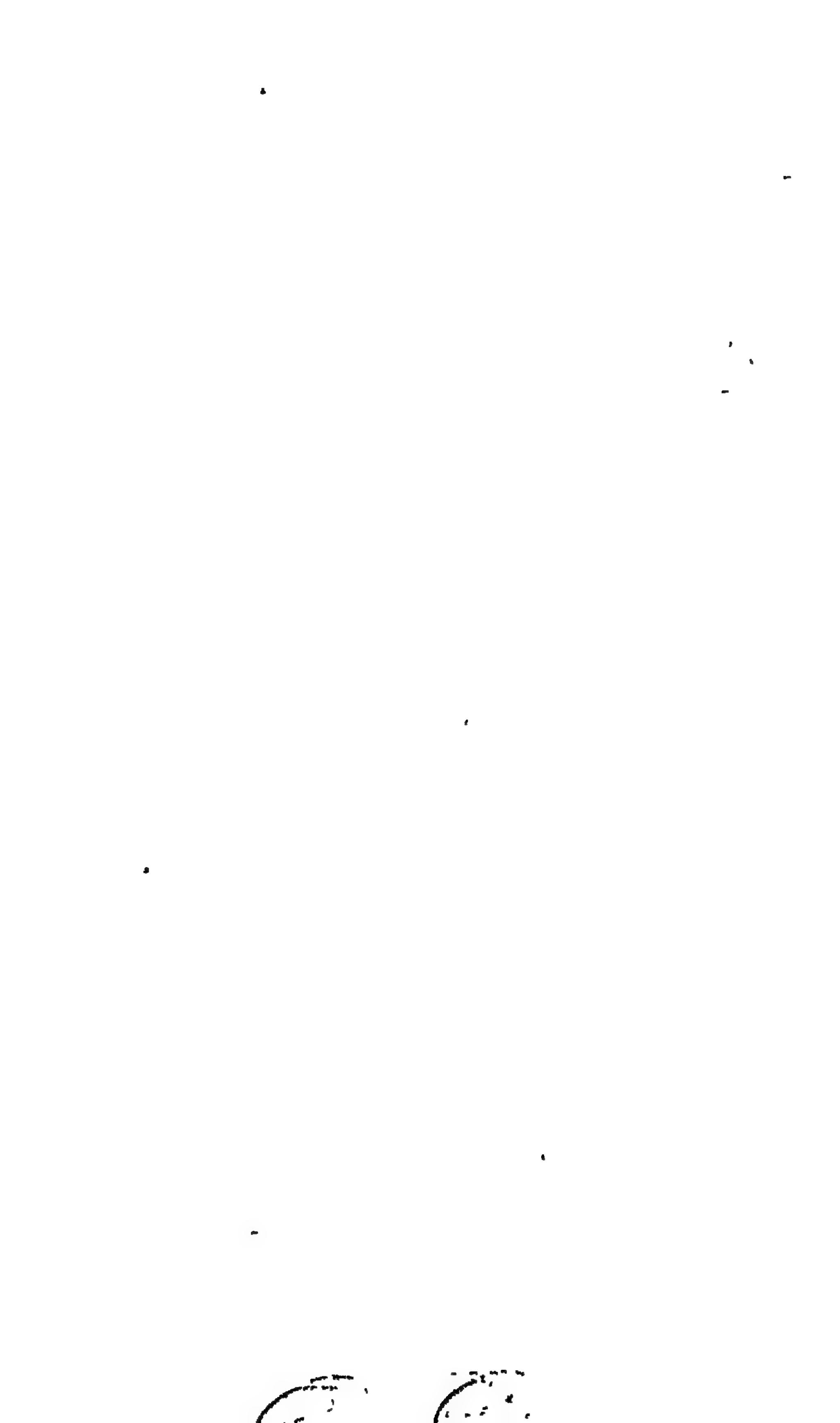
अब शेप तीन शोध-प्रवंध रहते है जो अपनी क्षेत्र-सीमा मे अकेले-अकेले ग्रन्थ है। पहला ग्रन्थ है डॉ० भगीरथ मिश्र कृत 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' (१९४७), दूसरा ग्रन्थ है डॉ. रामलालसिंह प्रणीत 'आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त' (१९५७), और तीसरा ग्रन्थ है डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त प्रणीत 'आधुनिक हिन्दी कवियो के काव्यसिद्धान्त' (१९५९)।

इनमें से कतिपय प्रकाशित ग्रन्थों का सामान्य परिचय इस प्रकार है :

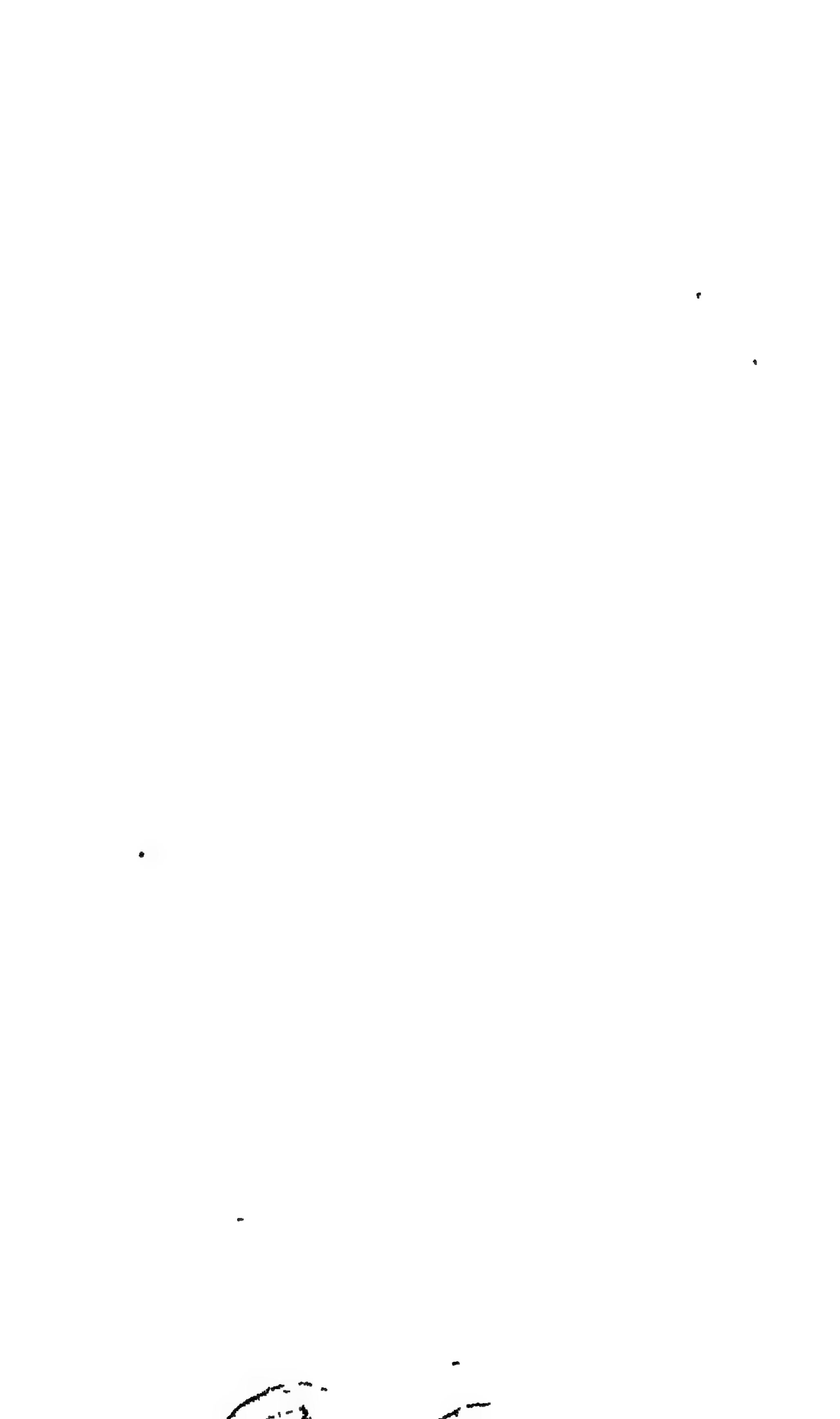
--डॉ० 'रसाल' का प्रकाशित ग्रन्थ 'अलंकारपीयूष' (दो भाग) उनके उपरि-निर्दिष्ट शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी काव्यशास्त्र का विकास' का परिवर्द्धित एवं परिवर्तित रूप कहा जाता है, पर ऐसा प्रतीत होता है कि वह स्वतंत्र अलकार-ग्रन्थ के रूप मे ही परिणत कर दिया गया है। उनके शोध-ग्रन्थ की जो रूपरेखा 'हिन्दी के स्वीकृत शोध-प्रबन्ध' (सम्पादक : डॉ० उदयभानुसिंह) में दी गयी है, वह इस प्रकाशित ग्रन्थ के प्राय: अनुरूप नहीं है। किन्तु जिस रूप में यह प्रस्तुत हुआ है, इसे कन्हैयालाल पोद्दार तथा अर्जुनदास केडिया जैसे पिछली पीढी के अलंकार-निरूपक ग्रन्थो के लगभग समकक्ष उपस्थित किया जा सकता है, इन तीनो में इसका स्थान तीसरा है।

—'रस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन' नामक प्रवन्ध अपने प्रकार का प्रथम प्रयास होने के कारण उल्लेखनीय है, यद्यपि भावी शोधकर्त्ताओं के लिए

1. वस्तुतः इस परम्परा का प्रारम्भ पं० कृष्णशंकर शुक्ल प्रणीत 'केशव की काव्यकला' से समझना चाहिए।



सिद्धान्त-पक्ष



सिद्धान्त-पक्ष

: ६ :

वाचक शब्द और उसके प्रकार

शब्दशक्तियो के आधार पर शब्द के तीन रूप स्वीकार किये जाते हैं—वाचक, लक्ष्यक और व्यंजक। ये तीनो शब्द के रूप है, इसके प्रकार अथवा भेद नही है, क्योकि एक ही शब्द अपनी शक्ति के अनुसार कभी केवल वाचक कहाता है, कभी वाचक और लक्ष्यक दोनो, और कभी वाचक, लक्ष्यक और व्यंजक तीनों। यहाँ विवेच्य केवल वाचक शब्द है।

क. वाचक शब्द—

वाचक शब्द का सम्बन्ध अभिधा शक्ति के साथ है। अभिधा शक्ति वाच्य अर्थ का निर्देश करती है। इस शक्ति के द्वारा वाच्य अर्थ को बताने वाला शब्द वाचक कहाता है। मम्मट के कथनानुसार जो साक्षात् सकेतित अर्थ को बताता है, उसे वाचक शब्द कहते है—साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचक। (का० प्र० २।६)। वाचक शब्द के सम्बन्ध में मम्मट-प्रस्तुत शास्त्रीय चर्चा पर आधारित निम्नोक्त तथ्य उल्लेखनीय है। इनसे विषय के स्पष्टीकरण में सहायता मिलेगी—

(क) प्रत्येक उच्चरित नाद तब तक 'शब्द' (वाचक शब्द) कहाने का अधिकारी नही बनता, जब तक वह किसी 'सकेत' का ग्रहण नही करता, परिणामतः इस नाद अर्थात् ध्वनि मात्र से किसी अर्थ की प्रतीति नही होती। उदाहरणार्थ—'गृह' शब्द हमारे लिए सार्थक होता हुआ भी भारतीय भाषाओं से अनभिज्ञ किसी विदेशी व्यक्ति के लिए शब्द-विशेष न होकर 'नाद' मात्र है।

(ख) हाँ, जब वह नाद किसी संकेत का ग्रहण करता है तब वह किसी अर्थ-विशेष का प्रतिपादन करता है, और तभी वह नाद 'शब्द' कहाने का अधिकारी बनता है।

(ग) जिस शब्द से व्यवधान के बिना जिस अर्थ का सकेत-ग्रहण होता है वह शब्द उस अर्थ का वाचक कहाता है।[1]

---

१. इहाऽगृहीतसंकेतस्य शब्दस्याऽर्थप्रतीतेरभावात् संकेतसहाय एव शब्दोऽर्थ-विशेषं प्रतिपादयति इति यस्य यत्राऽव्यवधानेन संकेतो गृह्यते स तस्य वाचकः।
(का० प्र० २।७ वृत्ति)

निष्कर्षतः वाचक वह शब्द कहाता है जिसके द्वारा किसी अर्थ-विशेष का सकेत-ग्रहण सदा और एक-समान हो सके। यहाँ 'श्लिष्ट' शब्दों के सम्बन्ध में शका की जा सकती है कि वे एक-समान अर्थ के वाचक सदा नही होते, वे विभिन्न अर्थों के वाचक होते है। किन्तु यह शका ही निर्मूल है। 'एकः शब्दः एकार्थवाचक.', एकः शब्दः सकृद् एकमेवार्थं गमयते' इस नियम के अनुसार श्लिष्ट शब्द भी प्रसगानुसार एक समय में केवल एक ही शब्द के वाचक होते है—एक साथ दो-दो, तीन-तीन आदि अर्थों के वाचक नही होते। अस्तु !

ख. वाचक शब्द के प्रकार—

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने [वाचक] शब्द के चार भेद गिनाये हैं—जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा : चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः जातिशब्दाः, गुण-शब्दाः, क्रियाशब्दा, यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः (महाभाष्य २य आह्निक, 'ऋलृक' सूत्र-प्रसग)। वाचक के चार भेदो का उल्लेख रुद्रट, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने भी किया है। मम्मट ने तो यही भेद स्वीकार किये है, किन्तु रुद्रट और विश्वनाथ ने 'यदृच्छा' के स्थान पर 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग किया है। अब इन्ही चारों का स्वरूप प्रस्तुत है। पहले द्रव्य को लेते है।

१—द्रव्य

कई आचार्यों के कथनानुसार मूर्त्त पदार्थ को द्रव्य कहते हैं, अर्थात् ये द्रव्य इन्द्रिय-ग्राह्य होते है। हमारी इन्द्रियाँ इन द्रव्यो को छू, देख, सुन और सूंघ सकती है। इसके विपरीत जाति, गुण और क्रिया ये सभी मूर्त्त नहीं होते, तथा इनका आधार कोई न कोई द्रव्य होता है। प्रत्येक द्रव्य में इनमें से प्रथम दो अथवा तीनों विद्यमान रहते है, किन्तु यह सदा आवश्यक नहीं कि किसी द्रव्य मे ये तीनो ही विद्यमान हो। उदाहरणार्थ, पाषाण में पाषाणत्व जाति और श्वेत-रक्त अथवा श्याम वर्ण गुण तो विद्यमान है, पर उसमें कोई क्रिया विद्यमान नही है, वह सदा निश्चल रहता है। किन्तु फिर भी इसे द्रव्य ही कहेगे। इन सभी मूर्तिमान् द्रव्यो मे विकार अर्थात् परिवर्तन हो सकता है।

केवल मूर्त पदार्थ ही द्रव्य कहाते है—वस्तुत. यह परिभाषा अव्याप्त है। कुछ ऐसे पदार्थ भी है जो द्रव्य तो है पर वे मूर्त नही होते, जैसे दिशा, काल, आकाश, आत्मा, मन आदि। इसके अतिरिक्त इनके आकार-प्रकार में किसी तरह का विकार अर्थात् परिवर्तन भी नही होता। रुद्रट ने इस ओर संकेत

भी किया है कि ये ऐसे द्रव्य है जो नीरूप और अविक्रिय है। किन्तु फिर भी उन्होने द्रव्य की परिभाषा 'मूर्तिमद् द्रव्यम्' ही प्रस्तुत की है:

जातिक्रियागुणानां पृथगाधारोऽत्र मूर्त्तिमद् द्रव्यम्।
दिक्कालाकाशादि तु नीरूपमविक्रियं भवति॥
—काव्यालंकार ७।२

उन्होने द्रव्य के अन्तर्गत नित्य-अनित्य, चर-अचर, सचेतन-अचेतन सभी मूर्त्त एवं अमूर्त्त पदार्थों को गिनाया है:

नित्यानित्यचराचरसचेतनाऽचेतनैर्बहुभिः।
भेदैर्विभिन्नमेतद् द्विधा द्विधा भूरिशो भवति॥
—काव्यालंकार ७।३

द्रव्य के ही प्रसंग में 'यदृच्छा' की चर्चा करना भी अपेक्षित है। इस शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है—यद् ऋच्छयते—गम्यते (अवगम्यते इति यावत्) इति यदृच्छा, अर्थात् जो स्वत.प्रचलित हो जाए उसे 'यदृच्छा' कहते हैं। महाभाष्यकार ने इसके उदाहरण-स्वरूप 'लृतक, ऋफिड, ऋफिड्ड, लृफिड, लृफिड्ड' शब्दो को, तथा मम्मट ने उन्हीं के अनुकरण में 'डित्थ' शब्द को प्रस्तुत किया है। ये सभी निरर्थक होते हुए भी विभिन्न व्यक्तियो के ऐसे नामों का संकेत करते हैं जो स्वत. चल पड़े हो। इधर विश्वनाथ इसी प्रसग मे एक पग और आगे वढे हैं। उन्होने 'यदृच्छा' के स्थान पर 'द्रव्य' को ही स्वीकार करते हुए 'डित्थ, डवित्थ' आदि निरर्थक सज्ञाओ के अतिरिक्त 'हरिहर' आदि सार्थक सज्ञाओं को भी 'द्रव्य' के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया है—द्रव्यशब्दाः एकव्यक्तिवाचिनो हरिहर-डित्थ-डवित्थादय। (सा० द० २य परि०)

इस प्रकार रुद्रट के अनुसार 'द्रव्य' शब्द से अभिप्राय है—एकव्यक्ति-वाची अभिधानो को छोड़ कर शेष सभी मूर्त एव अमूर्त पदार्थ, और विश्वनाथ के अनुसार इसका अभिप्राय है—एक-व्यक्तिवाची अभिधान चाहे वे निरर्थक हो अथवा सार्थक। किन्तु हमारे विचार में द्रव्य के अन्तर्गत रुद्रट और विश्वनाथ-सम्मत सभी पदार्थ अन्तर्भूत करने चाहिएं—मूर्त और अमूर्त दोनो, और मूर्त द्रव्यो के अन्तर्गत न केवल जातिवाचक गृहीत होने चाहिएं, अपितु व्यक्तिवाचक सजाए भी, तथा व्यक्तिवाचक सज्ञाओ के अन्तर्गत निरर्थक और सार्थक दोनो प्रकार के अभिधानों का ग्रहण करना चाहिए। उदाहरणार्थ—(१) गौ, वालक, पर्वत आदि मूर्त पदार्थ (२) डित्थ, हरिहर, हिमालय आदि मूर्त पदार्थ तथा (३) आकाश, वायु, आत्मा, मन आदि अमूर्त पदार्थ, ये सभी

द्रव्य हैं। इनमें से प्रथम वर्ग के शब्द जातिवाचक हैं; द्वितीय वर्ग के व्यक्ति-वाचक है, तथा तृतीय वर्ग के शब्दो को भी व्यक्तिवाचक मानना चाहिए, क्योकि गौ, बालक आदि के समान ये किसी एक जाति का बोध नही कराते, अपितु एक ही पदार्थ का बोध कराते हैं। आकाश अंशी रूप मे तो एक है ही, वायु, आत्मा और मन को भी अंशी रूप में एक ही मानना चाहिए।

उपर्युक्त शब्दो के अतिरिक्त अब भी कुछ ऐसे शब्द बच रहते है जो वक्ष्यमाण गुण, क्रिया और जाति के अन्तर्गत नही आते, जैसे—बाल्य, यौवन, वार्द्धक्य, लावण्य, माधुर्य आदि। द्रव्य को उक्त रूप में मूर्त और अमूर्त पदार्थों का पर्याय मान लेने की स्थिति में इन शब्दो को द्रव्य के अन्तर्गत मानना समुचित नही है। ये किसी न किसी भाव के नाम का बोध कराते है। अतः इनके लिए या तो एक अलग पाँचवाँ शब्द-प्रकार 'भाव' नाम से मानना पडेगा या द्रव्य को 'सज्ञा' का पर्याय मानते हुए द्रव्य की परिभाषा वही करनी होगी जो आधुनिक हिन्दी-व्याकरण-ग्रन्थो में 'सज्ञा' की स्वीकार की जाती है—'जिससे किसी व्यक्ति, जाति अथवा भाव का बोध हो,' और इसी के यही तीन भेद—व्यक्ति, जाति और भाव मानने चाहिएँ। अधिक समुचित यह रहेगा कि द्रव्य अथवाय दृच्छा के स्थान पर 'संज्ञा' नामक शब्द-प्रकार ही स्वीकार कर लिया जाए।

२. गुण

गुण द्रव्य पर अनिवार्यत. आधारित रहता है। इसका द्रव्य के साथ नित्य सम्बन्ध रहता है। प्रत्येक द्रव्य किसी न किसी गुण से अवश्य सम्पन्न होगा। गुण इन्द्रिय-ग्राह्य है। वह अनुमान का विषय नही है। इसके तीन भेद है—सहज, आहार्य तथा आवस्थिक। सहज गुण से तात्पर्य है नित्य धर्म। उदाहरणार्थ—अग्नि मे उष्णता, कौए में कृष्णता आदि। आहार्य गुण कहते हैं उपलब्ध गुण को, जैसे शास्त्र के अभ्यास से पाण्डित्य अथवा वस्त्र में रग आदि। जो गुण अवस्थानुमार परिवर्तित हो जाते है, उन्हे आवस्थिक गुण कहते है, जैसे फलो का लाल रग, केशो की शुक्लता आदि।[1]

३. क्रिया

क्रिया का अनुमान द्रव्य के विकार से होता है। द्रव्य के विकार से तात्पर्य है पदार्थ की कोई चेष्टा। वही चेष्टा उसी नाम की क्रिया कहाती है।

---

१. द्रव्यादपृथग्भूतो भवति गुण. सततमिन्द्रियग्राह्यः।
सहजाहार्यावस्थिकभावविशेषादयं त्रेधा॥ रुद्रट, काव्यालकार ७।४

क्रिया सदा 'धात्वर्थ' होती है, अर्थात् प्रत्येक क्रिया अपनी धातु के ही मूल अर्थ से सम्बद्ध रहती है।[१] उदाहरणार्थ—पचति, गच्छति, स्वपिति, जागर्ति आदि रूप क्रमशः पच्, गम् स्वप् और जागृ धातुओ के अर्थो से सम्बद्ध है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मम्मट और विश्वनाथ ने क्रिया से तात्पर्य 'पचति, गच्छति' आदि न लेकर 'पाक, गमन' आदि लिया है। यहाँ 'पाक' आदि शब्द समग्र क्रियाकलाप के सूचक है: पूर्वापरीभूतावयव क्रियारूप.(का० प्र०, २य उ०), अर्थात् प्रारम्भ से लेकर अन्त तक पाक-सम्बन्धी सभी प्रक्रिया। उदाहरणार्थ, भोजन-विषयक कच्ची सामग्री से पूरित पात्र को आग पर चढाने से लेकर उसे नीचे उतारने तक का नाम पाक है: अधिश्रयणाऽधःश्रयणपर्यन्तः क्रियाकलाप. पाकशब्देनोच्यते (महाभाष्य)। इनसे पूर्व यास्क ने इसी अर्थ के लिये 'आख्यात' शब्द का प्रयोग किया था।[२] यद्यपि उन्हे 'आख्यात' शब्द से क्रिया के अतिरिक्त गौण रूप से द्रव्य (यदृच्छा शब्द) भी अभीष्ट है, किन्तु क्रिया की प्रधानता रहने के कारण वे आख्यात को ही भावप्रधान मानते है। 'भाव' शब्द यहाँ क्रिया का पर्यायवाची है: मम्मट के अनुसार ये दोनो रूप—'पचति' और 'पाक'—क्रिया है। यास्क के अनुरूप मम्मट भी क्रिया और भाव को परस्पर पर्यायवाची शब्द मानते है। उनका यह मन्तव्य वैयाकरणो द्वारा भी अनुमोदित है—धात्वर्थो हि क्रिया ज्ञेयो भाव इत्यभिधीयते। (वाक्यपदीय), अस्तु! ये दोनो रूप क्रिया अथवा भाव कहाते है:

(क) भावप्रधानमाख्यातम्।[३]

(ख) तद् यत्रोभे भावप्रधाने भवत.। (निरुक्त १।१।६,१०)

मम्मट ने भाव के दो प्रकार गिनाये है—सिद्धावस्थापन्नाभाव और साध्यावस्थापन्न भाव। पच् धातु से निर्मित 'पाक' शब्द को उन्होंने सिद्धावस्थापन्न भाव कहा है, और 'पचति' को साध्यावस्थापन्न भाव। इधर साध्य

---

१. नित्यं क्रियानुमेया द्रव्यविकारेण भवति धात्वर्थः।

—रुद्रट, काव्यालंकार ७।५

२. पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाऽऽचष्टे व्रजति, पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम्।

—निरुक्त १।१।११

३. अर्थात्—(क) आख्यायते प्रधानभावेन क्रिया (भावः), गौणत्वेन द्रव्यं च यत्र तद् आख्यातम्।

(ख) वाक्ये ह्याख्यातं प्रधान तदर्थत्वात्, गुणीभूतं नाम तदर्थस्य भावनिष्पत्ती अङ्गभूतत्वात्। (निरुक्त १।१।१०, दुर्गाचार्य व्याख्या)

को उन्होने गुण अर्थात् विशेषण का पर्याय माना है। मम्मट के अनुसार 'पचति' को इस आधार पर साध्य (गुण) मानना चाहिए कि 'पचति' शब्द स्वय एक विशेषण है, क्योकि इसमें प्रयुक्त 'ति' प्रत्यय पच् धातु का विशेषण है। 'पचति' का अर्थ है एककर्तृक वर्तमानकालिक पाक। इस प्रकार मम्मट आदि के विचार में 'पाक' और 'पचति' आदि दोनो प्रकार के रूप क्रिया (भाव) है—एक सिद्ध है और दूसरा साध्य।

किन्तु इस सम्बन्ध में हमारा विचार है कि यद्यपि 'पाक, गमन' आदि शब्दो में क्रिया का—या यो कहिए भाव का—अंश निहित है, तो भी विषय के स्पष्टीकरण के लिए इसे क्रिया नही कहना चाहिए। इन्हे आधुनिक हिन्दी-व्याकरणो के अनुरूप 'भाव', और अधिक स्पष्ट शब्दों में कहें तो भाववाचक संज्ञा, कहना चाहिए, तथा 'पचति, गच्छति' आदि रूपो को ही क्रिया नाम से अभिहित करना चाहिए।

शेष रहा 'आख्यात' का प्रश्न। जैसा कि ऊपर लिख आये हैं 'आख्यात' से यास्क के अनुसार दोनों रूप ग्रहण किये जाते है—प्रधान रूप से क्रिया, और गौण रूप से द्रव्य (अर्थात् कर्त्ता)। इसका कारण यह है कि 'पचति' कहने से अर्थाववोध तो होता ही है, साथ ही क्रिया की प्रधानता और द्रव्य (कर्त्ता) की गौणता भी लक्षित होती है, किन्तु इसके विपरीत 'रामः' अथवा 'असौ' आदि द्रव्यवाचक (सज्ञा अथवा सर्वनामवाचक) शब्दो के कहने से अर्थाववोध तक नही हो सकता, क्योकि इनमें क्रिया समाविष्ट नही है। इस प्रकार इन दो उदाहरणो के आधार पर कह सकते है कि अकेले द्रव्यवाचक शब्दो मे अभिव्यक्ति की क्षमता नही होती, जवकि अकेले क्रियावाचक शब्दो में यह क्षमता होती है। इसी आधार पर यह फलित माना जाता है कि 'पचति, गच्छति' आदि शब्दो मे क्रिया की प्रधानता माननी चाहिए, और द्रव्य की गौणता। ठीक इसी प्रकार 'पाक, गमन' आदि शब्दो को भी आख्यात कह सकने है, क्योंकि इनसे क्रिया की प्रतीति तो होती है, साथ ही 'पकाने वाला, जाने वाला' आदि कर्त्ताओ की ओर भी अनायास ध्यान चला जाता है। अस्तु!

निष्कर्षतः यास्क के अनुसार यद्यपि आख्यात से तात्पर्य है—प्रधान रूप से क्रिया (अथवा भाव) और गौण रूप से द्रव्य, जैसे पचति और पाक। किन्तु फिर भी विषय के सुगम अववोध के लिए 'पचति' को क्रिया कहना चाहिए, और 'पाक' को भाववाचक संज्ञा। यास्क, मम्मट आदि के अनुसार

क्रिया और भाव शब्द पर्यायवाची है, किन्तु आज इनका प्रचलित अर्थ भिन्न-भिन्न है।

४. जाति

भिन्न क्रिया और गुण वाले [होने के कारण] अनेक प्रकार के शरीर वाले भी वहुत से द्रव्यो में जिस तत्त्व के कारण समान बुद्धि पैदा होती है उसे जाति कहते है।[1]

कई वालको अथवा गौओ अथवा पर्वतो मे गुण और अथवा क्रिया के कारण यद्यपि विभिन्नता रहती है, तो भी इनमें एक तत्त्व (तथ्य) समान है, वह है इनकी वालकत्व जाति, गोत्व जाति अथवा पर्वतत्व जाति, जिसके कारण ये इन्ही नामो से पुकारे जाते है। इसी तथ्य को मम्मट ने दूसरे प्रकार से कहा है—'गुण, क्रिया, और यदृच्छा शब्द वस्तुत होते तो एक है, किन्तु आश्रय-भेद से इनमें भेद प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, एक ही मुख का प्रतिविम्व दर्पण, तेल आदि मे भिन्न-भिन्न रूप से दिखायी देता है'

गुणक्रियायदृच्छाशब्दानां वस्तुतः एकरूपाणामप्याश्रयभेदाद् भेद इव लक्ष्यते। यथैकस्य मुखस्य खड्गमुकुरतैलाद्यालम्बनभेदात्। (का०प्र० २।१०, वृ०) और यही तथ्य भर्तृहरि ने अपनी विशिष्ट शैली मे निम्न शब्दो में प्रकट किया है, किसी पशु को जो स्वरूप से गौ है यह नही कह सकते कि 'वह गौ है,' और न यह कह सकते है कि 'वह गौ नही है।' फिर भी यदि उसे 'गौ कहते हैं' तो उसमे [सकेतित] गोत्व जाति के ही सम्वन्ध से—न हि गौ स्वरूपेण गौः नाप्यगौः। गोत्वाऽभिसम्बन्धात्तु गौः। (वाक्यपदीय)।



'जाति' के प्रसंग में एक अन्य चर्चा भी विचारणीय है। मम्मट और विश्वनाथ ने कुछ विद्वानो का मन्तव्य उल्लिखित करते हुए कहा है कि वे विद्वान् सकेतित (वाचक) शब्द के उक्त चार भेद—गुण, क्रिया, द्रव्य और जाति—न मानकर केवल एक भेद स्वीकार करते है 'जाति'—संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा (का० प्र०१।१०)। इस सम्वन्ध में उनका तर्क यह है कि जाति तो 'जाति' है ही, गुण, क्रिया और द्रव्य इन तीनो में भी 'जाति' की ही सत्ता विद्यमान है। उदाहरणार्थ—

१. हिम, दुग्ध, शंख आदि का शुक्ल वर्ण (अर्थात् गुण) मूलतः भिन्न

(१) भिन्नक्रियागुणेष्वपि बहुषु द्रव्येषु चित्रगात्रेषु।
एकाकारा बुद्धिर्भवति यतः सा भवेज्जातिः॥ रुद्रट, काव्यालंकार ७।६

भिन्न है, तो भी ये शुक्ल कहाते है, क्योंकि इन सब में 'शुक्लत्व' जाति विद्यमान है।

२. इसी प्रकार गुड, तण्डुल आदि का पाक (अर्थात् क्रिया) यद्यपि भिन्न भिन्न प्रकार का होता है तो भी 'पाकत्व' जाति के ही कारण ये सभी भिन्न विधियाँ 'पाक' कहलाती है।

३. अब शब्द के तीसरे भेद द्रव्य को लीजिए। इस प्रसग में तीन तथ्य अवेक्षणीय है :

(क) यदि किसी एक बालक, एक वृद्ध और एक तोते द्वारा उच्चरित किसी व्यक्ति का 'डित्थ' नाम इनके उच्चारणो में भिन्न भिन्न प्रकार का होता है,

(ख) यदि स्वयं डित्थ नामक कोई व्यक्ति क्षण-क्षण मे परिवर्तित होते रहने पर भी 'डित्थ' नाम से ही पुकारा जाता है, और

(ग) यदि 'डित्थ' नाम के अनेक व्यक्ति एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी इसी एक नाम से पुकारे जाते हैं[1]—

—तो इसका एकमात्र कारण 'डित्थत्व' जाति ही है। इसी प्रकार स्वयं जातिवाचक बालक, गौ आदि शब्दो की भी यही स्थिति है। अनेक बालक अथवा गौए परस्पर भिन्न होते हुए भी यदि बालक, गौ आदि ही कहाते हैं तो इसका कारण भी बालकत्व और गोत्व आदि जाति ही है। अतः ससार भर के सभी सकेतित शब्द केवल 'जाति' नाम से ही पुकारे जाने चाहिएं; द्रव्य, गुण और क्रिया नाम से नही।

निस्सन्देह इन तर्कों मे सूक्ष्मता है, और इन्ही पर आधारित उक्त मान्यता नितान्त अस्वीकार भी नही की जा सकती, किन्तु फिर भी यह मान्यता व्यावहारिक न होने के कारण मनस्तोषक नही है, क्योकि यदि सभी प्रकार के शब्दों को 'जाति' नाम से पुकारा जाएगा तो फिर वाचक शब्दों का वर्गीकरण करने से क्या लाभ ? तब तो वाचक (सकेतित) शब्द और जाति को पर्यायवाची ही मान लेना चाहिए। किन्तु व्यवहार एव सुविधा दोनो दृष्टियो से ससार भर के वाचक शब्दो का वर्गीकरण करना अत्यन्त अनिवार्य है, विशेषत तभी जबकि भारतीय प्रज्ञा इस दिशा में अत्यन्त जागरूक एवं दक्ष है, और इस जागरूकता तथा दक्षता का प्रमाण यह है कि भारतीय आचार्यों ने प्राय. सभी शास्त्रीय प्रसंगों को अनेक भेदो-उपभेदो, रूपो-उपरूपो मे वर्गीकृत एव विभाजित किया है।

उक्त रूप में जाति-सम्बन्धी शास्त्रीय चर्चा प्रस्तुत करने के उपरान्त

---

१. इस तथ्य को मम्मट ने प्रस्तुत नहीं किया।

एक शंका उत्पन्न होती है कि शब्द-विभाजन-प्रसग में इस शास्त्रीय 'जाति' की आवश्यकता है भी। यदि 'जाति' से तात्पर्य 'वालकत्व, गोत्व' आदि है तब तो उसकी आवश्यकता नही है, क्योकि अपने इसी पारिभाषिक अर्थ के सूचक ये शब्द व्यावहारिक भाषा में प्रयुक्त नही होते, और जब इसी प्रकार की शास्त्रीय चर्चाओ में जव ये 'वालकत्व, गोत्व' आदि शब्द प्रयुक्त किये जाते है तो वस्तुतः ये 'वालक, गो' आदि द्रव्यों के भाव है—भाव से यहां तात्पर्य वही है जो उपर्युक्त 'भाववाचक' संज्ञा के 'भाव' शब्द का है, अर्थात् 'एब्स्ट्रैक्ट'। और यदि 'जाति' से तात्पर्य 'वालक, गो' आदि शब्दो से ही है, तो फिर इनका अन्तर्भाव द्रव्य (अथवा सज्ञा) में किया जाना चाहिए। हमारा विचार है कि जाति नामक शब्द-प्रकार स्वतन्त्र रूप से स्वीकार न किया जाकर इसे द्रव्य (सज्ञा) का ही एक भेद मान लेना चाहिए, क्योकि पतञ्जलि, मम्मट आदि की 'जाति' वस्तुतः द्रव्य की—'जातिवाचक संज्ञाओ'—की निर्णायक आधार ही है, स्वय कोई स्वतन्त्र शब्द-प्रकार नही है। अस्तु !

●

इस प्रकार वाचक शब्द के शेष तीन प्रकार स्वीकार कर लेने के उपरान्त 'अव्यय' शब्द वच रहते है। हमारा विचार है कि वाचक शब्द के जितने वर्ग (और उनके भेद-उपभेद) बन सकें उनमें इसे विभक्त कर देना चाहिए। इस दृष्टि से आधुनिक हिन्दी-व्याकरणों के वाचक शब्द के निम्नोक्त छः भेद (और उनके उपभेद) अत्यन्त उपादेय हैं—संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, क्रिया-विशेषण और अव्यय। हाँ, यदि चाहें तो संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण को यास्क के अनुसार पहले केवल 'नाम' भी कह सकते हैं,[1] तथा किन्हीं आधुनिक हिन्दी-व्याकरणकारों के अनुरूप क्रियाविशेषण को अव्यय का एक रूप मान सकते हैं।



---

१. सत्त्वप्रधानानि नामानि। (निरुक्त १।१।६)
[लिंगसंख्ययोरत्र सद्भावः इति सत्त्वम्। प्रकृतिः, प्रत्ययः, विभक्तिरिति त्रेधा विभज्जमानम् एतावदेवैतन्नाम।]—दुर्गाचार्यव्याख्या
अर्थात्, लिंग और संख्या तथा विभक्ति ये तीनों एकत्र संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण से सम्वद्ध रहते हैं, क्रिया से नहीं।

: ७ :

रसाभिव्यक्ति के साधन

रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध मे भरत का प्रख्यात सिद्धान्त-कथन है—विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः। (ना० शा० ६ठ अ० पृष्ठ ७१) अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति (अभिव्यक्ति) होती है।[1] इस कथन से यह स्पष्टतः ज्ञात नही होता कि उक्त तीनो तत्त्वो के परस्पर-सयोग द्वारा रसाभिव्यक्ति होती है, अथवा इन तीनो के किसी अन्य तत्त्व के साथ संयोग द्वारा। किन्तु इसी प्रसग मे भरत की अपनी व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थायीभाव इन तीनो तत्त्वो के सयोग द्वारा रस रूप को प्राप्त करते है: '× × × नानाभावोपहिताः स्थायिनः × × ×।' अत. उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि सहृदयों का स्थायिभाव जब विभाव, अनुभाव और संचारिभाव का सयोग प्राप्त कर लेता है तो रस रूप मे निष्पन्न (व्यक्त) हो जाता है।[2] दूसरे शब्दो में, विभावादि के संयोग को आपन्न स्थायिभाव का अपर नाम रस है। इस प्रकार रसनिष्पत्ति के तीन साधन हैं—विभाव, अनुभाव और संचारिभाव, और रसाभिव्यक्ति साध्य है। स्वय स्थायिभाव साधन नही है, क्योकि यही स्वय रस रूप मे अभिव्यक्त, यो कहिए परिणत, होता है।

---

१. भरत के उक्त सूत्र में प्रयुक्त 'रसनिष्पत्ति' शब्द की अनेक रूपों में व्याख्याएं प्रस्तुत की गयीं। अभिनवगुप्त ने रसनिष्पत्ति का अर्थ 'रसाभिव्यक्ति' किया है। 'अभिव्यक्ति' शब्द में 'व्यक्ति' का अर्थ है व्यञ्जना [शब्दशक्ति] द्वारा प्राप्त अर्थ अर्थात् व्यग्यार्थ। अभिनवगुप्त ने रस को व्यंग्यार्थ पर समाश्रित मानते हुए 'रसनिष्पत्ति' का अर्थ 'रसाभिव्यक्ति' माना है।

२. विभावेनऽनुभावेन व्यक्त. संचारिणा तथा।

रसतामेति रत्यादि. स्थायिभावः सचेतसाम्॥ सा०द०३।१

तुलनार्थ—का० प्र० ४। २८

स्थायिभाव तथा उक्त तीनो साधनो का स्वरूप इस प्रकार है :

स्थायिभाव—

सहृदय के अन्तःकरण मे जो मनोविकार वासना रूप से सदा विद्यमान रहते है तथा जिन्हे अन्य कोई भी अविरुद्ध अथवा विरुद्ध भाव दबा नही सकता उन्हे स्थायिभाव कहते है। यही स्थायिभाव ही [रस रूप] आस्वाद का अकुरकन्द अर्थात् मूलभूत है :

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति संमतः॥ सा० द० ३।१७४

स्थायिभावो की सख्या सामान्यतः नौ मानी जाती है—रति, हास शोक, उत्साह, क्रोध, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद। कई आचार्य निर्वेद को स्वीकार नही करते। उनके अनुसार स्थायिभाव आठ है। ये क्रमश निम्नोक्त रसो के रूप में निष्पन्न (अथवा अभिव्यक्त) होते है—शृगार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त। इनके अतिरिक्त एक अन्य रस वत्सल भी माना जाता है जिसका स्थायिभाव 'वात्सल्य' है।

रस का स्थायिभाव के साथ सम्बन्ध—जैसा कि ऊपर कहा गया है कि रति आदि स्थायिभाव सहृदय के अन्त करण में वासना रूप से सदा विद्यमान रहते है, अभिनवगुप्त और उनके अनुयायियो के मत में ये उस प्रकार सदा विद्यमान रहते है जिस प्रकार मिट्टी मे गन्ध सदा विद्यमान रहता है। जिस प्रकार मिट्टी मे पूर्व-विद्यमान गन्ध जल का सयोग पाकर प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार स्थायिभाव भी विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के सयोग से व्यक्त होने पर साहित्यिक भाषा में 'रस' नाम से पुकारे जाते है। एक अन्य लौकिक उदाहरण से यह कथन और अधिक स्पष्ट हो जाएगा—जिस प्रकार किसी खट्टे पदार्थ के सयोग से दूध 'दही' के रूप मे परिणत हो जाता है, उसी प्रकार विभावादि के सयोग से स्थायिभाव अपने चर्व्यमाण रूप में परिणत होकर 'रस' नाम से अभिहित होते है।[1]

दूसरे शब्दो मे, अन्त:करण मे वासना रूप से स्थित रत्यादि तभी तक स्थायिभाव कहे जाते है, जब तक वे विभावादि द्वारा चर्व्यमाण अवस्था तक नही पहुँच पाते। इसी अवस्था को पहुँचते ही उनका नाम 'रस' हो जाता है, अब वे स्थायिभाव नही कहाते।

स्पष्ट है कि स्थायिभाव तो पूर्वसिद्ध है, पर रस पूर्वसिद्ध नही है। अतः स्थायिभावो की रस रूप मे अभिव्यक्ति उस प्रकार नही मानी जाती, जिस प्रकार अन्धकारस्थ पूर्वविद्यमान घट दीप के प्रकाश के द्वारा घट रूप में प्रकट

होता है।[२] अन्धकारस्थ और प्रकाशस्थ दोनों ही घट एक हैं, पर वासना रूप मे स्थित स्थायिभाव और चर्व्यमाणावस्थापन्न स्थायिभाव दोनो अलग-अलग हैं। पहले का नाम स्थायिभाव है, और दूसरे का नाम रस।

अब विभावादि तीनों साधनों का स्वरूप प्रस्तुत है :

१. विभाव—

लोक में जो पदार्थ सामाजिक के हृदय में वासना रूप से स्थित रति, उत्साह, शोक आदि भावो के उद्‌बोधक है, वे काव्य-नाटकादि में वर्णित होने पर शास्त्रीय शब्दो मे विभाव कहाते है—'रत्याद्य् द्बोधका लोके विभावा. काव्यनाट्ययोः (सा०द० ३।२८)। विभाव का अर्थ है कारण विभाव सामाजिक के हृदयस्थित रत्यादि स्थायिभावो को उद्बोधित करते है, उनका विभावन करते है, उन्हे आस्वाद-योग्य वनाते है। दूसरे शब्दो में, ये रस को व्यक्त करने के कारण है। विभाव के दो भेद हैं—आलम्बनविभाव और उद्दीपनविभाव।

आलम्बनविभाव—काव्य-नाटकादि में वर्णित जिन पात्रो का आलम्बन करके सामाजिक के रत्यादि स्थायिभाव रसरूप में अभिव्यक्त (परिणत) होते है, उन्हे आलम्वनविभाव कहते है। जैसे शृगार रस में नायक-नायिका आदि। आलम्बनो नायिकादिस्तमालम्ब्य रसोद्‌गमात् (सा० द०—३,२९) आलम्बन-विभाव के दो भेद है, विषय और आश्रय। विपय को 'आलम्बन' भी कहते हैं। जिस पात्र के प्रति किसी के भाव जाग्रत होते है वह आलम्बन कहाता है, और जिस पात्र मे किसी के प्रति भाव जाग्रत होते है वह आश्रय कहाता है।[१] उदाहरणार्थ, शकु तला को देख दुष्यन्त के हृदय मे उसके प्रति रतिभाव जाग्रत हो जाने पर शकुन्तला को 'आलम्वन' कहेगे और दुष्यन्त को आश्रय, तथा ये दोनो पात्र आलम्बन-विभाव कहाते है, और यही दोनो सामाजिक के स्थायिभावो को रसावस्था तक पहुचाने के कारण हैं।

उद्दीपनविभाव—उद्दीपनविभाव वे कहाते है जो रस को उद्दीप्त करते हैं : उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये। (सा० द०, ३,१३१)। ऊपर कहा जा चुका है कि विभावादि के संयोग से रत्यादि स्थायिभाव रस रूप में

१, २. व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तरपरिणतो व्यक्तीकृत एव रसः, न तु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो व्यज्यते। (सा० द० ३।१, वृत्ति)

३. आद्योऽपि द्विविधः विपयाश्रयभेदाद्। यमुद्दिश्य रत्यादिः प्रवर्तते सोऽस्य विपयः। आश्रयस्तु आधारः। (साहित्यकौमुदी, पृष्ठ २९)

निष्पन्न होते हैं। अतः विश्वनाथ के उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि उद्दीपन विभाव वे कहाते है, जो रत्यादि स्थायिभावों को उद्दीप्त करके उनकी आस्वादन-योग्यता बढाते है और इस प्रकार उन्हे रसावस्था तक पहुचाने मे सहायक होते है।

उद्दीपनविभाव दो प्रकार के माने गये है—(१)आलम्बन-गत चेष्टाएं, (२) बाह्य वातावरण—आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा। (सा०द० ३,१३२) यहाँ 'आलम्बन' शब्द से आचार्य विश्वनाथ का तात्पर्य आलम्बन-विभाव के दोनो भेदो (आलम्बन और आश्रय) से नही है अपितु केवल प्रथम भेद 'आलम्बन' से है। आलम्बन की वे बाह्य चेष्टाए जो आश्रय के रति आदि स्थायिभावो को जाग्रत करके उन्हे उद्दीप्त करती है, वे 'उद्दीपनविभाव' कहाती हैं। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक दृश्य इत्यादि भी आश्रय के स्थायिभावो को उद्दीप्त करने के कारण उद्दीपनविभाव कहाते है। उदाहरणार्थ—

(१) शृंगार रस में दुष्यन्त (आश्रय) के रतिभाव को अधिक तीव्र करने वाली शकुन्तला (आलम्बन) की कटाक्ष, भुजा-विक्षेप आदि बाह्य चेष्टाए, रौद्र रस में परशुराम के क्रोध को उद्दीप्त करने वाली लक्ष्मण की व्यग्योक्तिया, भयानक रस में भीत पुरुप को अधिक भयभीत करने वाला सिंह का गर्जन, मुख-विकृति, झपट्टा मारने की क्रियाए आदि आलम्बन-गत चेष्टाए उद्दीपन-विभाव कहाती है।

(२) शृंगार रस में नदी-तट, पुष्पवाटिका, चांदनीरात इत्यादि, भयानक रस में घना वन, हिंसक पशुओ की आवाज़े, आधे मार्ग में ही रात्रि पड़ जाना आदि बाह्य वातावरण है, जो कि आश्रय के स्थायिभावो को उद्दीप्त करता है। अत. यह भी 'उद्दीपनविभाव' कहाता है।



यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आलम्बनविभाव (नायक, नायिका, प्रतिनायक इत्यादि पात्र) सामाजिक के हृदय में वासनारूप से स्थित रत्यादि स्थायिभाव के उद्बोधक कारण है, और उद्दीपनविभाव उन उद्बुद्ध भावों को उत्तेजित करते है, अभिवृद्ध करते है, उन्हे उद्बुद्ध नही करते। यहां एक शंका उत्पन्न होती है कि यदि इन्हे उद्बोधक कारण नही मान सकते, तो फिर इन्हे विभाव (कारण) का एक रूप क्यो माना जाता है ? इसका समाधान यह है कि यदि कोई उद्बुद्ध स्थायिभाव ठीक रूप से उत्तेजित न हो, तो वह अनुत्पन्न के ही समान समझा जाता है। वह अंकुर किस काम का, जिसे जल से सीचा न

जाए। वह मुरझा जाएगा, अतः उसका उद्बुद्ध होना या न होना एक-समान है। शकुन्तला को देख दुष्यन्त के हृदय में रतिभाव उद्बुद्ध हो तो गया, पर यदि उसे शकुन्तला के हाव-भावो तथा वाह्य वातावरण से उत्तेजना न मिली तो वह पनप नही सकेगा। अत॰ वह अनुद्बुद्ध के ही समान माना जाएगा। यही कारण है कि उद्दीपनविभावो को उद्बोधक कारण स्वीकार न करते हुए भी 'विभाव' का एक भेद मान लिया जाता है।

२. अनुभाव

रत्यादि स्थायिभावो को प्रकाशित करने वाली आश्रय की वाह्य चेष्टाएं अनुभाव कहाती है।

अनुभाव का शाब्दिक अर्थ है—भावमनु अनुभावः, अर्थात् जो रत्यादि स्थायिभावो के वाद उत्पन्न होते है। अथवा—अनुभावयन्ति इति अनुभावः, अर्थात् जो उत्पन्न रत्यादि स्थायिभावो का अनुभव कराते है। स्पष्टत. आश्रय की वाह्य चेष्टाए स्थायिभावो के उद्बुद्ध हो जाने के वाद उत्पन्न होती हैं, तथा ये चेष्टाए उद्बुद्ध स्थायिभावो का अनुभव भी कराती है, तभी इन्हे 'अनुभाव' सज्ञा दी गयी है। अतः जो भावो के कार्य है, अथवा जिनके द्वारा रत्यादि भावो का अनुभव होता है वे 'अनुभाव' कहाते है। जिसे लोक में कार्य कहते है, उसे काव्य मे अनुभाव कहते है।

उदाहरणार्थ—विरह-व्याकुल नायक द्वारा सिसकिया भरना, अपने वाल नोचना, आखे फाड़े शून्य की ओर ताकना आदि वाह्य चेष्टाए, जो लोक मे कार्य कही जाती है, काव्य-नाटक मे वर्णित अथवा दर्शित होने पर, अनुभाव कहाती है। रति जाग्रत होने पर दुष्यन्त का सानुराग अवलोकन, अंगसंचालन, भ्रूविक्षेप इत्यादि, क्रोध जाग्रत होने पर परशुराम का कठोर शब्दोच्चारण, परशु उठाना, आँखे रक्त हो जाना इत्यादि, ये सभी आश्रयगत वाह्य चेष्टाए अनुभाव कहाती है। स्पष्ट है कि ये चेष्टाए दुष्यन्त अथवा परशुराम में क्रमशः रति तथा क्रोध स्थायिभावो के उद्बुद्ध होने के वाद उत्पन्न हुई है, अथवा इन्ही चेष्टाओ से हम अनुभव कर पाते है कि उक्त दोनो आश्रयो मे क्रमशः रति तथा क्रोध जाग्रत हो गये है, अत. ये अनुभाव कहाती है। विश्वनाथ ने अनुभाव का निम्नोक्त लक्षण प्रस्तुत किया है—

उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः॥

सा० द० ३।१३२, १३३

अर्थात् अपने-अपने कारणो (आलम्बन तथा उद्दीपन विभावो) से हृदय में जाग्रत रत्यादि भावो को वाह्यतः प्रकाशित करने वाला कार्य 'अनुभाव' कहाता है।

अनुभाव के चार रूप माने गये है—आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक।

—आंगिक से तात्पर्य है शरीर-सम्वन्धी चेष्टाए।

—वाग्व्यापार को वाचिक अनुभाव कहते है।

—वेशभूषा, अलकरण, साज-सज्जा आदि का नाम आहार्य अनुभाव है।

—सत्त्व के योग से उत्पन्न कायिक चेष्टाए सात्त्विक अनुभाव कहाती हैं।[1] इन्हे सात्त्विक भाव भी कहते है। सत्त्व कहते है रजोगुण और तमोगुण से अस्पृष्ट मन को, ऐसे मन में उत्पन्न विकारो से स्वत प्रादुर्भूत कायिक प्रतिक्रिया को सात्त्विक अनुभाव कहते है। ये आठ माने गये है—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय,।[2]

अनुभाव के उक्त चार रूपो में से प्रथम तीन अनुभाव 'यत्नज' कहाते है, क्योकि नाटक में तो इनके निर्वहण मे आश्रय को चेष्टा करनी पड़ती है, और काव्य मे ये शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किये जाते है, किन्तु सात्त्विक अनुभाव अयत्नज कहाते है, क्योकि आश्रय को इनके लिए कोई वाह्य चेष्टा नही करनी पडती। उक्त स्तम्भ आदि सत्त्व (मन) से स्वत प्रादुर्भूत होते है, अत. आश्रय यदि चाहे कि इन्हे प्रादुर्भूत न होने दे, अथवा प्रादुर्भूत होने पर इन्हे रोक ले तो वह ऐसा नही कर सकता।

इसी प्रसंग मे शका उपस्थित होती है कि क्या प्रथम तीन अनुभाव—आंगिक, वाचिक और आहार्य सत्त्व के योग से उत्पन्न नही होते। इसका उत्तर है—हाँ, नही होते। क्योकि स्तम्भ, विवर्णता आदि सात्त्विक भावो के लिए

---

१. रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते। तद्योगात् प्रभवन्तीति सात्त्विकाः।

२. स्तम्भ और प्रलय दोनों स्थितियों में आश्रय चेष्टाशून्य हो जाता है। किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि स्तम्भ की स्थिति में उसे चेष्टा न कर सकने का ज्ञान रहता है और प्रलय कि स्थिति में उसे यह ज्ञान नहीं रहता। उदाहरणार्थ, स्तम्भ का यह रूप देखिए—

देखि सीय सौम्य सुख पावा।
हृदय सराहत वचन न आवा॥ तुलसी

तो सत्त्व (मन की समाहिति) अनिवार्य है, किन्तु आंगिक आदि तीनों अनुभावों का निर्वहण अन्यमनस्क होते हुए भी सम्भव है।



अनुभाव का प्रसंग समाप्त करने से पूर्व एक शका का निवारण कर लेना आवश्यक है। क्या केवल आश्रय की वाह्य चेष्टाओ को अनुभाव की संज्ञा देनी चाहिए, अथवा आश्रय और आलम्बन दोनों की? इसका उत्तर है कि केवल आश्रय की। आश्रय मे आलम्बन के प्रति भाव उत्पन्न होता है। पर यह आवश्यक नही कि एक पात्र सदा ही आश्रय बना रहे और दूसरा सदा ही आलम्बन। अगले ही क्षण उनकी स्थिति बदल सकती है। भावों का पारस्परिक आदान-प्रदान होता ही है। शकुन्तला और उसके उद्दीपक हाव-भावों को देख दुष्यन्त में रति जाग्रत हुई और उससे भ्रूविक्षेप हो गया। शास्त्रीय दृष्टि से दुष्यन्त आश्रय कहाया, और शकुन्तला आलम्बन। शकुन्तला की वाह्य चेष्टाएं उद्दीपक कहाई और दुष्यन्त की अनुभाव। यदि अगले ही क्षण दुष्यन्त के भ्रूविक्षेप से शकुन्तला मे दुष्यन्त के प्रति रति जाग्रत हुई जैसा कि अस्वाभाविक नही है तो उसका 'अक्षि-नि कोच' आदि शकुन्तला को आश्रय की संज्ञा दिलायेगा और दुष्यन्त को आलम्बन की। दुष्यन्त के जिस 'भ्रूविक्षेप' को अनुभाव कहा गया था, अब उसके उद्दीपक होने, अतएव आलम्बन-गत वाह्य चेष्टा बन जाने के कारण उसे उद्दीपनविभाव कहा जाएगा और शकुन्तला का 'अक्षि-नि:कोच' अनुभाव। इसी प्रकार 'शतपत्त्रपत्त्रभेदन-न्याय' से क्षण-क्षण में वे दोनो एक दूसरे के प्रति आलम्बन और आश्रय बनते जाएंगे, और दोनों की वाह्य चेष्टाए उसी क्षण में क्रमश: 'उद्दीपनविभाव' तथा 'अनुभाव' नाम से पुकारी जाएँगी। अत. केवल आश्रय की वाह्य चेष्टाएँ ही 'अनुभाव, कहाएंगी, भले ही वह अगले ही क्षण दूसरे पात्र को उद्दीप्त करने के कारण 'उद्दीपन-विभाव' कही जाएँ। हां, जो वाह्य चेष्टाएँ किसी कारणवश दूसरे व्यक्ति को उद्दीप्त नही करती, वे निस्सन्देह केवल 'अनुभाव' कहाएँगी, उन्हे अगले क्षण 'उद्दीपनविभाव' की संज्ञा नही दी जा सकती।

३. संचारिभाव : (व्यभिचारिभाव)

अस्थिर मनोविकार अथवा चित्तवृत्तियां 'संचारिभाव' कहाती हैं, ये विकार आश्रय और आलम्बन के मन में उन्मग्न और निर्मग्न होते रहते है।

संचारी शब्द का अर्थ है साथ-साथ चलना तथा संचरणशील होना।

संचारिभाव स्थायिभावों के सहकारी कारण है, उन्हें रसावस्था तक ले चलते हैं, पर स्वयं बीच में जलतरङ्गवत् आविर्भूत तथा तिरोभूत होते रहते हैं।[१]

संचारिभाव मनोविकार है, ये शरीर के धर्म नही है। यद्यपि मनोविकारो की कोई सख्या नियत नही की जा सकती, तथापि सुविधा के लिए संचारिभावो की सख्या ३३ निर्धारित की गयी है—निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दीनता, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चापल्य, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, स्वप्न, विबोध, अवमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क।

किन्तु सचारिभावो की यह ३३ संख्या कम से कम संख्या की ही द्योतक है, संचारिभाव तो अनन्त हो सकते है।[२] स्वयं इन ३३ सचारिभावो के पारस्परिक मिश्रण से ही यह सख्या सहस्रों तक पहुँच सकती है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि संचारिभावों को 'व्यभिचारिभाव' भी कहते है, क्योकि ये प्रत्येक स्थायिभाव के साथ विशेष रूप से अभिमुख हो कर —उसके अनुकूल (सहायक) बन कर—चलते है।[३] प्रत्येक स्थायिभाव का रस नियत है, पर प्रत्येक सचारिभाव का स्थायिभाव नियत नही है। एक संचारिभाव कई स्थायिभावो के साथ अभिमुख होकर चलता है, अतः वह 'व्यभिचारिभाव' भी कहाता है।



इसी प्रसंग मे यह जानना आवश्वयक है कि सचारिभाव और स्थायिभाव में परस्पर क्या अन्तर है। ये दोनों ही हृदय में रहते है, पर इन दोनों में अन्तर यह है कि उभर रत्यादि भाव तो स्थायी रूप से हृदय मे जाग्रत होते है, तथा वे किसी विरुद्ध अथवा अविरुद्ध भाव से दबते नही है, रसनिष्पत्ति-पर्यन्त स्थिर बने रहते है, किन्तु उपर्युक्त संचारिभाव अन्त तक स्थिर नही रहते, उद्बुद्ध होते और मिटते रहते है, इसी कारण ये सचारी कहाते है। यदि स्थायिभाव भी उत्पन्न हो कर मिट जाए तो इन्हे भी संचारिभाव माना जाता है। सम्राट् की महान् पदवी से च्युत होकर ये भी सामान्य राजा की गणना मे आ जाएगे।

स्थायिभाव एक तो उस स्थिति मे सचारिभाव कहाते है जब वे थोड़े

---

१. स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः × × ×। सा०द० ३।१४०

२. त्रयस्त्रिंशदिति न्यूनसंख्याया व्यवच्छेदकं न त्वधिकसंख्यायाः।

३. विशेषादाभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिणः। सा०द० ३।१४०

अर्थात् अशक्त विभावों से उत्पन्न हो।[1] उदाहरणार्थ—कामायनी के 'संघर्ष' सर्ग मे मनु और प्रजा के बीच होने वाले युद्ध की 'विभावादि' सामग्री उत्साह को प्रकट करने में अशक्त है, क्योकि मनु अथवा प्रजा का एक दूसरे को विनष्ट करने का लक्ष्य धर्मरक्षा, राष्ट्ररक्षा आदि जैसा महान् नही है, प्रत्युत प्रतिहिंसा है। मनु तेजस्वी तथा धीर न होकर दुर्बल रूप में वर्णित किये गये हैं, तथा विवेक भी खो बैठे हैं, अत· सम्पूर्ण सामग्री उत्साह को अभिव्यक्त करने में असमर्थ है। यहा मनु और प्रजा का 'उत्साह' सचारिभाव कहाएगा, स्थायिभाव नही।

स्थायिभावो को संचारिभाव कहने की एक दूसरी स्थिति भी है जब वे अपने अनियत रसो में प्रयुक्त होने पर उस रस की सहायता करते है।[2] वस्तुतः अन्य रसो के सहायक बन जाने के कारण स्थायिभावो में वह आस्वाद्य-योग्यता नही रह पाती जो उनके अपने आधार-भूत रस में रहती है। उदाहरणार्थ, शृ गार रस का सहकारी बन जाने पर 'हास' स्थायिभाव न कहा जाकर सचारिभाव कहाएगा। इसी प्रकार महाकाव्यो तथा नाटको में एक प्रधान रस—अंगीभूत रस—के सहकारी जितने अन्य तथाकथित 'रस'—अंगभूत रस—वर्णित रहते है, उन सबके स्थायिभाव 'सचारिभाव' कहे जाएगे।

अन्ततः, संचारिभाव के सम्बन्ध मे यह प्रश्न स्वाभाविक है कि क्या आश्रय के हृदय मे स्थित इन भावो को संचारिभाव कहा जाता है, अथवा आलम्बन के। इसका उत्तर यह है कि शास्त्रीय दृष्टि से तो दोनों के हृदयस्थ भावो को संचारिभाव कहा जाता है, किन्तु यदि इनके नाम अलग-अलग होते, या सचारिभाव के दो रूप ही गिनाये जाते—आलम्बनगत और आश्रयगत, तो विषय का सुगमावबोध हो जाता। इन दो रूपो की स्वीकृति में आलम्बनगत संचारिभाव उद्दीपनविभाव से सम्बद्ध माने जाते, और आश्रयगत सचारिभाव अनुभाव से। अस्तु।

रस का विभावादि के साथ सम्बन्ध—

इस प्रकार स्थायिभाव तथा विभावादि तीन साधनो के स्वरूप-निर्देश के उपरान्त रस और विभावादि के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश डालना सुगम हो गया है। इस सम्बन्ध में निम्नोक्त तथ्य अवलोकनीय है:

१. रत्यादयः स्थायिभावाः स्युर्भूयिष्ठविभावजाः।
स्तोकैर्विभावैरुत्पन्नाः त एव व्यभिचारिणः॥ संगीतरत्नाकर

२. रत्यादयोऽप्यनियते रसे स्युर्व्यभिचारिणः। सा० द० ३। १७२

१. लौकिक कारण, कार्य और सहकारिकारणो को काव्य-नाटक के अन्तर्गत क्रमशः विभाव, अनुभाव और सचारिभाव के नाम से पुकारा जाता है, क्योकि ये व्यक्तिगत सम्बन्ध छोड़कर 'साधारणीकरण' व्यापार द्वारा साधारण अर्थात् सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक रूप धारण कर लेते है।[1]

२. रस की प्रतीति तभी तक रहती है, जब तक विभावादि की प्रतीति रहती है। दूसरे शब्दो में, विभावादि और रस की प्रतीति में कारण-कार्य रूप पूर्वापरसम्बन्ध नही है, अपितु दोनो प्रतीतियो का एकत्र और समकालीन अवस्थान है। अत. काव्यशास्त्र की भाषा मे रस को 'समूहालम्बनात्मक' माना गया है।[2]

३. रसास्वादन-प्रक्रिया में यद्यपि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि-भाव खण्डशः एक-एक करके प्रतीत होते हैं (यह अलग प्रश्न है कि उनकी यह खण्डशः प्रतीति अति त्वरित होने के कारण लक्षित नही होती), पर रस-प्रतीति मे ये तीनो अखण्ड एव संश्लिष्ट रूप मे ही सहायक होते है, तभी रस को भी अखण्ड माना गया है,[3] और यही कारण है कि रसचर्वणा मे विभावादि मे से किसी एक की सर्वाधिक अथवा सर्वातिच्छादक रूप मे प्रतीति नही मानी गयी—'प्रपानकरस-न्याय' से इन तीनो की संश्लिष्ट, अतएव विचित्र एवं अवर्णनीय प्रतीति हो रही होती है।[4]

४. इसके अतिरिक्त रस-प्रतीति में विभावादि समान रूप से सहायक होते है। यही कारण है कि किसी रचना मे विभावादि मे से केवल किसी एक का वर्णन होने पर भी शेष दो भावो की समान रूप से आक्षेप द्वारा स्वतःप्रतीति होने पर ही रसचर्वणा सम्भव है, अन्यथा नही।[5] उदाहरणार्थ :

तीनो साधनो की विद्यमानता—

प्रीतम दृग मिहचत प्रिया, पानि परस सुख पाइ।
जानि पिछानि अजान लौं, नेकु न होति जनाइ॥ —विहारी

---

१. का० प्र० पृष्ठ ६१-६३

२. यस्मादेष विभावादिसमूहालम्बनात्मक.। तस्मान्न कार्यः।
—सा० द० ३।२१

३. विभावा अनुभावाश्च सात्त्विका व्यभिचारिणः।
प्रतीयमानाः प्रथमं खण्डशो, यान्त्यखण्डताम्॥ सा०द० ३।२८ (वृत्ति)

४. सा० द० ३।१६

५. (क) यद्यपि विभावानामनुभावानां × × × व्यभिचारिणां केवलानाम्

इस पद्य में प्रीतम और प्रिया आलम्बनविभाव (क्रमशः आलम्बन और आश्रय) है। आंखें मीचना अनुभाव है। स्पर्श द्वारा सुख (हर्ष, मद, मोह, आवेग आदि) की प्राप्ति सचारिभाव है। सहृदय के चित्त में वासना रूप से स्थित रति नामक स्थायिभाव इन तीनो का सयोग पाकर शृंगार रूप मे अभिव्यक्त होता है।

विभाव और अनुभाव की विद्यमानता—

बतरस लालच लाल की, मुरली लई लुकाइ।
सौंह करैं भौंहनु हँसै, दैन कहैं नटि जाइ॥—विहारी

यहाँ लाल (कृष्ण) विभाव (आलम्बनविभाव) है। मुरली छिपाना, सौह करना, भौहो मे हसना, वापस देने के लिए कहना और फिर इनकार कर देना—ये सभी अनुभाव है। चपलता, मद, मोह, औत्सुक्य, उग्रता आदि सचारिभाव यहा वर्णित नही है, वे यहा आक्षिप्त है। गोपिका (आश्रय) भी आक्षिप्त है।

मुख्यत. उद्दीपनविभाव की विद्यमानता—

एक पल मेरे प्रिया के दृग पलक
थे उठे ऊपर सहज नीचे गिरे।
चपलता ने इस विकम्पित पुलक से
मानो किया प्रणय-सम्बन्ध था॥—पन्त

इस पद्य की प्रथम दो पंक्तियो में दृग-पलक का ऊपर उठना और नीचे गिरना ये उद्दीपनविभाव है [क्योंकि ये आलम्बनगत बाह्य चेष्टाएं हैं]। शेष सभी साधनो का आक्षेप द्वारा स्वतःग्रहण हो जाने के कारण रसाभिव्यक्ति सम्भव है।

केवल अनुभाव की विद्यमानता—

भौंहनु त्रासति मुँह नटति, आँखनि सौं लपटाति।
ऐंचि छुडावति करु, इँची, आगें आवति जाति॥—विहारी

इस पद्य मे भौहो मे त्रास दिखाना आदि केवल अनुभाव वर्णित है।

अत्र स्थिति, तथाप्येतेपामसाधारणत्वम् इत्यन्यतमद्वयाक्षेपकत्वे सति नानैकान्तिकत्वमिति॥ का० प्र०, पृष्ठ ६८

(ख) सद्भावश्चेद् विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत्।
झटित्यन्यसमाक्षेपे तथा दोषो न विद्यते॥ सा० द० ३।१७

शेष दो (विभाव और अनुभाव) का वोध आक्षेप द्वारा होने पर ही रसाभिव्यक्ति सम्भव है। अस्तु !

किन्तु कुछ ऐसे स्थल भी होते है जिनमें किसी एक साधन के वर्णित होने पर शेष का आक्षेप स्वतः नही हो पाता—यद्यपि ऐसे स्थल वहुत कम पढ़ने-सुनने में आते है। उदाहरणार्थ, मैथिलीशरण गुप्त का यह पद्य लीजिए जिसमें केवल [आहार्य] अनुभाव का वर्णन है—

सखा साथ में वेणु हाथ में ग्रीवा में वनमाला।
केकि किरीट पीत पट शोभित रजरूपित लटवाला॥

निष्कर्ष यह कि—

लौकिक कारणादि काव्य-नाटक मे व्यंजना वृत्ति के वल पर विभावादि नामों से अभिहित होते हैं। ये विभावादि सहृदय के स्थायिभावो को जव चर्व्यमाण स्थिति तक पहुँचा देते है, तो इन्हे 'रस' नाम से पुकारा जाता है।[1]



इस प्रकार रसाभिव्यक्ति के तीन साधनो (विभाव, अनुभाव और सचारिभाव) के स्वरूप-ज्ञान के उपरान्त अव भरत-सूत्र के सम्वन्ध में एक अन्य दृष्टि से विचार कर लेना अपेक्षित है। सहृदय का स्थायिभाव जव विभावादि का संयोग प्राप्त करता है तो रस रूप मे निष्पन्न (परिणत, अभिव्यक्त) होता है, इस कथन के सम्वन्ध में एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि विभावादि से तात्पर्य काव्य अथवा नाटक में वर्णित अथवा दर्शित विभावादि से लिया जाए तो प्रत्येक सहृदय को समान काव्यानन्द की प्राप्ति होनी चाहिए, क्योकि इन्हें सभी सहृदय समान रूप से ही पढ़ते अथवा देखते हैं, किन्तु ऐसा होता नही है, इसका कारण क्या है ?

---

१. यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि विभावादि के संयोग द्वारा निष्पत्ति तो चर्वणा की होती है; पर 'चर्वणा' को ही 'रस' का अपर पर्याय मान लेने पर विभावादि के संयोग द्वारा रस की भी निष्पत्ति गौण रूप से मान ली जाती है—चर्वणानिष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम् (का० प्र०, ६४), और यही कारण है कि विभावादि और चर्वणा में कारणकार्य-सम्बन्ध की स्वत.-सिद्ध स्वीकृति के साथ-साथ विभावादि और रस में भी कारणकार्य-सम्वन्ध की गौण रूप से स्वीकृति कर ली जाती है, पर वस्तुत विभावादि और रस में 'समूहालम्बनात्मक' रूप सम्वन्ध होने के कारण विभावादि को 'कारण' और रस को 'कार्य' नहीं माना जा सकता। (सा० द० ३।२१)

इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि प्रत्येक सहृदय का मानसिक स्तर एक दूसरे से भिन्न होता है, क्योकि प्रत्येक सहृदय के जन्मजात सस्कारो तथा इस लोक की वातावरण-जन्य परिस्थितियो में अन्तर रहता है, और मानसिक स्तर का यही तारतम्य ही समान रूप से काव्यानन्द की अप्राप्ति का उत्तरदायी है। नि·सन्देह यह उत्तर उक्त शंका के समाधान का मूल कारण है कि इससे प्रत्येक सहृदय के लिए काव्यनाटक-गत विभावादि में भी अन्तर पड जाने के कारण उक्त स्थिति सम्भव हो सकती है।

किन्तु इस प्रक्रिया की स्वीकृति में एक अन्य शका उत्पन्न होती है कि काव्यनाटक-गत विभावादि मे अन्तर पड़ जाने की सम्भावना क्योकर स्वीकार कर ली जाए, विशेषत तभी जब वे स्थूल रूप मे, अतएव सबके लिए एक समानरूप मे, ही वर्णित एव दर्शित रहते है ? नि.सन्देह यह शका निमूल नही है, और विभावादि की उक्त स्थिति में इसका उत्तर दे सकना असम्भव है। किन्तु उपर्युक्त प्रक्रिया घटित अवश्य होती है—क्या इसका कोई अन्य कारण भी सम्भव है ? हमारे विचार मे इसका कारण यह है कि काव्य-नाटक-गत विभावादि प्रत्येक सहृदय के मानसिक धरातल के तारतम्य के अनुसार उनके हृदयो में भिन्न-भिन्न रूपो में प्रतिबिम्बित होते है और अब इन्ही के साथ सयोग पाकर सहृदय का स्थायिभाव रस रूप मे परिणत हो जाता है। स्पष्ट शब्दो मे कहे तो भरत के सूत्र में विभावादि से वस्तुतः अभिप्रेत है सहृदय के हृदय में प्रतिबिम्बित विभावादि, न कि काव्य-नाटक-गत विभावादि, और यही विभिन्न रूपो में प्रतिबिम्बित विभावादि ही उपर्युक्त मूल शका का समाधान उपस्थित कर देते है कि इन्ही के कारण प्रत्येक सहृदय को एक समान काव्यानन्द की प्राप्ति नही हो सकती।[1]



१. इस सम्बन्ध में देखिए: 'साधारणीकरण की व्याख्यागाथा' नामक निबन्ध का अन्तिम भाग।

: ८ :

रस का स्वरूप

रस के भरत-प्रस्तुत प्रख्यात लक्षण 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद रसनिष्पत्तिः' के विषय मे यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि यह उनसे पूर्व भी प्रचलित था अथवा नही, और यदि प्रचलित था तो इसे मान्यता मिली थी अथवा नही; किन्तु भरत के समय के उपरान्त इसे ही मान्यता मिलती रही और अभिनवगुप्त-पर्यन्त इस लक्षण की विभिन्न व्याख्याएं प्रस्तुत होती रही। रस का स्वरूप क्या है, इस पर भी आचार्यो ने, विशेषत· अभिनवगुप्त ने, प्रकाश डाला और उन्ही की मान्यताओ एवं धारणाओ को परवर्ती सग्रहकर्त्ता आचार्यो—मम्मट, विश्वनाथ आदि—ने अपने रूप मे ढाल लिया। इन सब आचार्यो में से विश्वनाथ का यह प्रसंग संग्रह और व्यवस्था दोनो दृष्टियो से अवेक्षणीय है।

विश्वनाथ के शब्दो में रस (१) अखण्ड, (२) स्वप्रकाश, (३) आनन्दमय, (४) चिन्मय, (५) वेद्यान्तरस्पर्शशून्य, (६) ब्रह्मास्वादसहोदर और (७) लोकोत्तरचमत्कारप्राण होता है। इसी प्रसग में उन्होने यह भी उल्लिखित किया है कि—

(क) प्रमाता अर्थात् सहृदय द्वारा रस तभी आस्वादित किया जाता है जब उसके सत्त्व गुण का उद्रेक होता है।

'सत्त्वोद्रेक' शब्द व्याख्यापेक्ष है। सात्त्विक मन उस मन को कहते है जो रज और तम. से अस्पृष्ट हो—रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते। मन शब्द यहां लाक्षणिक रूप में प्रयुक्त है, इसका लक्ष्यार्थ है मनोवृत्ति, मन का धर्म, अथवा मन का गुण। सत्त्व के उद्रेक से तात्पर्य है उक्त दोनो विकारोत्पादक गुणो मे भिन्न एक अन्य गुण का विस्फुरण जो विकार का सूचक न होकर उदात्त भावना का सूचक हो। इसी आधार पर सत्त्वोद्रेक की व्याख्या इस प्रकार की जाती है कि मन की उस स्थिति को सत्त्वोद्रेक कहते हैं जिसमे सत्त्व गुण शेष दो गुणो, रजोगुण और तमोगुण से, अस्पृष्ट हो, अर्थात् ये दोनो रहे अवश्य, किन्तु सत्त्व का स्पर्श न कर सके। अत. शास्त्रीय शब्दावलि मे सत्त्वोद्रेक की स्थिति

वह है जिसमें रजोगुण और तमोगुण तिरोभूत हो जाएं और सत्त्वगुण आविर्भूत हो जाए। प्रमाता रस का आस्वादन इसी स्थिति मे ही कर पाता है।

यही एक शंका उत्पन्न होती है कि मानव-मन की क्या कभी ऐसी स्थिति भी सम्भव है जब वह रजोगुण और तमोगुण से नितान्त अस्पृष्ट होकर केवल सत्त्व गुण से सयुक्त हो ? इसका उत्तर है—हाँ, ऐसी स्थिति स्वीकार की जाती है किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र मे, ब्रह्म-प्राप्ति की अवस्था में। काव्य-रसास्वाद के क्षेत्र में सत्त्व के उद्रेक का तात्पर्य लेना चाहिए सत्त्व गुण की रजोगुण और तमोगुण पर आच्छादकता, अर्थात् ये दोनो नितान्त विनष्ट नहीं होते, अपितु सत्त्वगुण द्वारा दब जाते हैं।

(ख) रस 'अपने आकार से अभिन्न रूप में' आस्वादित किया जाता है, अर्थात् रस जिस रूप में आस्वादित होता है, उससे इतर यह और किसी प्रकार की अनुभूति नहीं है। इस कथन की व्याख्या में कह सकते है कि सहृदय की निजी अनुभूति ही रस का रूप धारण कर लेती है, अर्थात् रस के आस्वादन-प्रसग मे एक सहृदय की अनुभूति मे किसी अन्य सहृदय की अनुभूति न तो सहायक बनती है और न उसे किसी रूप मे प्रभावित ही कर सकती है।

विश्वनाथ का कथन इस प्रकार है—

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनाऽयमास्वाद्यते रसः॥ सा०द० ३। २-३



अब रस के स्वरूप-सूचक उक्त तत्त्वो का विवेचन प्रस्तुत है :

—रस अखण्ड है। इसका तात्पर्य यह कि रस उस स्थायिभाव का अपर नाम है जिसका संयोग विभाव, अनुभाव और सचारिभाव इन तीनो के समन्वित रूप के साथ हो, न कि इनमे से किसी एक अथवा दो के साथ। वस्तुतः इन सबके 'समूहालम्बनात्मक ज्ञान' को ही रस कहते है, क्योकि रस रत्यादि और विभावादि के ज्ञान से नितान्त अभिन्न होता है। इसी आधार पर कहा जाता है कि रस यद्यपि अपने अशो से निर्मित है, किन्तु उसके किसी एक अंश अथवा एकाधिक अंशो को उससे पृथक् नही किया जा सकता। अतः इसे अखण्ड माना जाता है। उदाहरणार्थ, न तो शैव्या और न रोहिताश्व का 'मृत' शरीर करुण रस है, न शैव्या का विलाप करुण रस है, न शैव्या के

मन में उत्पन्न विषाद, निर्वेद, शंका, मोह, व्याधि आदि संचारिभाव करुण रस है, और न सहृदय के हृदय मे वासना रूप से स्थित शोक नामक स्थायिभाव ही करुण रस है, अपितु इन सब के अखण्ड रूप—'प्रपानकरस-न्याय' से अखण्ड रूप—का नाम रस है।

—रस स्वप्रकाश है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सूर्य को दिखाने के लिए किसी अन्य साधन की आवश्यकता नही रहती, उसी प्रकार रस भी स्वय प्रकाशित होता है, इसे प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य साधन की आवश्यकता नही है। सभवत: इसी कारण इसे 'अपने आकार से अभिन्न' भी कहा जा सकता है।

—रस चिन्मय है। चित् अथवा चिति का अर्थ है चेतनता अथवा सविद् (ज्ञान)। अत. 'रस चिन्मय है' का अर्थ है कि रस चिद्रूप, अथवा चितिरूप, अथवा सविद्रूप (ज्ञानरूप) अर्थात् चेतनता-रूप है।[1] यहा यह स्मरणीय है कि वेदान्तियो के अनुसार केवल आत्मा 'चित्' [अर्थात् शुद्ध चेतन] है, अत: रस को 'चित्' न कह कर 'चिन्मय' कहा गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि 'रस' आत्मा के समान शुद्ध चेतन न होकर चेतनता-प्रधान है, अर्थात् रस-स्थिति में अचेतनता का अंश—अत्यल्प मात्रा में सही—अवश्य विद्यमान रहता है।[2]

इस प्रसग मे चेतनता-प्रधानता से यह तात्पर्य ले सकते हैं कि रस आत्मा के समान [शुद्ध चेतन न सही, किन्तु] सचेतन अथवा प्राणवान् आनन्द है—'वह निद्रा, मद्यपान आदि से जन्य भौतिक आनन्दो के समान जड़ आनन्द नही है।' (डॉ० नगेन्द्र)

—रसवेद्यान्तरस्पर्शशून्य है। इसका तात्पर्य यह है कि रस के आस्वाद के समय अन्य किसी प्रकार के वेद्य अर्थात् ज्ञान का स्पर्श तक नही हो पाता। इस समय किसी सासारिक घटना अथवा विचार के स्मरण आने का तो प्रश्न ही उपस्थित नही होता, यहा तक कि काव्य अथवा नाटक के न तो किसी विशिष्ट

---

१. 'चिन्मय' में मयट् प्रत्यय है। यह प्रत्यय दो अर्थों में प्रयुक्त होता है—प्राचुर्य (संयुक्तता) अर्थ में तथा स्वरूप अर्थ में। यहां यह स्वरूप अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

२. लगभग यही स्थिति 'सत्त्वोद्रेक' शब्द की व्याख्या में भी निर्दिष्ट की जा चुकी है कि रसास्वाद के समय सत्त्व की प्रधानता रहती है, और रजोगुण और तमोगुण नितान्त विनष्ट नहीं होते, वे अत्यल्प मात्रा में अवश्य बने रहते हैं।

स्थल अथवा दृश्य की ओर हमारा ध्यान रहता है, और न उसके किसी विशिष्ट सवाद, संगीत अथवा अभिनय एव निर्देशन की ओर। इतना ही क्यो हम यह भी भूले होते है कि हम नाट्यगृह मे बैठे है अथवा अन्यत्र, वस्तुतः हम अपना अस्तित्व तक भूल जाते है।

—रस ब्रह्मास्वादसहोदर है, अर्थात् रस द्वारा सहृदय लगभग उतना आस्वाद प्राप्त करता है जितना कोई साधक योगी ब्रह्म-प्राप्ति द्वारा। यहा रस (काव्यास्वाद) को ब्रह्मास्वाद न कह कर उसका 'सहोदर' कहा गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि इन दोनो मे स्पष्ट अन्तर है। वह अन्तर यह है कि ब्रह्मास्वाद की प्राप्ति के समय योगी ऐन्द्रिय विकारो से नितान्त विमुक्त होता है, इधर काव्यास्वाद के समय भी सहृदय ऐन्द्रिय विकारो से विमुक्त होता है, किन्तु तत्काल के लिए। वस्तुतः यह विमुक्ति उक्त आध्यात्मिक स्थिति की विमुक्ति से कम कोटि की है। इसका प्रमाण यह है कि काव्यास्वाद की मुक्ति के उपरान्त लौकिक विकारो की ओर प्रवृत्ति की सम्भावना सदा बनी रहती है, जबकि उधर ब्रह्मास्वाद-प्राप्ति मे इस सम्भावना की आशका तक नही की जा सकती। दूसरे शब्दो में, इधर काव्यास्वाद-प्राप्ति के समय मानव के रति आदि भावों की परिष्कृति तो हो जाती है, पर उनका विनाश नही होता, वे तत्काल के लिए दब अवश्य जाते हैं, पर सामान्य स्थिति आने पर पुन· अपने रूप में, और प्राय पहले की अपेक्षा अधिक उद्दाम रूप मे, जाग्रत हो उठते है। उधर इसके विपरीत ब्रह्मास्वाद-प्राप्ति के समय ये इतने विनष्ट हो जाते है कि पुन अकुरित नही होते। इसका कारण, जैसे कि ऊपर कह आये है, ब्रह्मास्वाद के पक्ष में योगी के सत्त्वगुण की आविर्भूति उसके रजोगुण और तमोगुण को नितान्त विनष्ट कर देती है, किन्तु इधर काव्यास्वाद के पक्ष में सहृदय का सत्त्वगुण शेष दोनो गुणो को नितान्त विनष्ट नही कर देता, ये किसी न किसी अश तक अवश्य बने रहते हैं।

—रस लोकोत्तरचमत्कारप्राण तथा आनन्दमय है। रस का प्राण है—लोकोत्तर चमत्कार। 'चमत्कार' का अर्थ विश्वनाथ के अनुसार है विस्मय अर्थात् चित्त का विस्तार (विकास),[1] और स्पष्ट शब्दो में कहे तो चमत्कार चित्त का विकासजनक आह्लाद है। रस का प्राण यही आनन्द है, किन्तु वह लोकोत्तर होना चाहिए। इस प्रकार 'रस लोकोत्तरचमत्कार-प्राण' का समग्ररूप में अर्थ हुआ कि रस लोकोत्तर एव चित्तविकास-जनक आनन्द से युक्त होता है।

---

१. चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः। सा० द० ३।३ (वृत्ति)

चित्तविकासजनक आनन्द तो मानव को अन्य लौकिक घटनाओं में भी उपलब्ध है, किन्तु काव्यजन्य यह आनन्द लोकोत्तर होता है। [इस लोकोत्तर का अपर पर्याय 'अलौकिक' शब्द भी माना जाता है।[1] किन्तु अलौकिक शब्द का प्रयोग इस अर्थ में लाक्षणिक रूप में होता है। 'अलौकिक' का वाच्यार्थ है इहलोक से इतर अन्य लोक का—आध्यात्मिक लोक का, किन्तु लोकोत्तर का वाच्यार्थ है इहलोक में उत्तर, अर्थात् सर्वाधिक, सर्वातिशायी, सर्वोपरि। अस्तु।]

'रसलोकोत्तर-आह्लादवान् है' इसका अर्थ है कि रस का आह्लाद है तो इहलौकिक, पर वह इस लोक के अन्य आह्लादो से सर्वोपरि है। उदाहरणार्थ—'स्वादिष्ट भोजन, पेय आदि से जन्य आनन्द की अपेक्षा, शतरज की चालो, गणित के प्रश्नो, निर्माण्य-भवनो के नक्शो, राजनैतिक दांव-पेचो की तन्मयता से प्राप्त आनन्द की अपेक्षा रस-जन्य आनन्द[2] कही अधिक वढ-चढ कर है, यद्यपि है यह भी लौकिक आनन्द ही। इसका प्रमाण यह है कि 'वेद्यान्तरस्पर्शशून्यता' नामक तत्त्व न केवल रस के लिए अपितु उपर्युक्त सभी लौकिक आह्लादो के लिए भी अनिवार्यत. अपेक्षित है।' (डॉ० नगेन्द्र)



रस (काव्यानन्द) की स्थिति पर विचार करे तो हम कह सकते है कि इसकी स्थिति एक ओर [काव्यानन्द से इतर] लौकिक भावनाओ से उत्पन्न सुख एवं दु ख, और दूसरी ओर आध्यात्मिक क्षेत्र के आनन्द के बीच की है। लौकिक भावनाओ से मानव को सुख भी मिलता है और दु ख भी, इधर रस का आनन्द यद्यपि होता तो लौकिक ही है, पर वह केवल सुखात्मक होता है[3], किन्तु यह सुख सामान्य कोटि का न होकर उत्कृष्ट कोटि का होता है, अत इसे लोकोत्तर आनन्द कहते है। उधर आध्यात्मिक क्षेत्र का आनन्द इन दोनो प्रकार के आनन्दो से विभिन्न होता है। केवल इसे ही अलौकिक कहा जा सकता है।

---

१. अलौकिक चमत्कारी × × × रस.। का० प्र० ४।२६ पद्य की वृत्ति [रस की लोकोत्तरता अथवा 'अलौकिकता' अथवा 'ब्रह्मास्वाद-सहोदरता' के सम्बन्ध में काव्याचार्यो के अनेक तर्क अवेक्षणीय हैं। देखिए—'भारतीय काव्यांग' में रस नामक अध्याय।]

२. इसी 'आनन्द' शब्द के अन्य पर्यायवाची शब्द है—आस्वाद, आह्लाद, चमत्कार आदि।

३. लौकिकशोकहर्षादिकारणेभ्यो लौकिकशोकहर्षादयो जायन्ते इति लोक एव प्रतिनियम.। काव्ये पुनः सर्वेभ्योऽपि विभावादिभ्य सुखमेव जायते।
—सा० द० ३।७ (वृत्ति)

इन तीन प्रकार के आनन्दों के पारस्परिक वैषम्य का कारण यह है कि रसेतर लौकिक आनन्द मे मानव के रजोगुण और तमोगुण आविर्भूत रहते हैं, सत्त्वगुण तिरोभूत रहता है। 'तिरोभूत' शब्द का तात्पर्य नितान्त विनष्ट होना नही है—दब जाना है। अर्थात् सत्त्व गुण अब भी शेष बना रहता है। इधर रस की स्थिति में उक्त रूप परिवर्तित हो जाता है—सत्त्व गुण आविर्भूत होता है,[1] और शेष दो तिरोभूत हो जाते हैं—पर बने अवश्य रहते है। क्योकि इन दोनो प्रकार के आनन्दो में ये सभी गुण किसी न किसी मात्रा में बने रहते है, अतः ये लौकिक आनन्द हैं, किन्तु उधर आध्यात्मिक क्षेत्र में केवल सत्त्वगुण ही शेष रहता है, शेष दोनो विनष्ट हो जाते है, अतः यह अलौकिक है, तथा उक्त दोनो लौकिक आनन्दो से भिन्न प्रकार का है।

निष्कर्षतः—

१. रस एक लौकिक आनन्द (आस्वाद) है।[2]

२. रस का आनन्द अन्य प्रकार के लौकिक आनन्दों की अपेक्षा उत्कृष्ट कोटि का है। अत इसे 'लोकोत्तर' आनन्द कहते हैं। इसे अलौकिक आनन्द भी कह देते हैं। पर यहां 'अलौकिक' शब्द लाक्षणिक रूप में प्रयुक्त हुआ है।

३. आध्यात्मिक आनन्द अलौकिक आनन्द है, किन्तु रस लौकिक आनन्द है, अतः इसे 'ब्रह्मास्वाद' न कहकर 'ब्रह्मास्वादसहोदर' कहा गया है।

४. रस (काव्यानन्द) की स्थिति निम्नोक्त आनन्दों के बीच की है—एक ओर लौकिक क्षेत्र में [रसेतर] लौकिक आनन्दों की अपेक्षा यह उत्कृष्ट कोटि का है, और दूसरी ओर आध्यात्मिक क्षेत्र में ब्रह्मप्राप्ति के आनन्द की अपेक्षा यह हीन कोटि का है।



---

१. यहां 'सत्त्व' से तात्पर्य 'विषय-विकार से नितान्त विमुक्ति' नहीं है। यह तात्पर्य केवल आध्यत्मिक अथवा धार्मिक क्षेत्र में ही लिया जाता है, काव्य-शास्त्र में नहीं।

२. 'रसस्य आस्वादः' ऐसे प्रयोगों में 'रसस्य' का तात्पर्य है 'रस-विषयकः'।

: ६ :

साधारणीकरण की व्याख्यागाथा

रसनिष्पत्ति के प्रसंग में 'साधारणीकरण' शब्द अपनी विशिष्ट महत्ता रखता है। भरत मुनि के प्रख्यात सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद् रस-निष्पत्ति.' के प्रसिद्ध चार व्याख्याताओ—लोल्लट, शकुक, भट्ट नायक और अभिनवगुप्त—में से सर्वप्रथम भट्ट नायक ने इस शब्द का प्रयोग करते हुए इस तत्त्व की भित्ति पर रसनिष्पत्ति की व्याख्या की, और अभिनवगुप्त ने भी इसे स्वीकार किया। इनके उपरान्त धनञ्जय, विश्वनाथ और जगन्नाथ ने इस तत्त्व पर विशिष्ट प्रकाश डाला। इधर वर्तमान युग मे हिन्दी-काव्य-शास्त्र में इसकी वहुविध व्याख्याए हुईं, जिनमें से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डॉ० नगेन्द्र की व्याख्याएं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। काव्यशास्त्र के अध्येता के लिए यह व्याख्यागाथा अत्यन्त रोचक है।

●

भरतसूत्र के प्रथम दो व्याख्याताओ—भट्ट लोल्लट और शंकुक—की व्याख्याओ पर जो आक्षेप किये गये उनमें से स्पष्टत अथवा प्रकारान्तर से किया गया एक आक्षेप यह भी था कि सहृदय दूसरो के (मूल नायक-नायिका आदि, कविनिर्मित पात्रो, अथवा नर-नारी आदि के) भावो से रसास्वाद किस प्रकार प्राप्त कर सकते है, विशेषतः उस स्थिति में जवकि उनमे से किसी एक अथवा कुछ-एक अथवा सवके प्रति वे किसी प्रकार का पूर्व आग्रह—श्रद्धा, भक्ति, प्रीति, घृणा आदि में से कोई भाव—रखते हो ? इसी समस्या के समाधान के लिए भट्ट नायक ने 'साधारणीकरण-सिद्धान्त' समुपस्थित किया। 'अभिनव-भारती' में उपलब्ध उनके वक्तव्य में साधारणीकरण के स्वरूप के अतिरिक्त यह भी निर्दिष्ट किया गया है कि साधारणीकरण किसका होता है तथा रसास्वाद में यह किस स्थिति में रह कर सहायक बनता है ? उनके कथनानुसार—

'काव्य और नाटक में [शब्द के पहले व्यापार] 'अभिधा-व्यापार' (मुख्यार्थ-बोध) के उपरान्त [शब्द के दूसरे व्यापार] 'भावकत्व व्यापार' के द्वारा विभाव, अनुभाव और संचारिभाव का साधारणीकरण हो जाता है। परिणाम-

स्वरूप सामाजिक के अपने समस्त मोह, संकट आदि से जन्य अज्ञान का निवारण हो जाता है, तथा इसके द्वारा रस भाव्यमान होता है,'[1] अर्थात् शब्द के तीसरे 'भोग' नामक व्यापार की पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है।

७

भट्ट नायक का उक्त वक्तव्य निस्सन्देह जितना सुबोध एव संक्षिप्त है, उतना ही वह गम्भीर एव व्याख्यापेक्ष है। अभिनवगुप्त ने इसकी सर्वप्रथम व्याख्या प्रस्तुत की—

'वाक्यार्थ-ज्ञान के उपरान्त 'साधारणीकरण' नामक व्यापार द्वारा सहृदय को कुछ इस प्रकार की मानसी एव साक्षात्कारात्मिका प्रतीति होती है कि इसके द्वारा काव्य अथवा नटादि-सामग्री (दृश्य काव्य) में वर्णित देश, काल, प्रमाता (लौकिक अथवा कविनिर्मित व्यक्ति) आदि की विषय-सीमा विनष्ट हो जाती है, अर्थात् ये हर प्रकार के नियामक कारण के वन्धनो से नितान्त विमुक्त हो जाते है—और वस्तुत यही साधारणीकरण का परिपोष है।

उदाहरणार्थ—भयानक रस के निदर्शन 'ग्रीवाभंगाभिरामम् × × ×'[2] मे त्रस्त मृग, त्रासक दुष्यन्त, और भय स्थायिभाव ये सब देश, काल आदि से अनालिंगित हो जाते है। ऐसी स्थिति में सहृदय को जिस भयानक रस की प्रतीति होती है वह इस प्रकार के विश्वासो से विलक्षण होती है कि 'मै भीत हूं,' अथवा 'यह भीत है,' अथवा 'शत्रु, मित्र अथवा उदासीन भीत है,' तथा यह प्रतीति दुःख, सुख आदि से जन्य ज्ञान-विषयक नियमों से और अनेक प्रकार के विघ्नो से भी विलक्षण होती है। इस प्रकार यह साधारण्य (साधारण व्यापार) परिमित न रहकर सर्वत्र व्याप्त अर्थात् सवका साँझा वन जाता है।'[3]

अभिनवगुप्त के कथन का सार सरल शब्दो मे इस प्रकार है :

साधारणीकरण द्वारा कविनिर्मित पात्र व्यक्ति-विशेष न रहकर सामान्य प्राणिमात्र बन जाते हैं, अर्थात् वे किसी देश एव काल की सीमा में बद्ध न रह

१. [काव्ये × × × नाट्ये च × × ×] निविडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा, विभावादिसाधारणीकरणात्मना, अभिधातो द्वितीयेन अंशेन, भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसः।

—हिन्दी-अभिनवभारती, पृष्ठ ४६४–४६५

२. अभिज्ञानशाकुन्तलम्। १/७

३. तस्य (सहृदयस्य) च 'ग्रीवाभंगाभिराम' × × × इत्यादि वाक्येभ्यो

कर सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक बन जाते हैं, और इनके इस स्थिति में उपस्थित हो जाने पर सहृदय भी अपने पूर्वाग्रहों से विमुक्त हो जाता है।

●

अभिनवगुप्त के उपरान्त धनञ्जय ने 'साधारणीकरण' तत्त्व पर प्रकारान्तर से प्रकाश डाला।[1] उन्होंने रस का आश्रय अर्थात् उपभोक्ता अथवा आस्वादयिता सामाजिक को स्वीकार करते हुए यह शका उठायी कि 'सामाजिक का विभाव अर्थात् आलम्बन कौन होता है ? यदि अनुकार्य—वास्तविक राम, सीता आदि— को ही आलम्बन मान लिया जाए तो सामाजिक का इसके साथ अविरोध क्योंकर रह सकता है?' दूसरे शब्दो मे, सामाजिक पूर्वसस्कार-वश उस अनुकार्य और इस कवि-निर्मित पात्र मे अभिन्नता कैसे स्वीकार कर लेता है ? वह इन दोनो को भिन्न क्यो नही मान लेता।[2]

इस शका का समाधान करते हुए वे लिखते है कि '[काव्य में वर्णित] राम आदि [वास्तविक राम आदि न होकर] धीरोदात्त आदि [नायको] की अवस्थाओ के प्रतिपादक होते है। ये [काव्यगत] राम आदि सामाजिक के रति आदि स्थायिभावों को विभावित करते हैं अर्थात् उन्हे रसास्वाद का कारण बनाते है। ये स्थायिभाव सामाजिक द्वारा [रस रूप में] आस्वादित किये जाते

वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिका अपहसिततत्तद्वाक्यकालादि-विभागा तावत् प्रतीतिरुपजायते। तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेष-रूपत्वाभावाद् भीत इति, त्रासकस्य अपारमार्थिकत्वाद् भयमेव परं देशकालाद्य-नालिंगितम्, ततः एव 'भीतोऽहं, भीतोऽयं, शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वा इत्यादि प्रत्ययेभ्यः दु.खसुखादिकृतबुद्ध्यन्तरोदयनियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षण ×× भयानको रसः। ××× ततः एव न परिमितमेव साधारण्यम् अपितु न विततम्। ××× तदत्र साक्षात्कारायमाणत्वेन परिपोषिका नटादिसामग्री। यस्यां वस्तुसतां काव्यार्पितानां च देशकालप्रमात्रादीनां नियमहेतूनामन्योन्यप्रतिबन्धबलाद् अत्यन्तमपसारणे स एव साधारणीभावः सुतरां पुष्यति।

—हिन्दी अभिनवभारती पृ०४७०-४७१।

१. 'प्रकारान्तर से' इसलिए कि उन्होंने साधारणीकरण शब्द का प्रयोग न कर 'परित्यक्त-विशेष' का प्रयोग किया है।

२. (क) रस स एव स्वाद्यत्वाद् रसिकस्यैव वर्तनात्।

(ख) ननु च सामाजिकाश्रयेषु रसेषु को विभावः ? कथं च सीतादीनां देवीनां विभावत्वेन अविरोध ? —दशरूपक ४।४० (प्रसगारम्भ)

हैं। क्योंकि यही [काव्यगत राम आदि पात्रोकी धीरोदात्त आदि से सम्बद्ध] अवस्थाए ही विशेषभाव को छोड कर सामाजिक के लिए रस का कारण बनती हैं।'[1]

धनञ्जय के इस प्रसग में रसास्वाद तक पहुंचने के लिए दो सोपान हैं। पहला सोपान है—काव्यगत रामादि पात्र धीरोदात्त आदि नायकों की अवस्था के द्योतक होते हैं—'धीरोदात्ताद्यवस्थानां रामादिः प्रतिपादकः।' इसका तात्पर्य यह है कि अनुकार्य चाहे वास्तव में कैसा भी क्यो न हो, काव्य-नाटको मे वह कवि की परिकलपना के अनुसार धीरोदात्त आदि में से किसी एक अवस्था का द्योतन करेगा, अपनी मूल अवस्था का नही।

धनञ्जय के वृत्तिकार धनिक ने इस स्थल की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'कविगण योगी तो नही होते कि वे ज्ञान-चक्षुओं द्वारा राम आदि की वैसी ही वास्तविक अवस्था का चित्रण कर सकें जैसी कि इतिहास आदि में पायी जाती है। ये तो राम आदि की धीरोदात्त आदि नायको के गुणो से सम्पन्न ऐसी अवस्था का निबन्धन करते हैं जैसी उन्हे स्वयं लोक में उपलब्ध होती है। पर हाँ, वे उसमें अपनी कल्पना का समावेश अवश्य कर देते है।'[2]

दूसरा सोपान है—'जब इन अवस्थाओं का विशेष-भाव छूट जाता है, तब ये सामाजिक के रसास्वाद का कारण बनती है—ता एव च परित्यक्त-विशेषा रसहेतवः।' इसका तात्पर्य यह है कि जब काव्यगत पात्र अपने विशेष व्यक्तित्व को—रामत्व, सीतात्व आदि को छोड़कर सामान्य मानव-मात्र बन जाते है, तब ये सहृदय के रसास्वाद का कारण बन सकते हैं—अन्यथा नही। अब राम और सीता ऐतिहासिक व्यक्ति नही रहते, वे साधारण नर और नारी मात्र रह जाते है—तत्र सीतादिशब्दाः परित्यक्त-जनकतनयादिविशेषाः स्त्रीमात्रवाचिनः, और वस्तुतः यही भट्ट नायक का साधारणीकरण है।

---

१. धीरोदात्ताद्यवस्थानां रामादि. प्रतिपादकः।
विभावयति रत्यादीन् स्वदन्ते रसिकस्य ते॥
ता एव च परित्यक्तविशेषा रसहेतवः।—द० रू० ४।४०,४१

२. नहि कवयो योगिन इव ध्यानचक्षुषा ध्यात्वा प्रातिस्विकीं रामादीनामवस्थामितिहासवदुपनिबध्नन्ति। किं तर्हि? सर्वलोकसाधारणाः स्वोत्प्रेक्षाकृतसन्निधीः धीरोदात्ताद्यवस्थाः क्वचिदाश्रयमात्रदायिनीः विदधति।

—दशरूपक ४।४० वृत्तिः

तात्पर्य यह कि—

काव्य-पठन अथवा नाटक-दर्शन के समय सामाजिक के सम्मुख ऐतिहासिक व्यक्ति के स्थान पर कविनिर्मित पात्र ही रहते हैं। इनके प्रति सामाजिक का पूर्व संस्कारवश किसी भी प्रकार का विशिष्ट भाव—पूज्य बुद्धि आदि भाव—लुप्त हो जाता है, इस दृष्टि से अब उसे रस प्राप्त करने में कोई बाधा नहीं रहती। निस्सन्देह यह स्थिति किसी काव्य में वर्णित पात्र पर ही घटित हो सकती है, इतिहास, अथवा पुराण के किसी व्यक्ति-विशेष पर घटित नहीं हो सकती।

इस प्रकार हमने देखा कि धनञ्जय और धनिक ने अपने उक्त विवेचन में भट्टनायक और अभिनवगुप्त के ही आधार पर [काव्यास्वाद] की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए भी उसमें 'कवि-तत्त्व' को स्पष्ट शब्दो में सम्मिलित किया है। निस्सन्देह यह तत्त्व इनसे पूर्ववर्ती दोनो मर्मवेत्ता आचार्यों को भी स्वीकृत रहा होगा, पर उन्होने इसका स्पष्टतः उल्लेख नही किया था, धनञ्जय और धनिक ने इस व्याख्यागाथा में इस शृंखला को जोडकर एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया है।

●

धनञ्जय के उपरान्त इस दिशा में उल्लेखनीय आचार्य विश्वनाथ है। पहले, उन्होने 'साधारणीकरण' की आवश्यकता के सम्बन्ध में प्रश्न करते हुए कहा कि '[काव्य-नाटक आदि में वर्णित एव दर्शित] राम आदि के रति आदि भाव [सामाजिक के रति आदि भावो के] उद्बोधक कारण कहाते हैं, किन्तु इनसे सामाजिको के रति आदि का उद्बोध होता कैसे है?'[1] इस प्रश्न के उत्तर में उन्होने कहा:

—व्यापारोऽस्ति विभावादेः नाम्ना साधारणी कृतिः, तत्प्रभावेण, अर्थात् विभाव आदि (विभाव, अनुभाव और संचारिभाव) के व्यापार का नाम साधारणीकरण है, उसके प्रभाव से। 'विभावादि का व्यापार' शब्द से यहां अभिप्रेत है—समग्र क्रियाकलाप का सम्मिश्रित रूप [total impact]।

—इसी प्रभाव के कारण सहृदय समुद्र को भी कूद जाने वाले हनुमान् के साथ अभेद—अथवा साधारण अभिमान अर्थात् समानभाव—प्राप्त कर लेने

---

१. ननु कथं रामादिरत्याद्युद्बोधकारणैः सामाजिकरत्याद्युद्बोधः।
—सा० द० ३।६ वृत्ति

के कारण अपने-आपको भी वैसा ही समझने लगता है, तथा समुद्र-लंघन जैसे कठिन कृत्यो मे [मानसिक रूप से] उत्साहित हो जाता है।[1] दूसरे शब्दो में कह सकते हैं कि काव्य और नाटक में वर्णित ये रति आदि भाव [एक ओर काव्य-नाटक के राम आदि पात्रो और दूसरी ओर दर्शको के] साधारण बन जाते है, अर्थात् सहृदय को उन्ही भावो की ही प्रतीति होती है जिनकी राम आदि को—साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते। ये भाव न तो केवल सहृदयो के होते है और न केवल राम आदि के, क्योंकि 'यदि ये सहृदय के अपने (लौकिक-भाव) मान लिये जाए तो इस स्थिति में लज्जा, भय आदि अन्य भाव भी उत्पन्न हो सकते है, और यदि केवल राम आदि दूसरे व्यक्तियो के मान लिये जाए तो यह विषय अरसनीय है—क्योकि लोक में दूसरो के भावो का देखना रस का विषय नही बनता।'[2] अत. ये भाव दोनो के साधारण ही होते हैं। यही कारण है कि 'रसास्वाद के समय इस प्रकार की विशेषसम्बद्धता स्थापित नही की जा सकती कि विभाव आदि किसी दूसरे के हैं, अथवा किसी दूसरे के नही है, मेरे है अथवा मेरे नही है।'[3]

इस प्रकार हम देखते है कि विश्वनाथ ने अधिकांशतः अभिनवगुप्त का ही मन्तव्य अति स्पष्ट एवं स्वच्छ रूप में प्रस्तुत किया है। उनके वक्तव्य का सार इस प्रकार है—

(क) काव्य-नाटक-गत विभाव आदि तीनो का व्यापार अर्थात् सम्मिश्रित क्रिया-कलाप साधारणरूप ग्रहण कर लेता है, अर्थात् समस्त घटना-चक्र अपने विशिष्ट व्यक्तित्व से रहित हो जाता है।

(ख) इसका परिणाम यह होता है कि हनुमान आदि पात्र और सहृदय दोनों में अभेद स्थापित हो जाता है, अर्थात् दोनों के रति आदि भाव

१. व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणी कृतिः॥
तत्प्रभावेण, यस्याऽऽसन् पाथोधिप्लवनादयः।
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मनं प्रतिपद्यते॥
उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्याऽभिमानतः।
नृणामपि समुद्रादिलंघनादौ न दुष्यति॥
—सा० द० ३। ९–११

२. रत्यादेरपि स्वात्मगतत्वेन प्रतीतौ सभ्यानां व्रीडाऽऽतकादिर्भवेत्। परगतत्वेन तु अरस्यतापातः। —सा० द० ३। १२ वृत्ति।

३. परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते॥—सा०द० ३। १२, १३

एक समान हो जाते हैं, दूसरे शब्दों में, सहृदय पात्रों के ही रति आदि भावों के ग्रहण कर लेने के कारण उन्हीं के अनुरूप [मानसिक रूप में] आचरण करने लगता है।

(ग) और यही स्थिति रसास्वाद की भूमिका है।

●

विश्वनाथ के उपरान्त जगन्नाथ ने नव्य आचार्यों के नाम से एक मत उद्धृत किया, जिसके अनुसार—

—काव्य और नाटक मे कवि और नट द्वारा विभाव, अनुभाव और सचारिभाव के प्रकाशित होने पर सामाजिक व्यञ्जना-व्यापार द्वारा यह स्वीकृत-कर लेता है कि दुष्यन्त मे शकुन्तला के प्रति रतिभाव है।

—इसके उपरान्त [सामाजिक मे] सहृदयता के कारण एक विशेष भावना उत्पन्न होती है जो कि वस्तुत. एक दोष है, जिस के प्रभाव-स्वरूप सामाजिक की आत्मा कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित हो जाती है, अर्थात् वह अज्ञान से अवच्छिन्न (सयुक्त) हो जाती है, और तभी उसमें साक्षिभास्य शकुन्तला आदि के विषय मे अनिर्वचनीय रति आदि चित्तवृत्तिया उत्पन्न हो जाती है [अर्थात् हमे शकुन्तला आदि के प्रति इस प्रकार के रति आदि भाव उत्पन्न हो जाते है जो व्यवहार की दृष्टि से बिलकुल झूठे होते है], और इन्ही रत्यादि का नाम ही रस है। यह सब इसी दोष के ही कारण होता है, इसके अभाव में रस का भी नाश हो जाता है।

—यह दोष ऐसा है जैसा कि सीपी के टुकड़े को देख कर चांदी के टुकड़े का भ्रम होता है।[1]

जगन्नाथ द्वारा प्रस्तुत नव्य आचार्यों के इस मत में और भट्ट नायक के मत में मुख्यतः दो प्रकार का अन्तर है—(क) ये व्यञ्जना को स्वीकार करते है, किन्तु भट्ट नायक इसे स्वीकार नही करते।[2] (ख) ये 'दोष' अर्थात् भावना-

---

१. नव्यास्तु—काव्ये नाट्ये च कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु व्यञ्जनव्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायाम् अनन्तरं च सहृदयतोल्लासितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मनि अज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजतखण्डः समुत्पाद्यमानो ऽनिर्वचनीय. साक्षिभास्यशकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव रसः। अयं च कार्यो दोषविशेषस्य। नाश्यश्च तन्नाशस्य। —रसगगाधर, १ म आनन, पृ० ३०।३१

२. ध्वनिवादी आचार्य व्यञ्जना को स्वीकार करते भी हैं तो इस रूप

विशेष (अथवा आत्मा की अज्ञानावछिन्नता) को मानते हैं, किन्तु भट्ट नायक इसे भी नहीं मानते। किन्तु फिर भी यदि इनके मत को साधारणीकरण-प्रसंग में उद्धृत किया जा रहा है तो केवल इसलिए कि इस मत के अनुसार मुख्य मान्यता यह है कि :

इस दोष-विशेष द्वारा सामाजिक का आलम्बन (शकुन्तला) के प्रति वैसा भाव उत्पन्न हो जाता है जैसा आश्रय (दुष्यन्त) का। जैसा कि हम देख आये हैं इनसे पूर्व साधारणीकरण के ही प्रसंग में विश्वनाथ ने भी हनुमान् और समुद्रोल्लंघन के सम्बन्ध में सामाजिक की इसी प्रतिक्रिया की ही चर्चा की थी। अस्तु।

इस प्रकार हमने देखा कि भट्ट नायक से लेकर जगन्नाथ द्वारा उद्धृत इन नव्य आचार्यों पर्यन्त 'साधारणीकरण' की व्याख्या तो होती चली गयी है, किन्तु उसकी मूल धारणा में विशेष अन्तर नहीं पड़ा कि—असाधारणस्य साधारणीकरणम् इति साधारणीकरणम्', अर्थात् विभावादि पर आधारित किसी विशेष समग्र क्रिया-कलाप का साधारण (सामान्य) रूप ग्रहण कर लेना।



इधर हिन्दी के आधुनिक आलोचकों ने भी 'साधारणीकरण' सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत की है, जिनमें से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डॉ० नगेन्द्र के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इन दोनों ने इस सम्बन्ध में नवीन मान्यताएं एव व्याख्याएं उपस्थित की है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य शुक्ल के मन्तव्य उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है[1] :—

—साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्तिविशेष या वस्तुविशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के

में नहीं कि सामाजिक इनके द्वारा यह जान लेता है कि दुष्यन्त में शकुन्तला के प्रति रतिभाव है, अपितु इस रूप में कि रत्यादि स्थायिभाव व्यञ्जना द्वारा रस रूप में परिणत होते हैं, तभी इनके मत में रस की अभिव्यक्ति मानी जाती है। इसके अतिरिक्त इन दोनों की प्रक्रिया में भी अन्तर है। नव्य आचार्य व्यंजना-व्यापार को पहले स्वीकार करते हैं और ध्वनिवादी आचार्य अन्ततः। इसके अतिरिक्त ध्वनिवादी 'दोष' को मानते ही नहीं।

१. चिन्तामणि भाग १, पृष्ठ २२७-२३२

भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओ के भाव का आलम्बन हो जाती है।

—जिस व्यक्ति-विशेप के प्रति किसी भाव की व्यंजना कवि या पात्र करता है,पाठक या श्रोता की कल्पना मे वह व्यक्तिविशेष ही उपस्थित रहता है।

—साधारणीकरण आलम्वनत्व धर्म का होता है। [पाठक या श्रोता की कल्पना में] व्यक्ति तो विशेप ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिमके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठको के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या वहुत होता है।

—रस की एक नीची अवस्था और है। × × × श्रोता या दर्शक उसी भाव का अनुभव नही करता जिसकी व्यञ्जना पात्र[1] अपने आलम्वन के प्रति करता है, वल्कि व्यंजना करने वाले उस पात्र[2] के प्रति किसी और ही भाव का अनुभव करता है। यह दशा भी एक प्रकार की रसदशा ही है—यद्यपि इसमें आश्रय के साथ तादात्म्य और उसके आलम्वन का साधारणीकरण नही रहता। × × × इस रसात्मकता को हम मध्यम कोटि की ही मानेंगे।

—जहां पाठक या दर्शक × × × आश्रय के शीलद्रष्टा के रूप में स्थित होता है, वहा × × × उस पात्र (आश्रय) का आलम्वन पाठक या दर्शक का आलम्वन नही होता, वल्कि वह पात्र (आश्रय) ही पाठक या दर्शक के किसी भाव का आलम्वन रहता है। इस दशा मे भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है, जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है।

उक्त सभी कथनो को लक्ष्य मे रखकर निष्कर्ष रूप में कह सकते है कि आचार्य शुक्ल ने 'साधारणीकरण-सिद्धान्त' को सुगम रूप में प्रस्तुत करने के लिए इसके दो पक्ष (प्रभाग, विभाग, खण्ड—जो कुछ भी कहे) कर दिये है—(क) सहृदय का आश्रय कें साथ तादात्म्य होता है, (ख) आलम्वन या आलम्वनत्व धर्म का साधारणीकरण होता है, और इन दोनो व्यापारो का एक ही शास्त्रीय नाम है 'साधारणीकरण' · तादात्म्य + साधारणीकरण =साधारणीकरण। किन्तु यदि आचार्य शुक्ल इस दूसरे कथन में 'साधारणीकरण' शब्द के स्थान पर 'सामान्यीकरण' अथवा इसी के समानान्तर किसी अन्य

१,२ यहां दोनों स्थलों पर 'पात्र' से तात्पर्य है—आश्रय।

शब्द का प्रयोग करते तो विषय-बोध कही अधिक व्यवस्थित बन जाता। तब स्थिति इस प्रकार रहती—तादात्म्य+ सामान्यीकरण=साधारणीकरण।

यहा 'आलम्बन' से आचार्य शुक्ल का तात्पर्य निस्सन्देह आलम्बनत्व धर्म से है, अर्थात् राम(आश्रय) और सीता (आलम्बन) के प्रणय-सम्बन्ध में सीता रूप आलम्बन का साधारणीकरण (सामान्यीकरण) नही होता, अपितु सीतात्व का —नायिका-भाव अथवा प्रेमिका-भाव का होता है। यदि उन्हे यही स्थिति मान्य है जो कि सर्वथा शास्त्रीय एवं तर्कसगत है तो आश्रय से भी उनका तात्पर्य आश्रयत्व धर्म लेना चाहिए, अर्थात् आश्रयभूत राम से तात्पर्य राम नही अपितु रामत्व, नायक-भाव एवं प्रेमीभाव है। काव्य और नाटक पढते अथवा देखते समय प्रत्येक पाठक एव श्रोता को राम और सीता अपने वास्तविक रूप मे भी प्रतीत होते रहते है-—इसमें तनिक भी सन्देह नही, किन्तु यह स्थिति हर समय नही रहती, वे उपर्युक्त रामत्व और सीतात्व के रूप में भी प्रतीत होते रहते है। पर हाँ, ये दोनो प्रतीतियाँ भिन्न-भिन्न क्षणो मे होती है, एक क्षण में दोनो प्रतीतियाँ सम्भव नही है। यह अलग प्रश्न है कि इन दोनो क्षणो मे काल का अन्तर इतना अत्यल्प होता है कि हमें इसका भान नही होने पाता, किन्तु यह अन्तर रहता अवश्य है। अब इन दोनो क्षणो की स्थिति के सम्बन्ध मे विचार किया जाय। सहृदय के लिए जिस क्षण राम और सीता अपने वास्तविक रूप मे रहते हैं, उस क्षण सहृदय को ठीक उसी प्रकार लौकिक रति आदि भावो की अनुभूति होती रहती है जैसी कि लोक में उन्हे सामान्य प्रेमी-प्रेमिका के रति-व्यवहार को देखकर होती है, भले ही वे प्रेक्षागृह में भी क्यो न बैठे हों। किन्तु जिस क्षण ये दोनो रामत्व और सीतात्व (एक प्रेमी और प्रेमिका) के रूप में आ उपस्थित होते है उसी क्षण रामत्व के साथ सहृदय का तादात्म्य (समानभाव) हो जाता है और सीतात्व का साधारणीकरण (सामान्यीकरण) हो जाता है, और इन दोनों के समन्वित (न कि सम्मिश्रित) रूप का नाम परम्परागत 'साधारणीकरण' है। अस्तु ! आचार्य शुक्ल के 'आलम्बन' शब्द से तात्पर्य यदि आलम्बनत्व धर्म लिया जाता है तो 'आश्रय' से तात्पर्य आश्रयत्व धर्म लेना चाहिए, क्योंकि तादात्म्य आश्रय से सम्भव नही है, आश्रयत्व धर्म से ही सम्भव है।

निष्कर्षत: उनके मत में सहृदय का आश्रयत्व धर्म के साथ तादात्म्य होता है, परिणामत आलम्बनत्व धर्म का सामान्यीकरण होता है, और इन दोनोंका नाम 'साधारणीकरण' है। निस्सन्देह ये दोनो व्यापार अपने समन्वित

रूप में मान्य है। किन्तु वस्तुत. केवल इन दोनो के इस रूप का नाम साधारणीकरण नही है। इसके अन्तर्गत कतिपय अन्य व्यापार भी सम्मिलित है, जिन पर आगे प्रकाश डाला जा रहा है।

आचार्य शुक्ल ने इसी प्रसंग में उपर्युक्त एक अन्य स्थिति का भी उल्लेख किया है, जिसके आधार पर सहृदय का आश्रय (आश्रयत्व धर्म) के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित नही हो पाता, और न ही आलम्बन का साधारणीकरण (सामान्यीकरण)हो पाता है। उदाहरणार्थ, सीता (आलम्बन)को उठाये जा रहे रावण (आश्रय) के साथ सहृदय का तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित नही हो सकता, परिणाम-स्वरूप सीता के प्रति रावण का रतिभाव भी साधारणीकृत नही होता, अर्थात् सीता सहृदय की प्रेयसी नही बन सकती। इसी प्रकार रावण द्वारा राम की भर्त्सना करने के प्रसग में सहृदय का रावण के साथ तादात्म्य नही हो पाता, और परिणामत. राम के प्रति भर्त्सनाभाव साधारणीकृत नही होता, अर्थात् सहृदय के मन मे राम के प्रति ऐसा भाव नही जगता। किन्तु फिर भी काव्य-नाटक मे वर्णित ऐसे स्थल आह्लादजनक होते है। आचार्य शुक्ल के मत में यह रसात्मकता की मध्यमावस्था है।

डॉ० नगेन्द्र—

डॉ० नगेन्द्र ने मूलतः आचार्य शुक्ल की उक्त अन्तिम धारणा—रसात्मकता की मध्यमकोटि—को लक्ष्य में रखकर साधारणीकरण के प्रसग में अपनी यह मान्यता प्रस्तुत की कि साधारणीकरण न तो आश्रय (राम)का होता है, न आलम्बन(सीता)का होता है, अपितु यह कवि की अनुभूति का होता है। और इसके परिणाम-स्वरूप, उनके कथनानुसार, आश्रय रूप रावण द्वारा राम की भर्त्सना के समय हमारी रसानुभूति मे कोई बाधा नही आती। यदि एक ओर तुलसी के रावण के प्रति हमारे हृदय मे तुच्छभाव या घृणाभाव, और उनके राम के प्रति भक्तिभाव जाग्रत होगा, तो दूसरी ओर माइकेल के रावण के लिए हमारे हृदय में महानुभूति जाग्रत होगी और राम के प्रति तुच्छभाव, किन्तु रस हमे दोनो ही अवस्थाओ में आयेगा और इसका मूल कारण यह है कि हम (हमारी अनुभूति) लेखक की अनुभूति से तादात्म्य स्थापित करते है।

आचार्य शुक्ल ने आलम्बन(सीता)का साधारणीकरण माना था, डॉ० नगेन्द्र ने उसका भी साधारणीकरण माना है, किन्तु उसे कवि की अपनी अनुभूति का सवेद्य रूप मानते हुए। उन्ही के शब्दो में 'जिसे हम आलम्बन कहते है वह वास्तव में कवि की अपनी अनुभूति का संवेद्य रूप है। उसके साधारणी-

करण का अर्थ है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण।' उनके कथनानुसार 'कवि वही होता है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सकता है। अपनी अनुभूति को व्यक्त कर लेना अलग बात है, इसका साधारणीकरण कर लेना अलग बात। सभी व्यक्ति उसे यत्किंचित् व्यक्त तो कर लेते हैं, परन्तु इसका साधारणीकरण करने की शक्ति कवि में होती है।'

डॉ० नगेन्द्र की मान्यताओ का सार तथा उनकी एवं आचार्य शुक्ल की मान्यताओ में वैषम्य इस प्रकार है—

(१) साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है।

(२) अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सकने में जो व्यक्ति समर्थ है वही कवि है।

(३) आचार्य शुक्ल जिस आलम्बन का साधारणीकरण मानते हैं, डॉ० नगेन्द्र के अनुसार वह वस्तुतः कवि की अनुभूति का सवेद्य रूप (तन्निर्मित उसका प्रतिनिधि अथवा प्रतीक) है। अतः 'कवि की अनुभूति' का ही साधारणीकरण मानना चाहिये।

(४) आचार्य शुक्ल ने सहृदय का आश्रय (आश्रयत्व धर्म) के साथ तादात्म्य स्वीकार किया था, किन्तु डॉ० नगेन्द्र के अनुसार वस्तुतः सहृदय का (स्पष्टत. कहे तो सहृदय की अनुभूति का) कवि की अनुभूति से तादात्म्य स्थापित हो जाता है। दूसरे शब्दो मे, स्वय आश्रय भी कवि का मानस-पुत्र है, उसी की अनुभूति से जन्य है।

(५) आचार्य शुक्ल ने एक विशेष स्थिति में रस की मध्यम कोटि स्वीकार की थी, किन्तु डॉ० नगेन्द्र को यह कोटि स्वीकार नही है।

●

इस प्रकार भट्ट नायक से लेकर डॉ० नगेन्द्र तक साधारणीकरण की व्याख्यागाथा प्रस्तुत करने पर इस विषय के सम्बन्ध मे स्वतन्त्र रूप से विचार करने की सामग्री उपस्थित हो गयी है। कुल मिलाकर हमारे सम्मुख चार प्रश्न उपस्थित होते हैं—

(क) साधारणीकरण का स्वरूप क्या है ?

(ख) साधारणीकरण किसका होता है ?

(ग) क्या रसात्मकता की मध्यम कोटि स्वीकार होनी चाहिए ?

(घ) साधारणीकरण रसास्वाद मे किस प्रकार सहायक बनता है ?

इनमें तीसरा प्रश्न आचार्य शुक्ल के विवेचन-स्वरूप उत्पन्न हुआ है, इसी प्रसंग के अन्तर्गत पूर्वाचार्यो ने इस पर प्रकाश नही डाला था। शेष

तीनो पर, जैसा कि ऊपर लिख आये है, इस सिद्धान्त के प्रवर्तक भट्ट नायक ने प्रारम्भ में ही प्रकाश डाल दिया था। उनके अनुसार—

(क) साधारणीकरण व्यापार उसे कहते है जिसके द्वारा सहृदय अपने पूर्व मोह आदि भावो से मुक्त हो जाता है

(ख) साधारणीकरण विभाव आदि सबका होता है।

(ग) साधारणीकरण रसास्वाद के लिए यह पृष्ठभूमि तैयार करता है ।

इन तीनों वक्तव्यों में से प्रथम वक्तव्य थोड़े बहुत परिवर्द्धित एव स्पष्टीकृत रूप में अभिनवगुप्त से डॉ० नगेन्द्र तक सभी आचार्यो को अपने मूल रूप मे लगभग एक समान मान्य है। तृतीय कथन के सम्बन्ध मे भी किसी को कोई आपत्ति नही है कि साधारणीकरण रसास्वाद की पूर्वस्थिति है—वहा तक पहुँचने के लिए यह एक अनिवार्य सोपान है। किन्तु द्वितीय कथन आधुनिक युग मे अवश्य विवाद-ग्रस्त बन गया है। इस सम्बन्ध में भट्ट नायक और विश्वनाथ के कथन तो नितान्त स्पष्ट है कि साधारणीकरण विभाव आदि तीनो का होता है। अभिनवगुप्त ने भी प्रकारान्तर से इसे ही स्वीकार किया है। मृगपोतक (आश्रय), त्रासक (आलम्बन), भय (स्थायिभाव) इन सबका सामान्य रूप ग्रहण कर लेना उन्हे स्वीकार है। उनके पूर्वोक्त 'नटादि-सामग्री' तथा 'काव्यार्पितानां वस्तुसतां देशकालप्रमात्रादीनाम्' आदि कथन भी इस मान्यता की पुष्टि करते है। किन्तु इधर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डॉ० नगेन्द्र इस तथ्य से सहमत नही है।

[क]

आचार्य शुक्ल सहृदय का आश्रय (आश्रयत्व) से तादात्म्य स्वीकार करते है और आलम्बन (आलम्बनत्व) का साधारणीकरण (सामान्यीकरण)। निस्सन्देह यह स्थिति अस्वीकार्य नही है, किन्तु केवल इतने मात्र को 'साधारणी-करण' कहना समुचित नही है, वस्तुतः साधारणीकरण विभाव आदि तीनों के सम्मिलित क्रिया-कलाप [total impact] का होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आश्रय से तादात्म्य—सम्बन्ध की स्वीकृति की प्रेरणा आचार्य शुक्ल को विश्वनाथ के 'तदभेदेन' शब्द से मिली है—'प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते।' इस कथन के अनुसार सहृदय के विषय मे यह माना गया है कि उसका हनुमान् के साथ अभेद-सम्बन्ध (आचार्य शुक्ल के शब्दो मे 'तादात्म्य') स्थापित हो जाता है, और परिणामत. सहृदय भी [मानसिक रूप में] समुद्रोल्लघन करने लग जाता है। निस्सन्देह विश्वनाथ ने उदाहरण केवल आलम्बन-विभाव (आश्रय—हनुमान्, आलम्बन—समुद्रोल्लघन-कार्य) का दिया

है, किन्तु उन्हे अभिप्रेत यही है कि अनुभाव, सचारिभाव आदि भी इन्ही के साथ स्वत: ग्रहणीय हैं। वस्तुत. आलम्बन विभाव के साथ शेष दो साक्षात् अथवा असाक्षात् रूप से स्वत अनुस्यूत रहते हैं। इन दोनो के बिना आलम्बन-विभाव का वर्णन सम्भव ही नही है। इसी प्रसग में स्वय उन्होंने विभाव आदि के व्यापार को साधारणीकरण नाम दिया है—व्यापारोऽस्ति विभावादेः नाम्ना साधारणी कृति'। यहा 'विभाव आदि का व्यापार' से तात्पर्य है विभाव आदि तीनो का—विभाव (आश्रय, आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव), अनुभाव और संचारिभाव सब का—सम्मिश्रित क्रिया-कलाप, न कि केवल आश्रय और अथवा आलम्बन का। यही सम्मिश्रित क्रियाकलाप ही जब अपने विशिष्ट व्यक्तित्व से रहित होकर साधारण रूप ग्रहण कर लेता है, तभी सहृदय आश्रय के अनुकूल रति आदि भावो की अनुभूति कर सकने मे समर्थ होता है। निस्सन्देह यह स्थिति साधारणीकरण का परिणाम है, यह स्वयं साधारणीकरण नही है। अस्तु! साधारणीकरण न केवल आश्रय का होता है, न आलम्बन का, और न इन दोनो का, अपितु विभावादि के सम्मिश्रित क्रिया-कलाप का—समस्त घटनाचक्र का—होता है।

[ख]

तो क्या विभावादि का सम्मिश्रित क्रियाकलाप 'कवि की अनुभूति' का दूसरा नाम नही है ? हमारा विचार है कि नही। कवि की अनुभूति पूर्व-वर्ती है, वह माध्यम है, कारण एव साधन है, और इधर विभावादि का सम्मिश्रित क्रियाकलाप उस अनुभूति से जन्य होने के कारण परवर्ती है। यह उसका कथ्य रूप है, परिणाम एव साध्य है। यह अलग बात है कि इस कथ्य के पीछे वह सदा आधार बनी रहती है, किन्तु आधेय सदा यही कथ्य ही रहता है। सहृदय इसी क्रियाकलाप को पढता, सुनता और देखता है, और इसी के साधारणीकृत हो जाने पर, [दूसरे शब्दो मे, किसी घटना-विशेष से सम्बद्ध न रहकर सामान्य रूप ग्रहण कर लेने पर] सहृदय अपने पूर्व श्रद्धा, मोह, घृणा, ईर्ष्या आदि भावो से विमुक्त हो जाता है। बस, अब उसके के लिए राम और सीता, हरिश्चन्द्र और रोहिताश्व, रावण और कस सामान्य धरातल पर उतर आते है और तभी उसके लिए रसास्वाद -प्राप्ति की भूमिका तैयार हो जाती है। जब तक यह अनुभूति कवि के हृदय तक सीमित रहती है—दूसरे शब्दो मे, वह कथ्य रूपी आकार को धारण नही कर लेती, तब तक सहृदय का उसके साथ कोई सम्बन्ध नही है—यहा तक कि असाक्षात् सम्बन्ध भी नही है। इस आकार

को ग्रहण कर लेने पर कवि की अनुभूति के साथ सहृदय का निस्सन्देह असाक्षात् सम्बन्ध तो स्थापित हो जाता है, पर सहृदय की दृष्टि मे साधारणीकृत रूप विभावादि का ममग्र क्रियाकलाप (total impact) ही ग्रहण करता है। अत यदि 'कवि की अनुभूति' से तात्पर्य कथ्य का आकार ग्रहण करने की पूर्वावस्था है तब तो इमका साधारणीकरण नही होता, और यदि इससे तात्पर्य कथ्य रूप आकार ही है, तो यह उसका लाक्षणिक प्रयोग है और ऐसे प्रयोगो को काव्य मे तो स्थान मिलना चाहिए पर 'शास्त्रचर्चा' मे नही।

'साधारणीकरण' का शास्त्रीय एवं परम्परा-सम्मत अर्थ है असाधारण (विशेष) घटना का साधारण (सामान्य) घटना के रूप मे प्रस्तुत हो जाना। किन्तु डॉ० नगेन्द्र को, जैसा कि ऊपर कह आये है, इसका एक अन्य अर्थ भी अभिप्रेत है—कवि और सहृदय के बीच साधारण (एक समान) मनोव्यापार का स्थापन। इसका तात्पर्य यह है कि कवि को जो भाव जिस रूप में अभीष्ट है सहृदय को भी वही भाव उसी रूप मे मान्य हो जाए। दूसरे शब्दो मे, एक व्यक्ति की विशेप भावना उमी तक मीमित न रहकर अन्य सब की साझी बन जाए—साधारण (सामान्य) रूप ग्रहण कर ले। उन्ही के कथनानुमार कवि भी वही है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण करने की क्षमता रखता है।

निस्सन्देह यह अर्थ उक्त परम्परा-सम्मत अर्थ के ही निकट है। अन्तर इतना है कि सहृदय के लिए डॉ० नगेन्द्र के मत मे कवि की अनुभूति व्यष्टिनिष्ठता से हटकर साधारण रूप ग्रहण करके ममष्टिनिष्ठ बन जाती है, और सस्कृत के आचार्यो के मत में यह अनुभूति नही अपितु इससे जन्य विभावादि का समग्र व्यापार यह रूप ग्रहण करता है। इस प्रकार इन दोनो की केवल प्रक्रिया में ही अन्तर है—इधर एक सोपान है और उधर दो है। इधर अनुभूति का साधारणीकरण माना गया है, और उधर एक सोपान और आगे—इससे उत्पन्न समस्त घटना-चक्र का। किन्तु दोनो स्थितियो का शास्त्र-सम्मत परिपाक एक ही है—रसानुभूति-प्राप्ति के लिए अनिवार्य भूमिका का तैयार हो जाना।

कवि-तत्त्व का उल्लेख भट्ट नायक तथा अभिनवगुप्त ने प्रकारान्तर से, धनञ्जय-धनिक ने साक्षात् रूप से, और आचार्य शुक्ल ने स्पष्ट शब्दो में, किया था, किन्तु कवि की 'अनुभूति' के साधारणीकरण की ओर किसी का ध्यान नही गया था। इम आन्तरिक तत्त्व की इस रूप में स्वीकृति सर्वप्रथम डॉ० नगेन्द्र ने प्रस्तुत की। इसका एक मात्र कारण है उनका मनोविश्लेपणात्मक जीवन-दर्शन। वह बाह्य उपलब्धि को देखने-परखने की

अपेक्षा उसके आन्तरिक कारण को ढूढ निकालने में कही अधिक विश्वास रखते हैं। उनके चिन्तन का यही सार उनकी रचनाओ मे सर्वत्र व्याप्त है—उनकी आलोचना के व्यावहारिक पक्ष मे भी और सैद्धान्तिक पक्ष मे भी। साधारणी-करण-सिद्धान्त भी इससे अस्पृश्य नही रह सका। अस्तु !

[ग]

आचार्य शुक्ल को 'रसात्मकता की मध्यम कोटि' इसलिए स्वीकृत थी कि किन्ही परिस्थितियो में सहृदय का [रावणरूप] आश्रय के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध (विश्वनाथ के शब्दो में अभेद-सम्बन्ध) स्थापित नही हो पाता। किन्तु वस्तुत. देखा जाए तो शृङ्गार, भयानक आदि रसो मे आश्रय और आलम्बन सदा एक व्यक्तिनिष्ठ नही रहते, क्षण-क्षण मे परिवर्तित भी हो सकते है। उदाहरणार्थ, शृङ्गार रस में राम की सदा आश्रय रूप मे और सीता की सदा आलम्बन रूप मे स्वीकृति नितान्त असम्भव है, मनोविज्ञान के भी प्रतिकूल है। अत. पारिभाषिक शब्दावली मे कभी राम को आश्रय कहेगे और सीता को आलम्बन, तो कभी इसके विपरीत सीता को आश्रय कहेगे और राम को आलम्बन। यह स्थिति कितनी देर में परिवर्तित होती है यह रस-विशेष और घटना-विशेष पर आधारित है। शृङ्गार रस के प्रकरण मे इनका प्रत्येक क्षण में परिवर्तित होने रहना स्वाभाविक है, अन्यथा यह विषय 'रसाभास' की कोटि में आयेगा। इसी सम्बन्ध मे एक स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि सीता के आश्रय रूप में तथा राम के आलम्बन रूप में स्थित होने की अवस्था मे क्या पुरुष सहृदय का सीता के साथ अभेद-सम्बन्ध हो सकता है। इसका उत्तर है—हाँ, असन्दिग्ध रूप से। साधारणीकरण व्यापार का यही तो प्रभाव है कि समस्त घटना इस रूप में अपना निजी व्यक्तित्व खोकर सामान्य रूप धारण कर लेती है कि सहृदय जाति, धर्म, लिंग, वय:, देश, काल आदि सव प्रकार की सीमाओ से ऊपर उठ जाता है। अस्तु ! आश्रय और आलम्बन किन्ही रसो में परिवर्तित होते रहते है, किन्तु हाँ, किन्ही रसो मे निस्सन्देह ये परिवर्तित नही भी होते। जैसे करुण रस के प्रसग मे विलाप करता हुआ पिता सदा आश्रय रहेगा और मृत पुत्र सदा आलम्बन। अब शुक्लजी द्वारा प्रस्तुत 'रावण-सीता-प्रसग' को लीजिए। यहां आश्रय रावण को न मान कर सीता को मानना चाहिए। रावण यहां आलम्बन है। सीता (आश्रय) के हृदय मे रावण के प्रति जिस प्रकार के भाव है सहृदय के मन में भी उसके प्रति वैसे ही भाव उत्पन्न हो जाते है। वस्तुतः ऐसे प्रसगो मे आचार्य शुक्ल के कथनानुसार रावण (आलम्बन) के साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित होने का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता। अतः

रसानुभूति की मध्यम कोटि स्वीकार करना समुचित नही है। हाँ, रावण द्वारा अपनी राजसभा में अथवा परशुराम द्वारा जनक की सभा मे राम की भर्त्सना करने के प्रसंग मे सहृदय का तादात्म्य किसके साथ माना जाए—यह समस्या थोड़ी जटिल है। इस जटिलता का मूल कारण है हमारा प्रवल सस्कार, अथवा कथा-प्रसंग का पहले से ही ज्ञान। किन्तु यदि हम किसी विदेशी अथवा इस कथा-प्रसंग से नितान्त अनभिज्ञ सहृदय को दृष्टि में रखें तो यह समस्या भी जटिल नही रह जाती। ऐसे सहृदय का तादात्म्य रावण अथवा परशुराम के साथ ही होगा। अब कथा-प्रसग से परिचित व्यक्ति को लीजिए। हमारे विचार में ऐसे सहृदय का तादात्म्य भी रावण अथवा परशुराम (आश्रय) के साथ होता है। वस्तुतः साधारणीकरण व्यापार का प्रभाव ही यही है कि इससे हमारे मभी प्रकार के पूर्वाग्रहो का विनाश हो जाता है। यदि इसके द्वारा—

परिमृदितमृणालीदुर्वलान्यङ्गकानि
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता॥ उ०रा० १।२४

—ऐसे कथनो मे सहृदय का राम के साथ तादात्म्य स्वीकार किया जाता है, तो उक्त प्रसंग मे भी तत्क्षण के लिए रावण के साथ तादात्म्य स्वीकार करने में नितान्त आपत्ति नही होनी चाहिए। अस्तु! रस की मध्यम कोटि स्वीकृत करना हमारे विचार में समुचित नही है। ऐसे स्थलो को 'रसाभास' के अन्तर्गत ग्रहण करना भी युक्तिसंगत नही है। उसका विषय-क्षेत्र इससे विभिन्न प्रकार का होता है।

[घ]

साधारणीकरण रसास्वाद में भूमिका का कार्य करता है, यह शास्त्र-सम्मत मान्यता पीछे कई वार उल्लिखित हो चुकी है। 'सहृदय के हृदय मे वासना रूप से स्थित स्थायिभाव जव विभाव, अनुभाव और सचारिभाव का सयोग प्राप्त करता है तो रम रूप में अभिव्यक्त हो जाता है'—अभिनवगुप्त द्वारा स्वीकृत यह सिद्धान्त साधारणीकरण के सन्दर्भ मे किस प्रकार घटित होता है—अव अन्त में इस विपय पर प्रकाश डालना अपेक्षित है।

इस सिद्धान्त-कथन में स्थायिभाव के सम्वन्ध मे तो अभिनवगुप्त द्वारा स्पष्टतः कह दिया गया है कि वह सहृदय का होता है, किन्तु जव साधारणीकरण व्यापार-द्वारा आलम्वन विभाव के प्रथम पक्ष—आश्रय के साथ सहृदय का अभेद (तादात्म्य) स्वीकार कर लिया जाता है तो इसी के साथ-साथ यह भी अनिवार्यत. स्वीकार कर लेने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए कि आश्रय के अनुभाव एव संचारिभाव भी हमारे ही अनुभावो एवं सचारिभावो को

जाग्रत करते है—इनमे से सचारिभाव तो मानसिक व्यापार है ही, हमारे अनुभाव भी मानसिक रूप से ही जाग्रत हो उठते है—क्योकि काव्य-नाटक पढ़ते अथवा देखते समय राम, हनुमान, परशुराम, दुष्यन्त अथवा किसी भयग्रस्त व्यक्ति के समान सहृदय द्वारा कायिक चेष्टाएं करने लग जाने का प्रश्न ही उपस्थित नही होता, यद्यपि वह मानसिक रूप से ऐसा कर रहा होता है। शेष रहा आलम्बन विभाव का पहला पक्ष अर्थात् आलम्बन तथा उसकी बाह्य चेष्टाए एव आन्तरिक व्यापार—शास्त्रीय शब्दावली में कहे तो क्रमश: उद्दीपनविभाव और सचारिभाव। हमारा विचार है कि इस पक्ष की प्रतिमूर्ति भी हमारे मन में ही अंकित होती जाती है—क्योकि मन स्थिति के अनेक एव एक दूसरे से भिन्न कक्ष स्वीकार किया जाना कोई असम्भव परिकल्पना नही है। इस प्रकार हमारे विचार मे सहृदय का स्थायिभाव सहृदयनिष्ठ ही विभाव अनुभाव, सचारिभाव के सयोग से (जो कि निस्सन्देह काव्य-नाटक के विभावादि के ही प्रतिरूप अथवा प्रतिबिम्ब होते है) रस रूप मे अभिव्यक्त होता है। चाहे तो इस प्रक्रिया को विद्युत्-उत्पादक यंत्र (generator) से कुछ सीमा तक उपमित कर सकते है, जो अपनी शक्ति उत्पन्न करने के उपरान्त पुन. उसी शक्ति से ही सचलित होता रहता है। यदि साधारणीकरण व्यापार द्वारा विभावादि तीनो के वैशिष्ट्य के ह्रास होने के उपरान्त उनका साधारण रूप में परिणत होना स्वीकार किया जाता है तो इसी के परिणाम-स्वरूप इन सबके सहृदय-ग्राह्य एवं सहृदयनिष्ठ बन जाने पर उक्त प्रक्रिया की स्वीकृति में भी कोई आपत्ति नही होनी चाहिए। निष्कर्षत:—

१ किसी असाधारण अर्थात् विशेष [पदार्थ] का साधारण अर्थात् सामान्य रूप में ग्रहीत होना साधारणीकरण व्यापार कहता है।

२. काव्य-नाटक में साधारणीकरण विभावादि के सम्मिश्रित क्रियाकलाप का—समस्त घटनाचक्र—का होता है।

३. इस व्यापार के द्वारा सहृदय अपने पूर्व मोह आदि भावों से मुक्त हो जाता है।

४. साधारणीकरण रसास्वाद में भूमिका का कार्य करता है।

५. सहृदय का स्थायिभाव [साधारणीकरण के पृष्ठाधार पर] सहृदयनिष्ठ ही विभावादि का संयोग पाकर रसरूप में अभिव्यक्त हो जाता है।

६ रसात्मकता की मध्यम कोटि स्वीकार नहीं करनी चाहिए।



: १० :

शृङ्गार का रसराजत्व

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यो मे से कतिपय आचार्यो ने शृङ्गार रस को स्पष्टत: अथवा प्रकारान्तर से 'रसराज' माना है।[1] किन्तु उधर संस्कृत के काव्यशास्त्रियो ने यद्यपि शृङ्गार रस को 'रसपति' अथवा 'रसराज' आदि की उपाधि से विभूषित नही किया[2], पर अन्य रसो की अपेक्षा वे इसे सर्वोत्कृष्ट रस के रूप मे काव्यशास्त्र-निर्माण के आरम्भिक युग मे ही घोषित करते रहे है। भरत मुनि के 'शब्दो मे ससार मे जो कुछ भी पवित्र, विशुद्ध, उज्ज्वल एव दर्शनीय है, उसकी शृङ्गार रस से उपमा दी जाती है।'[3] रुद्रट के कथनानुसार 'शृङ्गार रस जैसी रस्यता को अन्य कोई रस उत्पन्न नही कर सकता। इस रस मे ही आबाल-वृद्ध सभी मानव (केवल मानव ही क्यों? पशु, पक्षी यहाँ तक कि लता-गुल्मादि भी) ओतप्रोत है। इस रस के समावेश के विना काव्य हीन कोटि का है। अत: इसके निरूपण-में कवि के लिए विशेष प्रयत्न अपेक्षित है।'[4] और, आनन्दवर्द्धन के शब्दों में

---

१. उदाहरणार्थ—

केशव : सब को केसवदास कहि नायक है सिंगार। र० प्रि० १।१७

सोमनाथ नव रस को पति सरस अति रस सिंगार पहिचानि। र०पी०नी० ८।१

देव : भूलि कहत नव रस सुकवि सकल मूल सिंगार। भ०वि० १०

२ हाँ, रूपगोस्वामी ने 'मधुर' रस को 'भक्तिरसराट्' अवश्य कहा है।

—उ०नी०म०, पृ० ४

३. यत्किंचिल्लोके शुचि मेध्यं दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणाऽनुमीयते।

—ना०शा० ६।४५ (वृत्ति)

४. सर्वरसेभ्य शृङ्गारस्य प्राधान्यं प्रचिकटयिषुराह—

अनुसरति रसानां रस्यतामस्य नान्य:
सकलमिदमनेन व्याप्तमाबालवृद्धम्।
तदिति विरचनीय सम्यगेष प्रयत्नाद्
भवति विरसमेवानेन हीनं हि काव्यम्॥ का०अ० १४।३८

शृङ्गार ही सर्वाधिक मधुर और परम आह्लादक रस है।[1]

०

उपर्युक्त स्थलों में शृङ्गार रस की अन्य रसों की अपेक्षा प्रकारान्तर से प्रमुखता घोषित की गयी है, इधर आगे चलकर आचार्यो का सम्भवतः एक वर्ग ऐसा भी रहा होगा, जिसे न केवल रस की संज्ञा अकेले 'शृङ्गार' रस को देनी अभीष्ट होगी, अपितु इसे वीरादि अन्य रसो का आधार भी मानना स्वीकृत होगा। उपलब्ध स्रोतो के अनुसार केवल भोजराज और अग्निपुराणकार के ही एतत्सम्बन्धी मत को प्रमाण-स्वरूप उपस्थित किया जा सकता है।

भोज—भोज ने शृङ्गार, वीर आदि दस रसो के स्थान पर रस की संज्ञा केवल शृङ्गार को ही दी है।[2] शृङ्गार को इन्होने 'अहकार' और 'अभिमान' का पर्याय माना है।[3]

भोज द्वारा प्रयुक्त 'अहकार' शब्द मिथ्यागर्व अथवा उत्तेजनाजन्य अभिमान का वाचक न होकर मनुष्य का अपने प्रति 'सहज अनुराग' का द्योतक है। इसी अहभाव (आत्मानुराग) के कारण वह अपने स्नेहार्ह व्यक्तित्व का आभास करने लगता है। किसी कोमलांगी द्वारा स्निग्ध दृष्टि से देखे जाने पर एक पुरुप में जो आत्मज्ञान, आत्मविश्वास और आत्मानुराग की भावना जाग्रत होकर उसे सहज सुख में आत्म-विभोर कर देती है वही 'अहंकार' की स्थिति है, और तभी उस पुरुप का मनमयूर नाच उठता है, वह अपने आपको धन्य, कृतकृत्य एव स्नेहभाजन मानने लग जाता है—

अहो अहो नमो मह्यं यदहं वीक्षितोऽनया।
मुग्धया त्रस्तसारंगतरलायतनेत्रया॥ शृं०प्र० (रा०) पृष्ठ ४६४

बस, भोज इसी 'अहंकार' को रस कहते है। उनके अनुसार रस की परिभाषा है—मनोनुकूल दु.खादि भावों में [भी] आत्मगत सुखद अभिमान की प्रतीति।[4]

१. शृङ्गार एव मधुर. परः प्रह्लादनो रस। ध्वन्या० २।७

२. शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य-
बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।
आम्नासिषु दशरसान् सुधियो, वयं तु
शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः॥ शृं०प्र० (रा०) पृष्ट ४७०

३. रसोऽभिमानोऽहंकारः शृङ्गार इति गीयते। स०क०भ०५।१

४. मनोऽनुकूलेषु दु:खादिषु आत्मनः सुखाभिमानः रसः।
उदाहरणार्थ—दु.खदातापि सुखं जनयति यो यस्य वल्लभो भवति।
दयितनखदूयमानयोः विवर्धते स्तनयोः रोमांच॥ शृं०प्र०पृष्ठ ४६

इसी अहंकार का अपर नाम शृङ्गार है, क्योंकि यही भाव सामाजिक को शृङ्ग अर्थात् सुख की चोटी (पराकाष्ठा) तक पहुंचा देता है।[1] अतः भोज को केवल अहंकार अथवा उसके पर्यायवाची शृङ्गार को ही रस की संज्ञा देनी अभीष्ट है, अन्य तथाकथित रसों को नहीं।[2]

'अहंकार' नामक यह मूल प्रवृत्ति प्रत्येक व्यक्ति को सुलभ नहीं है। यह पुण्यात्माओं द्वारा पूर्वजन्म के निर्मल कर्मों और अनुभवों से प्राप्त होती है। यही मनुष्य की आत्मा की सम्पत्ति है, और श्रेष्ठ गुणों के उदय का कारण भी।[3] सहृदय, रसिक अथवा सामाजिक कहाने का अधिकारी भी केवल वही व्यक्ति है जिसमें यही 'अहंकार' नामक प्रवृत्ति जाग्रत हो चुकी है। जिस व्यक्ति में अहंकार अथवा शृङ्गार का अस्तित्व है, वही रसिक कहाता है, अन्यथा वह व्यक्ति नीरस कहा जाएगा।[4] अहंकारी—दूसरे शब्दों में शृङ्गारी—कवि अथवा सामाजिक ही जगत् को रसमय बना सकता है,[5] और काव्यानन्द प्राप्त कर सकता है। अहंकारी अथवा शृङ्गारी व्यक्ति में ही रति, हास, उत्साह आदि भावों का उदय होता है न कि अनहंकारी, अशृङ्गारी अथवा अरसिक व्यक्ति में। अत भरतादि के अनुसार रत्यादि से रस की उत्पत्ति मानना उचित नहीं है, अपितु आत्मा के अहंकार-विशेष शृङ्गाराख्य

---

१. येन शृङ्ग रीयते (गम्यते) स शृङ्गारः। वही, पृष्ठ ४७७

२. (क) स शृङ्गार. सोऽभिमान. स रसः।
(ख) रसः शृङ्गार एव एकः। वही पृष्ठ ४७७

३. सत्त्वात्मनाममलधर्मविशेषजन्मा
जन्मान्तरानुभवनिर्मितवासनोत्थः।
सर्वात्मसंपदुदयातिशयैकहेतु
जागर्ति कोऽपि हृदि मानमयो विकार· ॥ वही, पृष्ठ ४६४

४. शृङ्गारो हि नाम × × × आत्मनोऽहंकारविशेषः सचेतसा रस्य-मानो रस इत्युच्यते, यदस्तित्वे रसिकोऽन्यथात्वे नीरस इति।
—वही पृष्ठ ५१७

५. तुलनार्थ—अग्निपुराणकार का 'शृङ्गारी' शब्द भी रसिक का ही वाचक है, न कि रतिप्रिय का—
शृङ्गारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमय जगत्।
स चेत् कविर्वीतरागो नीरसं व्यक्तमेव तत् ॥ अ०पु० ३३९। ८
[तुलनार्थ—ध्व० ३। ४३(वृत्ति), स० क०भ० ५।३]

रस से ही रत्यादि की उत्पत्ति मानना उचित है ।[१]

विपय की स्पष्टता के लिए इस प्रकरण मे भोजमतानुसार रत्यादि भावो, अहंकार (अथवा शृङ्गार) तथा रत्यादि के पारस्परिक सम्बन्ध, और रसो की सख्या पर भी प्रकाश डालना अपेक्षित है।

भोज के मत में भरतादि के अनुसार रत्यादि आठ भावों को स्थायी, निर्वेद आदि तेतीस भावो को संचारी[२] तथा स्तम्भादि आठ भावों को सात्त्विक नामो से पुकारना उचित नही है। ये सभी भाव परिस्थिति और समय के अनुसार स्थायी और सचारी भी वन जाते है, तथा सत्त्व अर्थात् मन से प्रभूत होने के कारण ये सभी सात्त्विक भी कहाते है ।[३]

उपर्युक्त ४९ भाव मनुष्य के अहकार-तत्त्व से प्रगट होकर इसी अहकार (अथवा शृङ्गार) ही को उस प्रकार प्रकाशित करते है, जिस प्रकार अग्नि से उत्पन्न ज्वालाएँ स्वय अग्नि को ही चारो ओर से प्रकाशित करती है, अथवा 'अहकार' एक नृप के समान है, और 'भाव' उसे सामन्तवर्ग के समान समान चारो ओर से घेर कर उसकी शोभा वढ़ाते है ।[४]

---

१. 'न हि रत्यादिभूमा रस.' किं तर्हि ? शृङ्गारः । शृङ्गारो हि नाम × × × × आत्मनोऽहंकारविशेष: × × × । रत्यादीनामयमेव प्रभव. इति । शृङ्गारिणो (अहंकारिणो) हि रत्यादयो जायन्ते, न अशृङ्गारिणः । शृङ्गारी हि रमते, रमयते उत्सहते, स्निह्यतीति ।—शृं०प्र० (रा०) पृष्ठ ४७०

२. भोज ने संचारिभावों की संख्या तो तेतीस मानी है, पर भरतादि-सम्मत अपस्मार और मरण के स्थान उन्होंने ईर्ष्या और शम को गिनाया है ।
—शृं० प्र० पृष्ठ ४५०, ५१७

३. वही, पृष्ठ ४७१, ५१७

४. रत्यादयोऽर्धशतमेकविवर्जिता हि
भावाः पृथग्विधविभावभुवो भवन्ति ।
शृङ्गारतत्त्वमभितः परिवारयन्तः
सप्तार्चिषं द्युतिचया इव वर्धयन्ति ।। वही, पृष्ठ ४६९ ।

५. भावा. संचारिणो ये स्थायिनो ये च सात्त्विका ।
सविभावानुभावास्ते शृङ्गारस्य प्रकाशक ॥
प्रकृतिजमभिमानसंज्ञं सममनुभावविभाववर्ग. ।
स्वमवसरमुपेयिवानुपास्ते नृपतिमिवाधिकृतेपु नीतिवर्गः ।। वही, पृष्ठ ४७१

भोज के मत में उपर्युक्त सभी के सभी भाव—न कि भरतादि के अनुसार केवल रत्यादि आठ तथाकथित स्थायी भाव—अहकार के अनुप्रवेश के कारण विभावादि के द्वारा प्रकृष्टावस्था को पहुँच कर आनन्दप्रद बन जाते है, और इन्हे यदि 'रस' नाम से पुकार भी लिया जाता है, तो केवल उपचार द्वारा ही। पर वस्तुत ये प्रमुख रूप से तो 'भाव' ही है—क्योंकि एक तो ये भोज-सम्मत रस-परिभाषा—'मनोनुकूल दु खादि में आत्मगत सुखाभिमान की प्रतीति'—की कसौटी पर खरे नही उतरते; और दूसरे, ये सभी भाव अपने व्यापार द्वारा 'अहकार' रूप रस को ही प्रकाशित करने के कारण 'रस' नही कहे जा सकते। भाव और रस मे स्पष्ट अन्तर है भाव भावनापथ पर आरूढ हैं, पर रस भावनापथ से अतीत है। इस प्रकार भोज को केवल एक ही 'अहकार'(श्रृङ्गार)रस स्वीकार्य है। हाँ, यदि रत्यादि-भाव-जन्य आनन्द-प्रदान को भी उपचार द्वारा 'रस' कहना है, तो सभी भावो मे आनन्द-प्रदान की क्षमता होने के कारण रसो की सख्या ४९ तक पहुँचनी चाहिए।[1]

६

भोज ने 'रस' को तीन कोटियो मे विभक्त किया है—रूढाहकारता,

---

१. (क) यच्चोक्तम् 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् स्थायिनो रसत्वम्' इति तदपि मन्दम्, हर्षादिष्वपि विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगस्य विद्यमानत्वात्। तस्माद् रत्यादयः सर्वं एवैते भावाः। श्रृङ्गार एव एको रस इति। तैश्च सविभावानुभावैः प्रकाशमानः श्रृङ्गारः विशेषतः स्वदते। शृ०प्र०,पृष्ठ ५१७

(ख) यद्यपि श्रृङ्गार एव एको रसः, तथापि तत्प्रभावा ये रत्यादय. ते ऽप्युद्दीपनविभावैरुद्दीप्यमानाः, तदनुप्रवेशादेव, संचारिणाम् अनुभावानां च निमित्तभावमुपयन्तः रसव्यपदेशं लभन्ते। —वही, पृष्ठ ४७२

(ग) आभावनोदयमनन्यधिया जनेन
यो भाव्यते मनसि भावनया स भावः।
यो भावनापथमतीत्य विवर्त्तमानः
साहंकृतौ हृदि परं स्वदते रसोऽसौ॥ शृ० प्र०, पृष्ठ ५२०

ते (रत्यादयः) तु भाव्यमानत्वाद् भावा एव न रसाः। यावत्सम्भवं हि भावनया भाव्यमानो भाव एवोच्यते, भावनापथमतीतस्तु रसः। मनोऽनुकूलेषु दुःखादिषु आत्मन सुखाभिमानो रस.। स तु पारम्पर्येण सुखहेतुत्वाद् रत्यादिभूमसु उपचारेण व्यवह्रियते। अतो न रत्यादीनां रसत्वम्, अपितु भावनाविषयत्वाद् भावत्वमेव। —वही, पृष्ठ ५१७

अर्थात् मानव में अहंकार की अवस्थिति, यह रस की प्रथम कोटि है। रत्यादि ४९ भावो की परप्रकर्षता को [उपचार द्वारा] रस नाम से व्यपदिष्ट करना, यह दूसरी कोटि है। रति, हास, शोक, उत्साह आदि भावो की प्रेमरूप में परिणति, यह तीसरी (परम) कोटि है।[1] तीसरी कोटि को भोज ने 'प्रेमन्' रस की भी सज्ञा दी है।[2] सम्भवतः ऐसे स्थलों से प्रेरणा प्राप्त कर कवि कर्णपूर ने भी 'प्रेमन्' रस में सब रसो का अन्तर्भाव स्वीकृत किया है,[3] और हिन्दी के आचार्यों में देव कवि ने भी यही धारणा प्रगट की है।[4]

भोज-सम्मत उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि—

रत्यादि सभी (४९) भाव, जो मानव के 'अहंकार' की उपज हैं, काव्य-नाटकादि में वर्णित अथवा दर्शित होने पर विभावादि की सहायता से रसिक के अहकार को जाग्रत और पुष्ट करते हैं। उनके मत में 'अहंकार' शब्द 'रस' का पर्यायवाची भी है और 'शृङ्गार' का भी। निस्सन्देह भोज रस को 'अहंकार' शब्द का पर्याय मान कर मानव-हृदय की अतल गहराई तक पहुँच गये है। 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' बृहदारण्यक उपनिषद् (२।४।५) के इस कथन के अनुसार मानव-हृदय द्वारा किसी के प्रति प्रकटित स्नेह, शोक, उपहास, उत्साह, क्रोध, घृणा, विस्मय, भय, निर्वेद, आदि भाव उस के अपने ही संतोप के लिए होते हैं—इसी संतोप अथवा आत्मानुराग का वाचक ही भोज का पारिभाषिक शब्द 'अहकार' अथवा 'अभिमान' है। 'अहंकार' रत्यादि भावों का जनक भी है और इनसे परिपोष्य भी। 'अहकार' ही की जागृति और सुतृप्ति काव्य का चरम लक्ष्य है।

(घ) रत्यादीनामेकोनपंचाशतोऽपि विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् परप्रकर्षाधिगमे रसव्यपदेशार्हता। —वही, पृष्ठ ४५०

१. शृ० प्र० (रा०), पृष्ठ ४६३, ५२७

२. रसं तु इह प्रेमाणमेवामनन्ति सर्वेषामपि रत्यादिप्रकर्षाणां रतिप्रियो रण-प्रियोऽमर्षप्रियः परिहासप्रियः इति प्रेम्ण्येव पर्यवसानात्।

—शृं० प्र० (रा०) पृष्ठ ४६३

३. उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रेम्ण्यखण्डरसत्वतः।
सर्वे रसाश्च भावाश्च तरंगा इव वारिधौ ॥ अ०कौस्तुभ, पृष्ठ १४७-८

४. भूलि कहत नवरस सुकवि सकल मूल सिंगार।
तेहि उछाह निरवेद लै वीर सान्त संचार ॥ भवानी विलास, १०

भोज का उपर्युक्त मौलिक चिन्तन काव्यशास्त्र और मनोविज्ञान के लिए असंदिग्ध रूप से एक अभूतपूर्व देन है। भरतादि का 'रस' अलौकिक आनन्द का वाचक था, पर भोज का 'सुखाभिमान रसः' काव्यगत लोकोत्तर आनन्द अर्थात् रस के मूल कारण का भी द्योतक है। अतः प्रकारान्तर से 'अहंकार' को 'रस' का पर्याय मानना तो ठीक है, पर 'येन शृङ्ग रीयते (गम्यते)' इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'शृङ्गार' को चरमावस्था-वाचक अहकार तथा रस, इन दोनो का पर्याय स्वीकार करना एक दृष्टि से समुचित होते हुए भी 'शृङ्गार' के परम्परागत रत्युत्कर्ष रूप अर्थ का उल्लंघक होने के कारण भ्रामक अवश्य है। वस्तुतः इस व्युत्पत्ति के मूल मे पक्षपात की प्रवृत्ति कार्य कर रही है। भोज 'शृङ्गार' को ही सर्वस्व और सब रसों (भावो) का आधार मानने वाले आचार्य-वर्ग से प्रभावित था। अत. एक ओर तो उसने इसे उपर्युक्त व्युत्पत्ति के द्वारा व्यापक रूप से 'रस' का समानार्थक माना; और दूसरी ओर इसे 'प्रेमन्' का पर्याय मान कर सब रसो का आधार घोषित किया। उनके मत मे रति ही भरतादि-सम्मत तथाकथित शृङ्गारादि रसो का मूल प्राण है। उदाहरणार्थ, रतिभावापन्न व्यक्ति रति-प्रिय है, तो युद्धोत्साह-सम्पन्न व्यक्ति रणप्रिय। इसी प्रकार क्रोध, हास आदि भावो से युक्त व्यक्ति क्रमशः अमर्षप्रिय और परिहासप्रिय है। स्पष्ट है कि शृङ्गार को 'सर्वभावाधार' मानने के लिए ही वर्गगत पक्षपात के बल पर इसे इतना व्यापक रूप दे दिया गया है। इस प्रकार से वीर रस का पक्षपाती भी कोई आचार्य रत्युत्साही, रणोत्साही, अमर्षोत्साही, परिहासोत्साही आलम्बनो की कल्पना कर सकता है। और फिर, एक ही शृङ्गार शब्द को शृङ्गार : रस : प्रेमन् (रस की तीसरी कोटि)—इन सब का समानार्थक मानना जितना एक मौलिक धारणा का सूचक है, उससे कही अधिक अव्यवस्था का उत्पादक और पक्षपात का द्योतक है।



भोज ने अहंकार रूप रस की उपर्युक्त तीन कोटिया मानी है—(क) रूढाहंकारता, (ख) रत्यादि ४९ भावो की उपचार द्वारा रस-व्यपदिष्टता; और (ग) भरतादि-सम्मत शृङ्गारादि रसो का प्रेमन् रस में अन्तर्भाव। इन्होने उक्त कोटियो मे अन्य आचार्यो द्वारा प्रस्तुत रस-सम्बन्धी लगभग सम्पूर्ण विषय-सामग्री को 'अहकाररूपैकप्रवृत्तिमूलक' बना कर यथासम्भव सीमित अवश्य कर दिया है, पर पहली दो कोटियों मे 'अहकार' तत्त्व के अतिरिक्त कोई विशेष नवीनता नही है। रूढाहंकारता नामक प्रथम कोटि में 'रूढत्व' भाव

भरतादि-सम्मत 'वासना'के ही समकक्ष ठहरता है । द्वितीय कोटि मे विभावादि द्वारा प्रकृष्ट रत्यादि की 'भाव' रूप, और उन भावों द्वारा जाग्रत अभिमान की 'रस' रूप स्वीकृति में लगभग वैसा ही पूर्वापर-सम्बन्ध है, जैसा कि भरतादि ने स्थायिभावों की 'व्यक्ति' अर्थात् चर्वणा और चर्वणा के आस्वाद अर्थात् रस में माना है । इसी दूसरी कोटि में भोज ने सचारी और सात्त्विक भावो की भी प्रकृष्टता को उपचार रूप से 'रस'की सज्ञा दी है; पर उनकी यह धारणा भी नितान्त मौलिक नही है । भरतादि के मत मे प्रधानता से व्यजित संचारिभावो द्वारा प्राप्त आस्वाद की भी स्वीकृति हुई है, जिसे विषय-स्पष्टता के लिए 'रस' के स्थान पर 'भाव' की सज्ञा दी गयी है । हाँ, सात्त्विक भावो की प्रधान रूप से व्यजकता को यद्यपि भरत आदि ने अलग नाम से नही पुकारा, पर केवल अनुभाव-वर्णनात्मक स्थलों में विभाव और संचारिभावो के अध्याहार द्वारा रसास्वाद की प्राप्ति इन्हे भी स्वीकार्य है । अब शेष रही भोज-सम्मत रस की अन्तिम कोटि—प्रेमन् (शृङ्गार)मे सब रसो का अन्तर्भाव । किन्तु यह कोटि, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वर्गगत पक्षपात की ही अधिक परिचायिका है । इस की स्वीकृति में तो फिर ससार के किसी भी आभ्यन्तर अथवा बाह्य व्यवहार और कार्यकलाप का वर्गीकरण व्यर्थ सिद्ध हो जाएगा ।

निष्कर्ष यह कि—

(१) 'अहंकार' निस्सन्देह सब मानसिक भावो का मूल और सब भावों से पोष्य माना जा सकता है । उसकी परिपुष्ट जागृति को 'रस' भी कह सकते है । 'येन शृङ्ग' रीयते' इस व्युत्पत्ति के आधार पर शृङ्गार को व्यापक अर्थ मे 'रस' अथवा 'अहंकार' का पर्याय भी, प्रकारान्तर से—खीचतान कर, मान लिया जा सकता है ।

(२) परन्तु भोज के अनुसार शृङ्गार को प्रेमन् का पर्याय मान कर सभी रसों (भावो) का शृङ्गार मे अन्तर्भाव करके शृङ्गार (अथवा रति) को आधारभूत रस मानना हमें स्वीकार्य नही है ।

अन्त मे यह स्पष्ट कर देना नितान्त आवश्यक है कि भोज ने शृङ्गार रस को अन्य रसो की अपेक्षा उत्कृष्ट रस सिद्ध करने का कही प्रयास नही किया ।



अग्निपुराणकार—भोज से लगभग मिलता-जुलता सिद्धान्त इनका भी है—'आनन्द' परम ब्रह्म का सहजात है । आनन्द की अभिव्यक्ति 'चैतन्य-चमत्कार' अथवा 'रस' कहाती है; और चमत्कार अथवा रस का विकार (अभिव्यक्ति) 'अहकार' कहाता है । अहकार से 'अभिमान' की उत्पत्ति होती

है; और अभिमान से 'रति' की। यह रति व्यभिचारिभाव आदि के संयोग से 'शृंगार' नाम से पुकारी जाती है; और अपने अपने स्थायिभावो से परिपुष्ट हास्य आदि इसी [रति अथवा शृङ्गार] के ही भेद है।[1] भरत के समान शृङ्गार, रौद्र, वीर और अद्भुत नामक चार मूल रसो को मानते हुए भी अग्निपुराणकार ने रति को ही इन चारो का मूल माना है। रति के चार रूप है—राग, तैक्ष्ण्य, अवष्टम्भ और सकोच। इनसे क्रमशः शृङ्गार आदि चार रसों की उत्पत्ति होती है; और इन चारों से क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक की।[2]

भोज ने 'अहकार' से रत्यादि सभी (४९) भावो की उत्पत्ति मानी थी; पर अग्निपुराणकार ने एक शृंखला और मान ली—अहंकार से रति की उत्पत्ति होती है; और रति से अन्य रसो की। अग्निपुरणकार ने अहकार और अभिमान मे; तथा अभिमान और रति में उत्पादकोत्पाद्य सम्बन्ध का स्पष्ट उल्लेख किया है, पर भोज ने अहंकार, अभिमान और शृङ्गार को परस्पर पर्याय मानते हुए भी अहंकार और शृङ्गार में प्रकारान्तर से ही उत्पादकोत्पाद्य सवन्ध स्वीकृत किया है—

आत्मस्थितं गुणविशेषमहंकृतस्य
शृङ्गारमाहुरिह जीवितमात्मयोने. ॥[3] शृ० प्र०,पृष्ठ ५१३

इन दोनो आचार्यो के सिद्धान्त मे एक अन्तर और भी है। भोज के मत में 'शृङ्गार' व्यापक अर्थ मे 'रस' का पर्याय है, पर अग्निपुराणकार के मत में यह रस का एक प्रमुख भेद है, जिसके हास्यादि अन्य भेद है। हाँ, रतिभाव से सब रसो की उत्पत्ति भोज को भी स्वीकृत थी, तभी 'प्रेमन्' रूप में रस (शृङ्गार) की तृतीय कोटि का भी इन्हे निर्माण करना पड़ा। निष्कर्ष यह कि निरूपण-प्रकार के थोड़े-बहुत अन्तर के साथ भोज और अग्निपुराणकार शृङ्गार को ही अन्य रसो का उत्पादक मानते है।



भोज और अग्निपुराणकार की इस वर्गगत शास्त्रीय चर्चा के उपरान्त अब अपने मूल विषय पर आते है।

१, २, अ० पु० ३३९।१-८

३. भोज द्वारा अहंकार और शृङ्गार में उत्पादकोत्पाद्य-सम्बन्ध की स्वीकृति करने पर भी इन दोनों शब्दों में समानार्थकता की स्थापना लाक्षणिक प्रयोग पर आधृत है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने शृङ्गार रस को 'रसराज' की उपाधि से स्पष्ट शब्दों में भूषित न करते हुए भी इसे सर्वोत्कृष्ट रस अवश्य स्वीकृत किया है। भरत, रुद्रट और आनन्दवर्द्धन के कथन प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किये जा चुके हैं। इनके बाद भोज और अग्निपुराणकार का विभिन्न दृष्टिकोण सर्वांश रूप में मनस्तोषक और चित्तग्राही न होते हुए भी प्रकारान्तर से शृङ्गार को सर्वोत्कृष्ट रस अवश्य स्वीकृत करा लेता है। इधर आगे के आचार्यों ने शृङ्गार की सर्वोत्कृष्टता-सिद्धि के लिए निम्नोक्त कुछ अन्य कारण प्रस्तुत किये है तथा कई अन्य प्रस्तुत किये जा सकते है—

—हेमचन्द्र, विद्याधर, रामचन्द्र-गुणचन्द्र आदि ने शृङ्गार को प्रथम स्थान इस आधार पर दिया है कि 'इसका सम्बन्ध न केवल मानवजाति तक सीमित है, अपितु यह सकल-जाति-सामान्य, अत्यन्त परिचित एवं सकलमनोहारी है।'[1]

—विश्वनाथ ने शृङ्गार रस को व्यापक माना है और इसका कारण यह दिया है कि केवल एक यही रस है, जिसमें उग्रता, मरण और आलस्य को छोड़कर शेष सभी संचारिभावों, तथा जुगुप्सा को छोड़कर शेष सभी संचारिभावत्वापन्न स्थायिभावों का समय अथवा परिस्थिति के अनुसार सम्बन्ध रहता है।[2] वस्तुतः देखा जाए तो उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा का भी शृङ्गार रस के साथ किसी न किसी रूप में सम्बन्ध-स्थापित हो ही जाता है। शारदातनय तो सभी संचारिभावों का शृङ्गार रस से सम्बन्ध स्वीकार करते है।[3] किन्तु केवल स्थायी और संचारिभाव ही क्यों, अनुभाव और सात्त्विक भावों की सर्वाधिक स्थिति भी शृङ्गार रस के दोनों भेदों—संयोग और विप्रलम्भ—के साथ ही सम्भव है।

—इसके अतिरिक्त, विप्रलम्भ शृङ्गार के पूर्वराग, मान, प्रवास, करुण और शापहेतुक—ये पांच भेद, काम की 'चक्षु प्रीति' आदि बारह, तथा 'अभिलाष' आदि अन्य दश अवस्थाएँ,[4] आलम्बन विभाव के अंतर्गत नायक, नायिका, सखी, दूती आदि का विस्तृत भेद-निरूपण, तथा नायक-नायिका के भाव, हाव, हेलादि

---

१. तत्र कामस्य सकलजातिसुलभतयाऽत्यन्तपरिचितत्वेन सर्वान्प्रति हृद्यतेति पूर्वं शृङ्गारः।

—का०अ० पृष्ठ ८१, एकावली पृ०९९, ना०द० पृ० १६३

२. त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्यजुगुप्सा व्यभिचारिणः। सा०द० ३।१८६

३. समग्रवर्णनाधारः शृङ्गारो वृद्धिमश्नुते। भा०प्र० पृष्ठ ९१

४. देखिए—अ०र०सू० पृष्ठ १९४; सा०द० ३।१९०

सत्त्वज अलंकार—ये सभी प्रसग शृङ्गार रस की व्यापकता के साथ साथ इसकी सर्वोत्कृष्टता भी घोषित करते है ।

—इधर सभी रसो में केवल यही एक रस है, जिसमें दोनों आलम्बनो (आलम्बन और आश्रय) की चेष्टाएँ एक दूसरे को उद्दीप्त करती है । दूसरे शब्दो में, अन्य रसो के आलम्बनयुगल परस्पर शत्रु अथवा उदासीन है, पर केवल इसी रस के ही आलम्बन परस्पर घनिष्ठ मित्र हैं ।

—और फिर, समय-समय पर विभिन्न आचार्यों द्वारा स्वीकृत सौहार्द, भक्ति, आदि तथाकथित रसो का भी शृङ्गार रस की व्यापकता में अन्तर्भाव हो सकता है ।

इस प्रकार निर्विवाद रूप से कह सकते है कि :

१. शृङ्गार रस अन्य रसों की अपेक्षा उत्कृष्ट कोटि का है। चाहें तो आलंकारिक भाषा में इसे 'रसराज' अथवा 'रसपति' भी कह सकते हैं। किन्तु ऐसा कहने का आधार है—इसकी सर्वजनग्राह्यता तथा व्यापक-विषयता ।

२. भोज के मतानुसार 'शृङ्गार' को रस का पर्याय स्वीकार करते हुए शृङ्गार आदि सभी रसो को इसी के 'प्रकार' मानकर उनका 'शृङ्गार' मे अन्तर्भाव करना तथा इसी आधार पर शृङ्गार को सर्वप्रमुख रस मानना उचित नही है ।

३. कुछ विद्वान् इस आधार पर भी शृङ्गार रस को सर्वोत्कृष्ट घोषित करना चाहेगे कि सभी रस इसी से प्रसूत है, किन्तु इस धारणा की पुष्टि के लिए अत्यधिक खीचतान से काम लेना पड़ेगा और अधिक से अधिक हम यही सिद्ध कर पाएगे कि इससे सभी रस सम्बन्धित अवश्य है—कुछ रस मित्र रूप में और कुछ अमित्र रूप में पर इससे प्रसूत नही है ।



१. उदाहरणार्थ—देखिए, हिन्दी नाट्यदर्पण, भूमिका-भाग (पृष्ठ ७४-७६), 'नव रसो का क्रम' ।

: ११ :

रस की सुखदुःखात्मकता :
करुण आदि रसों का आस्वाद

सहृदय व्यक्ति शृङ्गार, हास्य आदि रसो द्वारा तो आस्वाद प्राप्त करता ही है, साथ ही उसे करुण, भयानक आदि रसो द्वारा भी आस्वाद की प्राप्ति होती है—यह कथन अपने आप में व्यावहारिक और तार्किक दृष्टि से विरोधात्मक और भ्रान्त प्रतीत होता है, अत. संस्कृत के कतिपय काव्याचार्यो ने रस को सुख-दु:खात्मक कहा है। इनमे से नाटयदर्पण के कर्ता रामचन्द्र-गुणचन्द्र का नाम विशेष रूप से लिया जाता है क्योकि उन्होने इस विषय पर सर्वाधिक सामग्री प्रस्तुत की है। इस सम्वन्ध मे उनका सिद्धान्त-कथन है—सुखदु खात्मको रसः। (३।७) इस कथन को स्पष्ट करते हुए इन दोनो ग्रन्थकारों का अभिमत है कि जहाँ शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त ये पाँच रस सुखात्मक है, वहाँ करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक ये चार रस दु.खात्मक है।[1] प्रथम वर्ग के रस तो निर्विवाद रूप से सुखात्मक है ही, किन्तु द्वितीय वर्ग के रसो को भी यदि सुखात्मक मान लिया जाता है तो इसी पर रामचन्द्र-गुणचन्द्र को आपत्ति है। इस सम्वन्ध मे उन्होने निम्नोक्त चार तर्क उपस्थित किये है—

१. उनका पहला तर्क यह है कि भयानक आदि रस सहृदयो को किसी अवर्णनीय क्लेश-दशा तक पहुँचा देते हैं। इनसे सामाजिक उद्वेग प्राप्त करते हैं। सुखास्वाद से भी भला कही कोई उद्विग्न होता है?[2] सीता का हरण, द्रौपदी के वस्त्रो तथा केशो का कर्षण, हरिश्चन्द्र की चाण्डाल के यहाँ दासता, रोहिताश्व की मृत्यु, आदि घटनाओ के अभिनय को देखकर कौन ऐसा सहृदय है जो सुखास्वाद प्राप्त करता हो?[3]

---

१. हिन्दी नाटयदर्पण, पृष्ठ ६०

२. भयानको बीभत्स करुणो रौद्रो रसास्वादवताम् अनाख्येयां कामपि क्लेशदशामुपनयति। अतएव भयानकादिभि उद्विजते समाज:। न नाम सुखाऽऽस्वादाद् उद्वेगो घटते। —वही, पृष्ठ २९१

३. वही, पृष्ठ २९१-२९२

२. दूसरा तर्क यह है कि काव्य-नाटक में लौकिक आचार-व्यवहार का चित्रण यथार्थ रूप मे ही किया जाता है। कविजन सासारिक सुखो का वर्णन सुख-रूप में करते है और दुःखो का वर्णन दु.ख-रूप में। विरही राम-सीता आदि अनुकार्यो की करुण-दशाएँ निस्सन्देह दु खात्मक होती हैं, अत यदि उनके काव्य-नाटकगत अनुकरण को सुखात्मक माना जाए तो वह अनुकरण वास्तविक न होगा, क्योकि वह लौकिक वस्तुस्थिति से विपरीत ही रहेगा।[1]

३ रस को सुखात्मक मानने वालो की ओर से यह कहा जा सकता है कि जैसे लोक मे विरही एवं शोकाकुल जनो के सम्मुख कारुणिक प्रसंगों का वर्णन अथवा अभिनय करने से उन्हे सुख-सान्त्वना मिलती है, इसी प्रकार काव्य-नाटक-गत करुण, भयानक आदि रस भी सुखात्मक ही है, दुःखात्मक नहीं है। किन्तु रामचन्द्र-गुणचन्द्र का कथन है कि वस्तुत: ऐसे प्रसगो में भी दु खी जनो को जो सुखास्वाद मिलता प्रतीत होता है, मूलत वह भी दु.खास्वाद ही है, क्योकि यदि वही व्यक्ति दु खपूर्ण वार्ताओं से सुख-सा अनुभव प्रतीत करता है, तो प्रमोदपूर्ण वार्ताओ से [इतर जनो के समान] सुख का अनुभाव न कर विकलित ही होता है। अत वादियो का उक्त सहानुभूति-मूलक तर्क मनस्तोषक एव मान्य नही है। वस्तुत. करुण आदि रस दु.खात्मक ही है।[2]

४. यद्यपि भयानक, करुण आदि रस दु खात्मक ही है, फिर भी यदि इनसे सहृदय परम आनन्द को प्राप्त करते है तो केवल-मात्र कवि एव नट की कुशलता से चमत्कृत होकर ही है।[3]

---

१. (क) कवयस्तु सुखदु खात्मकसंसाराऽनुरूप्येण रामादिचरित निबध्नन्त. सुखदु खात्मकरसानुविद्धमेव ग्रथ्नन्ति।

(ख) तथाऽनुकार्यगताश्च करुणादयः परिदेवताऽनुकार्यत्वात् तावद् दु.खात्मका एव। यदि चाऽनुकरणे सुखात्मन. स्युः न सम्यग् अनुकरणं स्यात्। विपरीतत्वेन भासनाद् इति। —वही, पृष्ठ २९१–२९२

२. येऽपीष्टाद्विनाशदु.खवतां करुणे वर्ण्यमानेऽभिनीयमाने वा सुखास्वादः सोऽपि परमार्थतो दुःखास्वाद एव। दु खी हि दु·खवार्त्तया सुखमभिमन्यते। प्रमोद-वार्त्तया तु ताम्यति इति करुणादयो दुःखात्मन एव इति। —वही, पृष्ठ २९२

३. यत् पुनरेभिरपि चमत्कारो दृश्यते स रसास्वादविरामे सति यथा-ऽवस्थितवस्तुप्रदर्शकेन कविनटशक्तिकौशलेन। × × × अनेनैव च सर्वाङ्गा-

इस अन्तिम कथन से ग्रन्थकारो का तात्पर्य यह है कि कवि के व्यवस्थित एवं मार्मिक निरूपण को पढ़कर अथवा नट के सुन्दर एव मार्मिक हृदयहारी अभिनय को देखकर हमे जो आस्वाद प्राप्त होता है, उसकी लोलुपता ही सहृदय को करुण, भयानक आदि रसो से युक्त भी काव्य-नाटको से आनन्द प्राप्त कराती है तथा उन्हे बारबार पढने-देखने की ओर प्रवृत्त कराती है, अन्यथा ये रस तो दु खात्मक ही होते है। एक उदाहरण द्वारा अपने कथन की पुष्टि करते हुए ग्रन्थकार कहते है कि जिस प्रकार लोक में वीर पुरुष अपने उस प्राण-घातक शत्रु को भी देखकर आश्चर्यचकित से रह जाते है जो प्रहार करने मे अत्यन्त निपुण होता है,[1] उसी प्रकार प्रेक्षक भी कवि अथवा नट के कौशल द्वारा चमत्कृत हो जाते है।

०

उक्त तर्को में से प्रथम तर्क मन के उद्वेग को लक्ष्य में रखकर प्रस्तुत किया गया है, और द्वितीय तर्क लौकिक व्यवहार और काव्य-रचना की पारस्परिक अन्विति को। तृतीय तर्क लौकिक सहानुभूति एवं सान्त्वना से सम्बद्ध है, और चतुर्थ तर्क काव्यत्व एवं अभिनय-जन्य बाह्य चमत्कार से। यदि गम्भीरता-पूर्वक विचार करे तो इन चारो तर्को के मूल मे एक ही भ्रान्त धारणा सन्नि-हित है कि लौकिक व्यवहार और कवि-कृति में कोई अन्तर नही है, ये दोनो एक ही धरातल पर अवस्थित है। यही कारण है कि पहले तर्क मे सहृदय को भी भयानक, करुण आदि रसो द्वारा वैसा ही उद्विग्न एव विकलित समझ लिया गया है जैसा कि सामान्य व्यवहार मे भयभीत अथवा करुणाग्रस्त व्यक्ति को। किन्तु वस्तुत. लौकिक रति, शोक आदि भावो मे तथा काव्यगत इन भावो में सदा अन्तर रहता है। लौकिक भाव एक देश, काल एव व्यक्ति तक सीमित रहते है और काव्य-गत भाव प्रत्येक प्रकार की सीमा से नितान्त विमुक्त होते है।

इसी प्रकार दूसरे तर्क में भी उक्त धारणा के बल पर लौकिक घटनाओ काव्य-गत और घटनाओ को एक-समान समझ लिया गया है। किन्तु वस्तुतः यह एक अमान्य मतव्य है। वस्तुतः दोनो में बहुविध एवं बहुहेतुक अन्तर रहता है। इनमें से एक अन्तर तो यह है कि काव्य में लौकिक घटनाओ के असमान केवल यथार्थ का चित्रण न होकर यथार्थ के साथ कल्पना-तत्त्व का सम्मिश्रण

ऽऽह्लादकेन कविनटशक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धाः परमानन्दरूपतां दुःखा-त्मकेष्वपि करुणादिषु सुमेधस प्रतिजानते। —वही, पृष्ठ २९१

१ विस्मयन्ते हि शिरश्छेदकारिणाऽपि प्रहारकुशलेन वैरिणा शौण्डीर-मानिनः। —वही, पृष्ठ २९१

भी अनिवार्यत' रहता है। अत: 'लोक और काव्य की पारस्परिक अनुकूलता' को आधार मानकर अनुकार्य के ही अनुरूप सहृदय के सुखदु ख का निर्णय करना मूलतः भ्रमपूर्ण है।

अब तीसरे तर्क को ले। उधर लोक मे पुत्र-विच्छेद-विह्वला माता के शोक में और इधर ऐसी माता को रंगमंच पर देखकर अथवा इसके चरित्र को काव्य मे पढ़कर शोकविह्वल सहृदय के शोक में निस्सन्देह अन्तर है। उधर सान्त्वना से दु ख का हल्का होना, इसका कुछ क्षणो के लिए लुप्त हो जाना अथवा इसका बढ़ जाना आदि सभी स्थितियां सम्भव है, किन्तु इधर शोक स्थायिभाव से उद्विग्न अथवा आकुल (यदि इस स्थिति को यह नाम दें तो) सहृदय के लिए प्रथम तो सान्त्वना-प्रदान का प्रश्न ही उपस्थित नही होता, क्योकि काव्य-नाटकगत घटनाओ से इतर घटनाओ के साथ उसका कोई सम्बन्ध ही नही, और यदि उसके सम्मुख ऐसी घटनाएँ लायी भी जाती है तो उस समय वह सहृदय न होकर सांसारिक व्यक्ति-मात्र रह जाता है।

चतुर्थ तर्क में सत्यता अवश्य है, पर एकागी। कवि के रचना-कौशल से, और विशेषतः नट के अभिनय-कौशल से, जन्य चमत्कार निस्सन्देह सहृदय को अभिभूत कर देता है। इस कथन की पुष्टि में एक प्रत्युदाहरण लीजिए कि किस प्रकार एक अत्यन्त करुणोत्पादक एव हृदयविदारक दृश्य भी एक अनाड़ी नट के असफल प्रदर्शन द्वारा 'करुण' के स्थान पर 'हास्य' का रूप धारण कर लेता है। अस्तु ! कवि और नट की कुशलता से उत्पन्न चमत्कार से तो किसी भी स्थिति में इनकार नही किया जा सकता, किन्तु यह चमत्कार पूर्ववर्ती प्रभाव का उद्दीपक कारण होता है,उसका उत्पादक कारण नही होता। उदाहरणार्थ, शृङ्गार रस मे वह सहृदय के रति भाव को उद्दीप्त करता है,और करुण रस मे उसके शोक भाव को। इसके अतिरिक्त उक्त कौशल-जन्य चमत्कार कवि अथवा नट की प्रतिभा के प्रति प्रेक्षक के हृदय मे आश्चर्य, आदर आदि भाव भी उत्पन्न करता है। किन्तु [जैसा कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र का मन्तव्य है] इन्ही आश्चर्य, आदर आदि भावो को करुण, भयानक आदि रसो में सुख-प्राप्ति का कारण नही मानना चाहिए। यह भाव लौकिक होते है, अतः इनसे लौकिक आह्लाद ही उत्पन्न हो सकता है, काव्यगत रस—सुखात्मक रस—,उत्पन्न नही हो सकता।

●

रसो को सुखात्मक स्वीकार करने वाले प्रथम आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र नही हैं। इनसे पूर्व भी कुछ इस प्रकार के स्पष्ट कथन मिल जाते है—

(क) येन त्वम्यधायि सुखदु खजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री बाह्यैव

सुखदुःखस्वभावो रसः। (अज्ञात आचार्य), अभिनवभारती, भाग १, पृष्ठ २७८।

(ख) रसस्य सुखदुःखात्मकतया तदुभयलक्षणत्वेन उपपद्यते, अतएव तदुभय-जनकत्वम्। रसकलिका (रुद्रभट्ट) 'नम्बर आफ रसज्, पृष्ठ १५५।

(ग) रसा हि सुखदुःखरूपाः। शृ० प्र० २य भाग, पृष्ठ ३६६

किन्तु इन कथनो से यद्यपि यह स्पष्टतः प्रतीत नही होता कि उक्त आचार्य सभी रसो को सुखात्मक और दु खात्मक स्वीकार करते थे अथवा कुछ को सुखात्मक और कुछ को दुःखात्मक, किन्तु फिर भी सम्भावना यही है कि वे भी रामचन्द्र-गुणचन्द्र के समान शृङ्गार, हास्य आदि को सुखात्मक मानते होगे और भयानक, करुण आदि को दु.खात्मक। इन कथनो के अतिरिक्त आचार्य वामन ने किसी आचार्य के नाम पर ऐसा कथन भी उद्धृत किया है जिससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह स्वय अथवा सम्भवतः कुछ अन्य आचार्य भी करुण रस मे सुख और दुःख दोनो का सम्मिश्रण मानते होगे—

करुणप्रेक्षणीयेपु सम्प्लव सुखदु.खयो.।
यथाऽनुभवतः सिद्धस्तथैवोजःप्रसादयोः॥ का०सू०वृ० ३।१।६ वृत्ति

अर्थात् जिस प्रकार करुण रस के नाटको मे सुख और दु.ख का मिश्रण सहृदय जनो के अनुभव द्वारा सिद्ध है, उसी प्रकार ओज और प्रसाद का मिश्रण भी उनके अनुभव द्वारा सिद्ध है। सुख पहले होता है अथवा दु ख पहले—इस ओर इस श्लोक मे कोई सकेत नही है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हे करुण रस मे दु.ख की स्थिति पूर्व मान्य होगी और सुख की बाद मे। दूसरे शब्दो मे, सहृदय लौकिक दुःख का अनुभव करता हुआ भी अन्तत. काव्यगत आनन्द का, लोकोत्तर सुख का अनुभव करता है। कुछ इसी प्रकार की धारणा की व्याख्या मधुसूदन सरस्वती ने सम्भवतः सर्वप्रथम मौलिक रूप से प्रस्तुत की है। उनके कथन का अभिप्राय यह है कि सभी रसो से निस्सन्देह सुख का अनुभव होता है, परन्तु यह अनुभव सब रसो मे तुल्य रूप से नही होता। इसका कारण यह है कि सत्त्वगुण की प्रधानता ही सुख का हेतु है, किन्तु ऐसा कभी नही होता कि किसी रस मे रजोगुण और तमोगुण नितान्त अभिभूत हो जाएँ और सत्त्वगुण पूर्णतः आविर्भूत अथवा उद्रिक्त हो जाए, अपितु रजोगुण और तमोगुण किसी न किसी अश तक अवश्य विद्यमान रहते है।[1] ये किस रस मे कितनी

---

१. सत्त्वगुणस्य सुखरूपत्वात् सर्वेषां भावानां सुखरूपत्वेऽपि रजस्तमोंश-मिश्रणात् तारतम्यमवगन्तव्यम्। अतो न सर्वेपु रसेपु तुल्यसुखाऽनुभव।

—नम्बर आफ़ रस'स्, पृष्ठ १५६

मात्रा में विद्यमान रहते है, यद्यपि इसका निर्णय कर सकना कठिन है तथापि वे रहते अवश्य है। अत. उनके मिश्रण के तारतम्य के अनुसार सब रसो में सुख के साथ दु ख का मिश्रण भी समझना चाहिए। अस्तु !

इस प्रकार हमारे सम्मुख निम्नोक्त चार विकल्प उपस्थित होते है—

(क) सभी रस सुखात्मक है,

(ख) सभी रस सुखदु खात्मक है,

(ग) शृगार, हास्य आदि रस सुखात्मक है, किन्तु करुण, भयानक आदि रस दु:खात्मक है,

(घ) शृङ्गार आदि रस तो सुखात्मक है, किन्तु करुण, भयानक आदि रस सुखदु खात्मक है।



इन विकल्पों में से रामचन्द्र-गुणचन्द्र यद्यपि स्पष्टत· तीसरे विकल्प को स्वीकार करते हुए करुण आदि को दुःखात्मक स्वीकार करते है, तथापि वे इन्हे अन्तत· सुखात्मक भी स्वीकार करते होगे, कुछ इस प्रकार का स्पष्ट संकेत उन्होंने स्वयं भी दिया है—पानकमाधुर्यमिव च तीक्ष्णाऽऽस्वादेन दुःखाऽऽस्वादेन सुतरां सुखानि स्वदन्ते इव इति।(हि०ना०द०,पृष्ठ २६१) अर्थात् जिस प्रकार पानक (खट्टे मीठे-तीखे पेय) की मिठास दुःखास्वादजनक तीक्ष्ण पदार्थ के मिश्रण से और भी अधिक सुखास्वाद प्रदान करती है, उसी प्रकार करुण आदि रसो में भी दु.ख का मिश्रण सुखास्वाद प्रदान करता है। वस्तुतः देखा जाए तो पानक पदार्थ और करुण रस में स्थापित यह उपमान-उपमेय-सम्बन्ध यथावत् एव सुघटित प्रतीत नही होता, क्योकि पानक मे माधुर्य और तीक्ष्णता के मिश्रण में भले ही पूर्वापर-सम्बन्ध हो, किन्तु उसके आस्वाद में पूर्वापर-सम्बन्ध नही रहता, किन्तु करुण रस के शोक (लौकिक दु.ख) और इस रस के आस्वाद (सुख) में नि.सन्देह पूर्वापर-सम्बन्ध बना रहता है, यद्यपि यह अलग बात है कि इनमें काल का अन्तर इतना त्वरित एव क्षिप्र होता है कि यह कहते नही बनता कि इस दुःख और सुख में कोई काल-सम्बन्धी अन्तर है भी। अस्तु ! जो हो, रामचन्द्र-गुणचन्द्र का यह उद्धरण यह मानने के लिए पर्याप्त है कि वह उक्त विकल्पो में से तीसरे विकल्प को स्वीकार न कर चौथे विकल्प को स्वीकार करते होंगे कि भयानक, करुण आदि रस केवल दु खात्मक न होकर सुखदु.खात्मक है। अथवा यो कहिए कि दु खसुखात्मक है—पूर्व स्थिति में ये दुःखात्मक है और अन्तिम स्थिति में सुखात्मक। यदि यही

उनकी मान्यता है तो इसकी व्याख्या उपस्थित की जा सकती है। यदि वे भयानक, करुण आदि को नितान्त दु खात्मक स्वीकार करते हैं तो उनकी यह धारणा काव्यशास्त्र और मनोविज्ञान के तो प्रतिकूल है ही, व्यवहार के भी सर्वथा प्रतिकूल होने के कारण सर्वथा अमान्य है। इस दृष्टि से विश्वनाथ का केवल एक यही तर्क इसे अमान्य ठहराने के लिए पर्याप्त है कि करुण आदि रस इसलिए सुखात्मक है कि सहृदय-जन इसे देखने के लिए सदा उन्मुख अर्थात् लालायित रहते है—

> करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
> सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।
> किंच तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुख.॥ सा० द० ३।४,५

रामचन्द्र-गुणचन्द्र का कोई सुविज्ञ पाठक उनके सम्पूर्ण ग्रन्थ के अवलोकन के उपरान्त यह मानने को कदापि उद्यत न होगा कि उन जैसे तत्त्ववेत्ता और चिन्तक आचार्य करुण आदि को केवल दुःखात्मक ही मानते होंगे। वह इसे दु खात्मक मानते अवश्य होगे किन्तु पूर्व स्थिति मे, और अन्तत. वे इन्हें सुखात्मक ही मानते होगे।

●

उपर्युक्त मान्यता की व्याख्या कई रूपो में तथा कई दृष्टियों से की जा सकती है :

१. शृङ्गार, करुणआदि सभी प्रकार के रसो में रति, शोक आदि सभी स्थायिभाव जब तक विभावादि के सयोग द्वारा रसरूप में परिणत अथवा अभिव्यक्त नही होते, तब तक उनसे लौकिक सुख अथवा दु.ख का ही अनुभव होता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी प्रेक्षक को शृङ्गार रस के नाटक में अपनी प्रेयसी की, अथवा करुण रस के नाटक में अपने मृत पुत्र की स्मृति हो आती है तो उसका रति अथवा शोक भाव उसे लौकिक सुख अथवा दु ख की अनुभूति कराएगा। वह प्रेक्षक नाट्य-गृह में बैठा हुआ भी तत्क्षण के लिए सहृदय न होकर सांसारिक व्यक्ति ही होता है। किन्तु जिस क्षण वही व्यक्ति निजत्व की भावना से ऊपर उठ जाता है, वही क्षण रस-दशा का है। उसी क्षण रति-जन्य सासारिक सुख अथवा शोकजन्य सासारिक दुःख इस दशा की पूर्वस्थिति बन जाते है और रस-दशा अन्तिम स्थिति बन जाती है।

---

१. यहाँ 'सहृदय' से तात्पर्य है—काव्यरसास्वादन-सक्षम व्यक्ति।

२. काव्यशास्त्रीय आधार पर लौकिक कारण, कार्य एवं सहकारिकारण काव्य में इसीलिए क्रमशः विभाव, अनुभाव और संचारिभाव कहाते हैं कि वे अव लौकिक क्षेत्र से ऊपर उठकर लोकोत्तरता के क्षेत्र में जा पहुचते है।[1] जब भय, शोक आदि भाव लौकिक कारण आदि से सम्पृक्त हैं, (चाहे वह घटना-स्थल नाटचगृह भी क्यों न हो), तब तक वे भाव निस्सन्देह दुःखात्मक हैं, किन्तु विभाव आदि से सम्पृक्त होने के कारण वे भाव भयानक, करुण आदि सु.खात्मक रसो के रूप में परिणत हो जाते है।

३. भयानक, करुण आदि को अपनी परिणति में सुखात्मक स्वीकार करने के लिए काव्याचार्यों का 'साधारणीकरण' नामक सिद्धान्त एक प्रवल सावन है, जिसके वल पर सहृदय असाधारण (विशेष) से साधारण (सामान्य) भावभूमि पर उतर आता है।[2] उसका भय अथवा शोक किसी देश अथवा काल विशेष से मुक्त हो जाता है।[3] वह अपने समस्त मोह, संकट आदि [से जन्य अज्ञान] से निवृत्त हो जाता है।[4] परिणामत, काव्य-नाटक-गत कोई पात्र अव उसके लिए अपना विशिष्ट व्यक्तित्व खोकर मानव-मात्र वन जाता है— राम नामक पुरुप-पात्र पुरुपमात्र वन जाता है, और सीता नामक स्त्री-पात्र स्त्रीमात्र वन जाता है।[5] और, इसका अगला परिणाम यह होता है कि सहृदय निजत्व और परत्व दोनो प्रकार के विश्वासों से विनिर्मुक्त हो जाता है। अत. इस प्रकार की परिस्थिति में सहृदय के लिए न तो शृङ्गार आदि रसो द्वारा लौकिक सुखानुभूति स्वीकार की जा सकती है, और न भयानक आदि रसों

---

१. का० प्र० ४।२७, २८

२. 'असाधारणस्य साधारणकरणम्' इति साधारणीकरणम्। ['कृभ्व-स्तियोगे संपद्यकर्तरि च्वि.' इस सूत्र तथा (अभूततद्भावे इति वक्तव्यम्) इस वार्तिक के द्वारा च्वि प्रत्यय। 'ऊर्यादिच्विडाचश्च' सूत्र से गति संज्ञा, और 'कुगतिप्रादय.' सूत्र से समास होने पर 'साधारणीकरण' रूप सिद्ध हुआ।]

३. × × × भयमेव पर देशकालाद्यनालिंगितम्।

—हिन्दी अभिनवभारती, पृष्ठ ४७०

४. काव्ये × × × नाटचे च × × × निविडनिजमोहसंकटतानिवारण-कारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना × × ×। —वही, पृष्ठ ४६४, ४६५

५. तत्र सीतादिशब्दाः परित्यक्तजनकतनयादिविशेषाः स्त्रीमात्र-वाचिनः। —दशरूपक ४।४० (वृत्ति)

द्वारा लौकिक दु खानुभूति—यह अवस्था दोनो प्रकार के रसो में अलौकिक (लोकोत्तर) रूप में सुखात्मिका ही होती है।

०

इस प्रकार अन्त में हम कह सकते है कि—

१. प्रत्येक स्थायीभाव अपरिपक्व अवस्था में लौकिक सुख अथवा दुःख का कारण बनता है, किन्तु परिपक्व अवस्था में केवल अलौकिक लोकोत्तर सुख का ही।

२. भयानक करुण आदि रसो मे निस्सन्देह प्रेक्षक भय, शोक आदि से जन्य दु ख का अनुभव करता है, किन्तु वह दु.ख लौकिक ही होता है—ठीक उसी प्रकार जैसे वह शृङ्गार, हास्य आदि रसो में रति, हास आदि से जन्य लौकिक सुख का अनुभव करता है। किन्तु यह लौकिक सुख अथवा दु.ख रस-दशा की पूर्ववर्ती अवस्था है और रस-दशा उसकी परवर्ती अवस्था है।

३ किन्तु यह सदा आवश्यक नही कि प्रत्येक सहृदय को इस प्रकार के लौकिक सुख अथवा दु ख की अनुभूति हो ही, किन्ही सहृदयो को नही भी होती, यद्यपि ऐसे सहृदयो की सख्या बहुत अल्प होती है, किन्तु दोनो प्रकार के रसो से उन्हे सुखानुभूति अवश्य प्राप्त होती है।

४. अतः भयानक आदि रसो को नित्य रूप से दु.खात्मक नही मान सकते, और अधिकांशतः ऐसा मान लेने पर भी वह दु ख लौकिक ही होता है, किन्तु वह दु.ख परवर्ती अलौकिक सुखानुभूति की प्राप्ति के लिए किसी भी रूप में न तो अनिवार्य साधन है और न ही सहायक साधन। हां, वह अत्यन्त भावुक सहृदयो की अलौकिक सुखानुभूति के लिए उद्दीपक कारण अवश्य सिद्ध हो सकता है।

५. यह ठीक है कि लौकिक शोक, हर्ष आदि कारणो से लौकिक शोक, हर्ष आदि उत्पन्न होते है, किन्तु काव्य-नाटक में तो विभावादि द्वारा दोनो स्थितियो मे लोकोत्तर सुख ही मिलता है।[1]

६. निष्कर्षतः करुण, भयानक आदि रस दुःखात्मक नही हैं, ये भी शृङ्गार आदि रसों के समान सुखात्मक ही हैं।



---

१. लौकिकशोकहर्षादिकारणेभ्यो लौकिकहर्षादयो जायन्ते इति लोक एव प्रतिनियमः। काव्ये पुनः 'सर्वेभ्योऽपि विभावादिभ्य' सुखमेव जायते' इति।
—सा० द० ३।७ (वृत्ति)

: १२ :

रौद्र और वीर रस में अन्तर

मूल रस कौन-कौन से हैं, इस विषय पर प्रकाश डालते हुए नाट्य-शास्त्र के प्रणेता भरतमुनि ने लिखा कि 'पहले शृङ्गार, रौद्र, वीर और वीभत्स, इन चार रसों की उत्पत्ति हुई। फिर शृङ्गार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्‌भुत और वीभत्स से भयानक रस पैदा हुए।'[1] आगे चलकर शान्त और फिर वात्सल्य ये दो रस और भी मान लिये गये, और रसो की संख्या चार से नौ अथवा दस तक पहुच गयी। शृङ्गारादि मुख्य चार रसो से हास्यादि चार रसो की उत्पत्ति क्यो मानी गयी, यह प्रश्न मनोवैज्ञानिक आधार पर कुछ सीमा तक सुलझाया जा सकता है। शृङ्गार और हास्य, रौद्र और करुण, वीर और अद्‌भुत, तथा वीभत्स और भयानक इन रस-युग्मो में परस्पर कारण-कार्य सम्बन्ध है। अत. उक्त स्थिति स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती।

अब यदि उक्त चार मूल रसों, शृगार, रौद्र, वीर और वीभत्स, के अन्तर पर विचार करें तो शृङ्गार और वीभत्स में स्पष्ट अन्तर है। एक का सम्बन्ध 'रति' के साथ है और दूसरे का 'घृणा' के साथ। पर रौद्र और वीर रसो की लगभग एक सी मूल प्रवृत्ति होने पर भी दोनो को मुख्य रसो मे स्थान देना अवश्य खटकता है। रौद्र और वीर मे से किसी एक को जनक मानकर दूसरे को उक्त रसों (हास्य, अद्‌भुत आदि) के समान बड़ी सरलता से जन्य माना जा सकता था। आखिर, इन दोनो में ऐसा कौन सा अन्तर है जिसके कारण दोनों को प्रधान स्थान दे कर मूल रसो की सख्या में एक और की वृद्धि कर दी गयी। इसी अन्तर को इस निबन्ध मे स्पष्ट करना है।



साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने रौद्र तथा वीर रस में साम्य.निर्देश

---

१. शृंगाराद् हि भवेद् हास्यो रौद्रात्तु करुणो रसः।
वीराच्चैवाऽद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः॥

करते हुए कहा है कि दोनों मे शत्रुपक्ष आलम्बन है ।[1] दोनों रसो में शत्रुओ की चेष्टाएं उद्दीपनविभाव हैं ।[2] अनुभाव भी लगभग एक-समान रहते है , शस्त्रो को उठाना, शत्रु को ललकारना, भ्रूविभग, बाहु-स्फोटन, तर्जन, गर्जन, मुख तथा नेत्रों का रक्त हो जाना,इत्यादि सभी अनुभाव दोनों रसों में समान हैं । धृति, मति, गर्व, स्मृति,तर्क, रोमाञ्च, उग्रता, अमर्ष, आवेग, चापल्य इत्यादि सचारिभाव भी दोनों में एक-समान है ।

किन्तु इस साम्य के होते हुए भी दोनो रसो के स्थायिभाव विभिन्न हैं—रौद्र रस का स्थायिभाव 'क्रोध' है और वीर रस का 'उत्साह'। इसी सम्बन्ध मे विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या (१) क्रोध का उत्साह मे अथवा (२) उत्साह का क्रोध में अन्तर्भाव स्वीकार करते हुए इनमें से किसी एक रस का दूसरे रस में अन्तर्भाव नही किया जा सकता ?

पहले पूर्व पक्ष को लेते है । युद्धवीर रस के किसी भी उदाहरण में क्रोध का अंश अवश्य सम्मिलित रहता है, क्रोध युद्ध का सहचर है । क्रोध पहले आता है, उत्साह बाद में । इन दोनो में जनकजन्य-सम्बन्ध है—

सूर्यास्त से पहले न जो मैं कल जयद्रथ-बध करूं ।
तो शपथ करता हूँ स्वयं मैं ही अनल में जल मरूं ॥

यहां क्रोध की उत्पत्ति के बाद ही अर्जुन में युद्ध करने का उत्साह पैदा हुआ है ।. इसी प्रकार—

भो लंकेश्वर, दीयतां जनकजा, रामः स्वयं याचते,
कोऽयं ते मतिविभ्रमः,स्मर नयं नाद्यापि किञ्चिद् गतम् ।
नैव चेत्खरदूषणत्रिशिरसां कण्ठासृजापंकिलः,
पत्री नैष सहिष्यते मम धनुर्ज्याबन्धबन्धूकृतः ॥ सा०द०३।२३४(उ०)

विश्वनाथ-प्रस्तुत वीर रस के इस उदाहरण मे यह नितान्त स्पष्ट है कि श्रीरामचन्द्र क्रोध से अभिभूत होकर रावण को ललकार रहे है । युद्धवीर के उदाहरणो मे ही क्यों, दानवीर के निम्नोक्त उदाहरण में दानी हरिश्चन्द्र की उक्ति में भी क्रोध का स्वर झकृत हो रहा है—

---

१. रौद्र : आलम्बनमरिस्तत्र । सा०द०३।२२८
वीर : आलम्बनविभावास्तु विजेतव्यादयो मताः ।—वही, ३।२३३
२. रौद्र : तच्चेष्टोद्दीपनं मतम् । —वही,३।२२८।
वीर : विजेतव्यादिचेष्टाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः —वही,३।२३३

वेचि देह दारा सुअन, होइ दास हूँ मन्द।
रखिहौं, निज बच सत्य करि, अभिमानी हरिचन्द ।।

यदि यही स्थिति है, तो फिर क्यो न रौद्र और वीर रस का एक ही स्थायिभाव क्रोध' मान लिया जाए, और परिणामतः 'क्रोध' स्थायिभाव में उत्साह 'स्थायिभाव' का, और रौद्र रस में वीर रस का अन्तर्भाव स्वीकार कर लिया जाए ?

'उत्साह' की स्थिति को निम्न धरातल पर ले जाने के लिए केवल इतना ही पर्याप्त नही है कि इसका 'क्रोध' में अन्तर्भाव किया जा सकता है, अपितु इसको एक मात्र वीर रस से सम्बद्ध न मान कर सभी रसों से सम्बद्ध माना जा सकता है, और इस तरह इसे स्थायिभाव के पद से च्युत करके 'संचारिभाव' के स्तर पर ले जाया जा सकता है। उत्साह का लक्षण है—

कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते।

अर्थात्, प्रत्येक प्रकार के कार्यारम्भ के लिये उत्साह की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरणार्थ, सिंह से भीत होकर भागने के लिए कायर में 'उत्साह' चाहिए। भयानक परशुराम के भयानकतर कुठार को देखकर क्रोधपूर्ण उक्तिया कहने के लिए भी लक्ष्मण में उत्साह चाहिए। इतना ही क्यो ? शकुन्तला के सौन्दर्य से आकृष्ट होने के उपरान्त उसके प्रति प्रणय-निवेदन के लिए भी दुष्यन्त के हृदय में 'उत्साह' चाहिए। मृत पुत्र के शव को देख कर किसी पिता का करुण-क्रन्दन भी विशिष्ट प्रकार के 'उत्साह' की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार 'उत्साह' की स्थिति सभी रसो मे अनिवार्यत ग्रहण की जा सकती है। यही कारण है कि उत्साह को कई आचार्यो ने केवल वीर रस का स्थायिभाव न मान कर इसे व्यभिचारिभाव मानते हुए सभी रसो के लिए आवश्यक ठहराया है।[1] जो भाव सभी रसो के लिए किसी न किसी रूप में अपेक्षित है, उसे वीर रस का स्थायिभाव बनने का गौरव क्यो प्रदान किया जाए ? क्यो न उसे एक सचारिभाव ही मान लिया जाए ? और फिर, क्यो न 'क्रोध' को ही रौद्र तथा वीर रस का स्थायिभाव मानकर रौद्र मे वीर का अन्तर्भाव कर दिया जाए ? यदि अन्तर्भाव न भी किया जाए, पर वीर को रौद्र का एक भेद अथवा अग तो अवश्य स्वीकार किया जा सकता है।

किन्तु इधर इसके विपरीत वीर रस मे ही रौद्र रस का अन्तर्भाव करने के पक्ष में भी एक प्रबल हेतु उपस्थित किया जा सकता है कि क्रोध पूर्वावस्था

---

१. उत्साहविस्मयौ सर्वरसेषु व्यभिचारिणौ। (संगीतरत्नाकर)

है, युद्धोत्साह उत्तरावस्था। क्रोध कारण है, युद्धोत्साह कार्य। कारण और कार्य में कारण सदा गौण माना जाता है और कार्य सदा प्रधान। रौद्र रूपी कारण के परिणामस्वरूप ही वीर रस रूपी कार्य की उत्पत्ति होती है, तो फिर क्यो न वीर रस में रौद्र रस का अन्तर्भाव कर दिया जाए ? अथवा रौद्र रस को वीर रस की प्रथमावस्था स्वीकार करते हुए इसे वीर रस का एक अंग स्वीकार किया जाए ?



परन्तु रौद्र रस और वीर रस को एक मानने में जो तर्क दिये गये है वे अति शिथिल हैं। वस्तुतः ये दोनों रस परस्पर विभिन्न है। विश्वनाथ ने इनके साम्य का तो निर्देश किया ही है—जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, उन्होने इनकी विभिन्नता पर भी प्रकाश डाला है कि रौद्र रस का वर्ण रक्त है तो वीर का हेम; रौद्र का देवता रुद्र है तो वीर का महेन्द्र। किन्तु वर्ण और देवताओ की यह विभिन्नता वस्तुत. कवि-परम्परा अथवा शास्त्र-परम्परा मात्र ही है। यदि इन पर तनिक भी ध्यान न दे तो भी दोनो रसो मे स्पष्ट अन्तर है—

—रौद्र रस का स्थायिभाव क्रोध है। क्रोध इस रस में स्थिर होकर रहता है, यहां वह युद्धोत्साह की ओर अग्रसर नही होता।

—वीर रस का स्थायिभाव उत्साह है। वीर रस में क्रोध उत्पन्न तो होता है, पर स्थिर न रह कर युद्धोत्साह की ओर अग्रसर हो जाता है। यहा क्रोध प्रेरक अथवा साधन रूप में आता है और युद्धोत्साह प्रेरणीय अथवा साध्य रूप मे। क्रोध पोषक रहता है, उत्साह पोष्य ; क्रोध गौण रहता है, उत्साह प्रधान। अत: वीर रस का स्थायिभाव उत्साह ही है, क्रोध नही। वस्तुत: स्थायिभाव भी कुछ परिस्थितियों मे संचारिभाव बन जाते है, क्रोध यहाँ सचारी रूप मे रहता है, अथवा इस क्रोध को 'अमर्ष' संचारिभाव का नाम दे सकते है। माना कि प्रत्येक रस में उत्साह की आवश्यकता रहती है, पर 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' के अनुसार प्रत्येक रस में उसका अपना-अपना स्थायिभाव ही प्रधान रहता है, और उत्साह की स्थिति सचारिभाव के रूप में रहती है। ठीक वैसे, जैसे वीर रस में उत्साह तो स्थायिभाव है और क्रोध संचारिभाव।

—रौद्र रस के स्थायिभाव 'क्रोध' और वीर रस के संचारिभाव 'क्रोध' में आकाश-पाताल का अन्तर है। रौद्र रस मे पाशव क्रोध रहता है, पर वीर रस में भावात्मक क्रोध रहता है। पाशव क्रोध में क्रोधी अपने आपे मे नहीं रहता, उसे क्रोध के अतिरिक्त और कुछ नही सूझता, पर भावात्मक क्रोध में वीर

पुरुष सोत्साह होता है, उसमें वीरता, प्रसन्नता, हिताहित-विमर्श आदि गुण विद्यमान रहते हैं।

—रौद्र रस में क्रोधी पुरुष निर्बल अथवा अयोग्य व्यक्ति पर भी उबल पड़ता है, पर वीर रस के वर्णन में वीर का युद्धोत्साह अपने समकक्ष अथवा अपने से प्रबल शत्रु पर ही दिखाया जाता है।

ठीक इसी प्रकार रौद्र रस के स्थायिभाव 'क्रोध' और वीर रस के स्थायिभाव 'उत्साह' में भी बहुत दूर तक का अन्तर है—

—क्रोध रजोगुण-प्रसूत है[1], पर उत्साह सत्त्वगुण-प्रसूत, तभी तो क्रोध में विवेक का नाश हो जाता है और उत्साह में विवेक बना रहता है।

—क्रोधी व्यक्ति में प्रतिक्रिया की भावना रहती है, पर वीर में नही।

—क्रोधी मनुष्य में क्रोध करते समय अथवा शत्रु की प्रबलता का ज्ञान होने पर भय का मिश्रण बना रहता है, पर वीर पुरुष किसी भी स्थिति में भयभीत नही होता।

—क्रोधी अन्याय पर उतारू हो जाता है, पर वीर पुरुष कभी न्याय का साथ नहीं छोड़ता।

—क्रोधी पुरुष जितनी चपलता, उछल-कूद आदि आङ्गिक क्रियाएँ अथवा डीग हाकना आदि वाचिक क्रियाएं करता है, उतनी वीर नही। वीर पुरुष भी चापल्य और स्वशौर्य का प्रदर्शन अवश्य करता है, पर अपने बल से बढकर कदापि नही।

—क्रोधी और वीर दोनो के मुख अथवा नेत्र क्रोध तथा युद्धोत्साह के कारण रक्त हो जाते है, पर दोनो की रक्तता मे अन्तर रहता है। क्रोधी की रक्तता दिखाती है कि अब वह अपने आपे से बाहर हो रहा है अथवा हो गया है ; अब वह शत्रु का कुछ न कुछ बिगाड कर रहेगा। स्वय शत्रु का न सही तो उसके बच्चों का सही, उसके मकान का सही। यदि किसी का कुछ नही बिगाड़ पाएगा तो झुंझलाकर अपना मुंह-सिर तो अवश्य पीट डालेगा, किन्तु इसके विपरीत वीर पुरुष की रक्तता में उसकी गम्भीरता और विवेक की झलक मिलती है, शत्रु से पूर्णतया लोहा लेने की धुन प्रकट होती है। वीर पुरुष क्रोधी पुरुष के समान न तो शत्रु के मकानो अथवा बच्चो से बदला लेगा और न अपना मुह-सिर पीट डालेगा। रक्तता दोनो में रहती है पर उसका

---

1. काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। श्रीमद्भगवद्गीता ३।३७

कारण और परिणाम नितान्त भिन्न-भिन्न होता है। सम्भवतः विश्वनाथ की इस पंक्ति 'रक्तास्यनेत्रता चास्य भेदिनी युद्धवीरतः' का आशय भी यही लिया जा सकता है। क्रोधी का मुख रक्तिमा से तमतमा उठता है, मुंह से झाग निकलती है, पर वीर का मुख रक्तिमा से आभान्वित हो जाता है, यही दोनो की रक्तिमा मे भेद है। वस्तुतः उक्त पंक्ति का अर्थ यह नही लेना चाहिए कि क्रोधी का मुख तथा नेत्र तो रक्त हो जाते हैं पर वीर के नही होते।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वीर और रौद्र दोनो रस एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं, एक का दूसरे में अन्तर्भाव नही हो सकता। किन्तु कुछ विद्वान् रौद्र तथा वीर रस दोनों का 'अमर्ष' नामक स्थायिभाव मानकर दोनो को एक समझने के पक्ष मे है। अमर्ष का लक्षण विश्वनाथ ने निम्न रूप से दिया है—

निन्दाक्षेपापमानादेरमर्षो अभिनिविष्टता।
नेत्ररागशिरः कम्पभ्रूभगो तर्जनादिकृत्॥ सा० द० ३।१५६

अर्थात् निन्दा, आक्षेप, अपमान आदि के कारण उत्पन्न चित्त के अभिनिवेश का नाम 'अमर्ष' है। इससे आखो में लाली, सिर में कम्प, त्योरी चढना, तर्जन आदि होते है।

किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अमर्ष भी क्रोध का ही एक रूप है। यह रौद्र रस तथा वीर रस का संचारी तो रह सकता है पर उनका स्थायिभाव नही बन सकता। वस्तुतः 'अमर्ष' रौद्र रस का जितना पोषक है उतना वीर रस का नही। निन्दा, आक्षेप, अपमान आदि के कारण क्रोध तो उत्पन्न होता है पर केवल इनसे ही युद्धोत्साह उत्पन्न नही होता। शकुन्तला द्वारा की गयी अवहेलना से दुर्वासा को अपने प्रति आदर का अभाव खटका और उससे क्रोध की उद्भावना हुई न कि युद्धोत्साह की। 'हर्षचरित' मे ब्रह्मा की पुत्री सरस्वती की निन्दा तथा आक्षेप-पूर्ण हसी पर दुर्वासा क्रोध में पुकार उठा— 'अयि विद्यालवावलेपदुर्विदग्धे किं मामुपहससि ?" इन शब्दो में भी 'अमर्ष' क्रोध का सूचक है, न कि युद्धोत्साह का। अमर्ष के विश्वनाथ-प्रस्तुत निम्नोक्त उदाहरण से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाएगी—

प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात्।
न त्वेवं दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम्॥ सा० द०, ३।१५६ (उ०)

अर्थात् 'मै ऋषियो के प्रति किये गये व्यतिक्रम (आज्ञोल्लंघन) का तो प्रायश्चित्त कर लूंगा, पर शस्त्रग्रहण रूप महाव्रत को दूषित न करूंगा', परशुराम की इस

उक्ति में राम-लक्ष्मण के प्रति क्रोध की मात्रा झलकती है, न कि उनके प्रति युद्धोत्साह की। अतः अमर्ष वीर रस का स्थायिभाव कभी नहीं बन सकता। निन्दा,आक्षेप,अपमानादि के कारण चित्त का अभिनिवेश अर्थात् अमर्ष 'युद्धोत्साह' का प्रेरक है, कारण है, प्रेरणीय अथवा कार्य नहीं है।

निष्कर्ष यह कि—

१. रौद्र और वीर ये दोनों रस नितान्त विभिन्न हैं।

२ इन दोनों का एक दूसरे में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता, क्योंकि न तो रौद्र रस का स्थायिभाव 'क्रोध' वीर रस का स्थायिभाव बन सकता है, और न वीर रस का स्थायिभाव 'उत्साह' रौद्र रस का—यद्यपि ये दोनों स्थायिभाव इतर रस में संचारिभाव बन सकते हैं।

३. इसके अतिरिक्त इन दोनो रसो का एक ही स्थायिभाव 'अमर्ष' मानते हुए इन्हें एक रस भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि अमर्ष नामक भाव संचारिभाव के ही रूप में दोनों रसों में विद्यमान रह सकता है—यद्यपि इसका अवकाश रौद्र रस के क्षेत्र में वीर रस की तुलना में अपेक्षाकृत कहीं अधिक है।



: १३ :

अद्भुत रस की स्थिति : अद्भुत तत्त्व की महत्ता

अद्भुत रस का स्थायिभाव 'विस्मय' है। अलौकिक वस्तु आलम्बन-विभाव है, उस वस्तु के गुण का वर्णन उद्दीपन-विभाव है। बाह्य चेष्टाओं का वर्णन आंगिक अनुभाव है। उसका आकार-वर्णन आहार्य अनुभाव है। स्तम्भ, स्वेद, रोमञ्च, गद्गद्ता, वेपथु आदि इसके सात्त्विक भाव हैं। इस प्रकार अद्भुत रस की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया भी बिल्कुल वही है जो अन्य रसो की है, किन्तु कतिपय आचार्यों ने इस रस को अन्य रसों की अपेक्षा अधिक महत्त्व-पूर्ण स्वीकार करते हुए इसे अन्य रसो का आधार घोषित किया है। इस दिशा मे रामचन्द्र-गुणचन्द्र, धर्मदत्त और नारायण नामक आचार्यों के कथन विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अद्भुत रस की महत्ता एवं स्थिति पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि 'नाटक नामक रूपक में एक रस अंगीरूप में होना चाहिए तथा अन्य रस अंगरूप में। इसके अन्त में अद्भुत रस होना चाहिए,— 'एकाङ्गिरसम् अन्याङ्गम् अद्भुतान्तम्'। 'अद्भुतान्तम्' पद का विग्रह करते हुए आचार्य कहते है कि 'अद्भुत एव रसोऽन्ते निर्वहणे यत्र', अर्थात् नाटक के अन्त में—निर्वहण सन्धि में—अद्भुत रस होना चाहिए। इसकी व्याख्या में आगे कहा गया है कि 'नाटक में एक ओर शृंगार, वीर, रौद्र, आदि रसों द्वारा स्त्री-रत्न, पृथ्वीलाभ, शत्रुक्षय रूप सम्पत्तियों की प्राप्ति होती है, और दूसरी ओर करुण, भयानक तथा वीभत्स रसों द्वारा इन सबकी अप्राप्ति। किन्तु नाटक के अन्त में अद्भुत रस द्वारा लोकोत्तर एवं असम्भाव्य फलरूप-प्राप्ति दिखानी चाहिए, क्योंकि प्रत्येक क्रिया का कोई न कोई फल तो अवश्य होता ही है, अतः यदि नाटक में असाधारण वस्तु रूप फल की कल्पना न की गयी तो फिर इसके निर्माण में परिश्रम करने से क्या लाभ ?"[1]

---

१. एकाङ्गिरसमन्याङ्गमद्भुतान्तं रसोर्मिभिः।

[× × × अद्भुत एव रसोऽन्ते निर्वहणे यत्र। यतः शृंगारवीररौद्रैः स्त्रीरत्नपृथ्वीलाभशत्रुक्षयसम्पत्ति। करुणभयानकबीभत्सैः तन्निवृत्तिः। इति

इस कथन का अभिप्राय यह है कि अंगी रस¹ चाहे कोई भी हो किन्तु उस रस से सम्बद्ध फल (अन्तिम परिपाक) 'अद्भुत' से मिश्रित होना चाहिए। 'अद्भुत' से यहाँ तात्पर्य है ऐसा फल जो एक ओर तो असम्भाव्य हो, अर्थात् जो सामान्य परिस्थितियो में सुलभ न हो, अथवा जिसके लिए नायक को लोकाचार से किंचिद् विलक्षण आचरण करना पड़े अथवा घोर विपत्तियो का सामना करना पड़े; और दूसरी ओर वह असाधारण (लोकोत्तर) हो, अर्थात् जिसकी प्राप्ति सामान्य जन के लिए प्राय: असम्भव सी होती हुई भी सब की लालसा एवं कामना का विषय बनी रहे। उदाहरणार्थ, सामान्य लोकव्यवहार में केवल विवाह-सम्बन्ध द्वारा नायिका की प्राप्ति में अद्भुत तत्त्व समाविष्ट नही है, अत: इस प्रकार की साधारण सी घटनाएँ नाटक का विषय नही होती। हाँ, दुष्यन्त-शकुन्तला का प्रेम-प्रसग नाटक का विषय बन सकता है, क्योकि इस प्रकार की घटनाओ में एक ओर लोकाचार से विलक्षण आचरण रहता है, और दूसरी ओर अनिन्द्य सुन्दरी शकुन्तला रूप फल-प्राप्ति प्रत्येक सहृदय की लालसा एवं कामना का विषय बन जाती है। यही स्थिति 'पृथ्वीराज-संयोगिता स्वयंवर' की भी है जो कि असामान्य वरमाला-प्रसग के समावेश के कारण नाटक का विषय बन सकता है। इसी प्रकार वीर रस के नाटको के लिए भी ऐसी ही घटनाए अपेक्षित है। उदाहरणार्थ, नैपोलियन का यह कथन कि 'मै गया, मैने देखा और मैने जीत लिया' उसी स्थिति में नाटक का विषय बन सकता है जब कि या तो शत्रुपक्ष का कायरतापूर्ण पलायन भी साथ ही दिखाया जाए, या फिर यह दिखाया जाए कि शत्रुओ के रक्त की प्यासी तलवार ज्यो की त्यो खिची रह गयी और 'बेचारा' आक्रान्ता जनशून्य शत्रु-नगरी में हाथ मलता रह गया। किन्तु इस सबसे बढकर आदर्श स्थिति 'राम-रावण युद्ध' जैसे प्रसंगों की समझनी चाहिए जिसमें राम ने रावण पर आक्रमण करके उसकी सेना तथा सहयोगी वीर-योद्धा सम्बन्धियों का मूलोच्छेदन करके लका-विजय के उपरान्त सीता का उद्धार किया। अस्तु !

उपर्युक्त घटनाओ में शृंगार अथवा वीर रस अगीभूत रूप में निस्सदेह स्वीकार किये जाएँगे। यदि इनमें अन्य रसों की गन्ध मिलेगी भी तो वे

इयता क्रमेण लोकोत्तराऽसम्भाव्यफलप्राप्तौ भवितव्यमन्ते अद्भुतेनैव। अपि च नाटकस्याऽसाधारणवस्तुलाभ- फलत्वेन यदि न कल्प्यते तदानीं क्रियाया: फलमात्रं किञ्चिदस्त्येवेति किं तत्रोपायव्युत्पादनक्लेशेन। ना० द० १।१५ तथा वृत्ति

अंगी के पोपक होने के कारण अगरूप में स्वीकृत रहेंगे। किन्तु अंगी (पोष्य) रस के चमत्कार का मूल कारण यह अंग (पोपक) रम नहीं होते, अपितु 'अद्भुत रस' का समावेश ही इस चमत्कार का मूल कारण होता है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र के उक्त कथन की व्याख्या इसी अभिप्राय को लेकर की जा सकतीहै।

सम्भवतः इसी प्रकार की धारणाओ से अनुप्रेरित होकर धर्मदत्त नामक आचार्य ने निम्नलिखित कथन में अद्भुत रस की सर्वत्र (सब सरस रचनाओं में स्वीकृति कर ली थी—

रसे सारः चमत्कार. सर्वत्राऽप्यनुभूयते।

तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राऽप्यद्भुतो रसः॥ सा०द०३।३(वृत्ति)

और इसी आधार पर नारायण नामक आचार्य (आचार्य विश्वनाथ के प्रपितामह)ने केवल अद्भुत रस को ही एकमात्र रस घोपित किया था—

तस्माद् अद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्। सा०द०३।३(वृत्ति)

●

निस्सन्देह रस में'चमत्कार'ही सारभूत तत्त्व है। चमत्कार को विश्वनाथ ने 'विस्मय' का अपर पर्याय कहा है, जिससे सहृदय के चित्त का विस्तार होता है—चमत्कारः चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः। सा०द०३।३(वृत्ति), और इस चमत्कार अथवा विस्मय को खीचतान कर 'अद्भुत' का भी पर्याय मान लेने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिये, और यही अद्भुत सभी रसो में एक अनिवार्य तत्त्व भी है, क्योंकि इसके विना रस की सिद्धि ही सम्भव नही है। किन्तु यह सब स्वीकार करते हुए भी—

(१) रामचन्द्र-गुणचन्द्र के समान इस 'अद्भुत' तत्त्व को 'अद्भुत रस' नाम से अभिहित नही करना चाहिए, और

(२) न ही आचार्य नारायण के समान इस 'अद्भुत' को ही एकमात्र रस स्वीकार करना चाहिए—

क्योंकि यह 'चमत्कार'अथवा 'अद्भुत' नामक तत्त्व रचना के मूल रस का केवल साधन-मात्र ही है, साध्य नही है, साध्य तो शृंगार आदि अन्य रस ही होते हैं। केवल इतना ही क्यों, यहां तक कि जिम रचना में अद्भुत रस साध्य रूप में रहेगा, वहाँ भी साधन रूप में अद्भुत तत्त्व की स्थिति अनिवार्यतः रहेगी। उदाहरणार्थ, 'रामाभ्युदय' नाटक में सीता-ज्वलन प्रकरण के अन्तर्गत सीता को गोद में लिए हुए अग्निदेव के प्रवेश करने का दृश्य देखिए—

धूम्रव्रातं वितानीकृतमुपरि शिखादोर्भिरभ्रंलिहाग्रैः,

बिभ्रद् भ्राजिष्णु रत्न ततमुरसि तथा चर्म चामूरवं च।

भूयस्तेज. प्रतानैर्विरहमलिनतां क्षालयन्नङ्कभाजो,
देव्या. सद्यश्चिराविर्भवति विफलयन् वाञ्छितान्यन्तकस्य ॥[1]

—हिन्दी ना०द०, पृष्ठ १८८ से उद्धृत

यह श्लोक अद्भुत रस का उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसका स्थायिभाव 'विस्मय' है। गोद मे लिये अग्निदेव विभाव हैं। अग्निदेव का वाह्य आकार अनुभाव है। आवेग, दैन्य, त्रास, औत्सुक्य, विषाद, चपलता आदि सचारिभाव है। 'विस्मय' नामक स्थायिभाव इन विभाव आदि के संयोग से अद्भुत रस के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है, और अद्भुत रस की अभिव्यक्ति की यही स्थिति ठीक अन्य रसो की अभिव्यक्ति के समान ही है। शेष रहा 'अद्भुत' तत्त्व के समावेश का प्रश्न, तो यह तत्त्व जिस प्रकार शृगार वीर, करुण आदि रसो में अनुस्यूत रहता है उसी प्रकार अद्भुत रस मे भी रहता है।

अस्तु ! समुचित यह रहेगा कि इस अद्भुत तत्त्व को न तो रामचन्द्र-गुणचन्द्र के समान 'अदभुत' नाम देना चाहिए और न विश्वनाथ के समान इसे 'विस्मय' का अपर पर्याय मानना चाहिए, क्योकि इनसे क्रमश. अद्भुत नामक रस और विस्मय नामक स्थायिभाव का भ्रम होता है। स्पष्टता के लिए इसे धर्मदत्त के समान 'चमत्कार' नाम ही देना चाहिए ।

निष्कर्षत:

—अद्भुत रस अन्य रसों के समान एक रस है।

—शृगार आदि सभी रसो में जिनमें अद्भुत रस भी सम्मिलित है 'अद्भुत रस' अनुस्यूत नही रहता, अपितु 'अद्भुत' नामक तत्त्व अनुस्यूत रहता है।

—विषय के स्पष्ट अवबोध के लिए इस तत्त्व को 'चमत्कार' नाम से ही अभिहित करना चाहिए, न 'अद्भुत' नाम से, और न 'विस्मय' नाम से।



---

१. आकाश को चुम्बित करनेवाली ज्वाला-रूप बाहुओं से धूम-समूह को वितान बनाकर, छाती पर चमकते हुए रत्न को तथा मृगचर्म को धारण किये हुए, अपने तेज:समूह के द्वारा गोद में बैठी हुई सीतादेवी की विरह-जन्य मलिनता को दूर करते हुए वह्निदेव काल के मनोरथ को विफल करके प्रकट हो रहे हैं।

: १४ :

शान्त रस

शान्त रस के सम्बन्ध में दो प्रमुख प्रश्न उपस्थित होते हैं। पहला यह है कि इसका स्थायिभाव किसे माना जाए, और दूसरा यह कि क्या इस रस को काव्य के समान नाटक का भी विषय माना जाए। इस निबन्ध में इन्ही दो प्रश्नो पर विचार किया जाएगा।

१. शान्त रस का स्थायिभाव—

शान्त रस का स्थायिभाव 'निर्वेद' को माना जाए अथवा 'शम' को, यह एक विचारणीय प्रश्न है। मम्मट ने 'निर्वेद' नामक भाव की गणना स्थायिभावो में भी की है और संचारिभाव में भी। उन्हे इसी भाव को शान्त रस का स्थायिभाव भी मानना अभीष्ट है और संचारिभाव भी।[1] उन्होने सभी स्थायिभाव और संचारिभावों की सूची प्रस्तुत करके इनका लक्षण प्रस्तुत नही किया, अत उनके अनुसार 'निर्वेद' नामक स्थायिभाव और संचारिभाव के स्वरूप में कोई स्पष्ट विभाजन-रेखा नही खींची जा सकती। इसी रेखा को आगे चलकर रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने स्पष्ट किया किन्तु प्रकारान्तर से। प्रकारान्तर से इसलिए कि उन्होने शान्त रस का स्थायिभाव निर्वेद न मानकर 'शम' माना और 'निर्वेद' को संचारिभाव माना। इनके अनुसार—

—शम कहते है निःस्पृहता अर्थात् इच्छा के अभाव को 'निःस्पृहत्वंशमः।'[2]

—काम, क्रोध, लोभ, मान, माया आदि से रहित विषयसंलग्नता से

---

१. (क) मम्मट ने 'निर्वेद' को संचारिभावों में प्रथम स्थान दिया ही इसीलिए है कि वह शान्त रस का स्थायिभाव है : 'निर्वेदस्य प्रथमम् उपादानं व्यभिचारित्वेऽपि स्थायिता-विधानार्थम्। —का०प्र०,४।३४

(ख) निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः। —वही ४।३५

२. हिन्दी नाट्यदर्पण, पृष्ठ ३३०

विमुक्ति, अक्लिष्ट चित्तवृत्ति रूप 'शम' नामक स्थायिभाव शान्त रस [के रूप में में अभिव्यक्त] होता है।[1]

—जन्म-मरण से युक्त ससार से, भय तथा वैराग्य से, जीव, अजीव (परमात्मा और प्रकृति), पाप-पुण्य आदि तत्त्वो तथा मोक्ष के उपायो के प्रतिपादक शास्त्रो के विमर्शन से शान्त रस की उत्पत्ति होती है।[2]

—दरिद्रता, व्याधि, अपमान, ईर्ष्या, श्रम, आक्रोश, ताडन, इष्टवियोग, परविभूतिदर्शन आदि (सासारिक) क्लेशों के कारण विरसता (वैराग्य-भाव) तथा तत्त्वज्ञान 'निर्वेद' कहाता है।[3]

रामचन्द्र-गुणचन्द्र के उक्त ववतव्यो का अभिप्राय यह है कि विषय-संलग्नता से वास्तविक विरक्ति तो शम है, पर से दरिद्रता, पुत्र-मरण आदि व्याधियों से उत्पन्न वैराग्य-भाव निर्वेद है। शम स्थायिभाव है और निर्वेद संचारिभाव। इन दोनो आचार्यो ने मम्मट के उक्त मन्तव्य को इसी प्रसंग मे स्पष्टत. अस्वीकृत करते हुए कहा है कि एक ही भाव (निर्वेद) को स्थायिभाव और संचारिभाव इन दोनों नामो से अभिहित करना स्ववचन-विरोध है।[4]

किन्तु वस्तुतः निष्पक्ष रूप से देखा जाए तो मम्मट को भी वही अभीष्ट है, जो इन दोनो आचार्यों को है। मम्मट के शान्त रस के प्रख्यात उदाहरण 'अहौ वा हारे वा कुसमशयने वा दृषदि वा' से निस्सन्देह यही प्रतीत होता है कि निर्वेद नामक स्थायिभाव विषय-विमुक्ति से उत्पन्न विरक्ति-भाव है, न कि सांसारिक क्लेशो के कारण उत्पन्न विरक्ति भाव। हाँ, यह दूसरा रूप इसे संचारिभाव की ही संज्ञा देगा, स्थायिभाव की नही।

मम्मट की इसी धारणा को मम्मट के टीकाकारो ने भी समझा था, और स्पष्टतः लिखा था—

स्थायी स्याद् विषयेष्वेष तत्त्वज्ञानाद् भवेद् यदि।
इष्टानिष्टवियोगाप्तिकृतस्तु व्यभिचार्यसौ॥

—का० प्र० (बालबोधिनी टीका) पृष्ठ ११६

---

१. कामक्रोधलोभमानमायाद्यनुपरक्तपरोन्मुखता-विवर्जिताऽक्लिष्टचेतोरूपशमस्थायी शान्तो रसो भवति। —वही पृष्ठ-३१७

२. वही, ३। २० तथा वृत्ति

३. वही, ३। २८ (सूत्र १८३) तथा वृत्ति

४. मम्मटस्तु व्यभिचारिकथनप्रस्तावे निर्वेदस्य शान्तरसं प्रति स्थायितां

किन्तु फिर भी, रामचद्र-गुणचन्द्र ने 'निर्वेद' और शम का स्वरूप अलग-अलग दिखाकर विपय की स्पष्टता में पूर्ण सहयोग दिया है, और सम्भवत. इनके ग्रन्थ से अथवा इसी के अनुरूप किसी अन्य ग्रन्थ से प्रेरणा प्राप्त कर विश्वनाथ ने भी [काव्यप्रकाश के समान 'निर्वेद' को दोनो रूपो में स्वीकृत न कर] इन्ही के अनुरूप शम तथा निर्वेद दोनों भावो की अलग-अलग स्वीकृति की है।[1] वस्तुतः स्वच्छ प्रतिपादन के लिए आवश्यक भी यही था।

इधर हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यो में कुलपति ने अत्यन्त असमर्थ एवं शिथिल गद्यशैली मे सम्भवत: इसी धारणा को ही व्यक्त करने का प्रयास किया है—

यह (शान्त रस) रस ही कहाता है, भावध्वनि नहीं। तत्त्वज्ञान से निर्वेद उपजता सो स्थायी है, और जहां स्थायी प्रधानता करके व्यंग होवे सो वही रस है। —रसरहस्य ६। ९२ (वृत्ति)

इस कथन से कुलपति का आशय यह है कि संसार की असारता रूप तत्त्वज्ञान अर्थात् वैराग्य से उत्पन्न निर्वेद ही शान्तरस का प्रतिपाद्य विषय है न कि आपद्, ईर्ष्या, गृहकलह आदि से उत्पन्न निर्वेद। प्रथम प्रकार का निर्वेद स्थायिभाव कहाता है, और द्वितीय प्रकार का संचारिभाव। स्थायिभाव 'निर्वेद' शान्त रस का विषय है और संचारिभाव 'निर्वेद' भाव-ध्वनि का, जिसमे प्रधान रूप से निर्वेदादि सचारिभावो की ही व्यञ्जना होती है, रत्यादि स्थायिभावो की नही। अस्तु!

निष्कर्पत: 'शम' को ही शान्त रस का स्थायिभाव मानना चाहिए। जहाँ 'निर्वेद' नामक सचारिभाव का वर्णन होगा, वहां शान्त रस न स्वीकार किया जाकर भाव-ध्वनि (शान्त-भाव अथवा शान्त-भाव-ध्वनि) स्वीकार की जानी चाहिए।

२. शान्त रस नाटक का विपय है अथवा नहीं—

इस प्रसंग पर सम्भवत. सर्वाधिक प्रकाश दशरूपककार धनञ्जय और उसके वृत्तिकार धनिक ने डाला है। धनञ्जक का इस सम्बन्ध मे मूल कथन है—

शममपि केचित्प्राहु. पुष्टिर्नाट्येपु नैतस्य। दशरूपक ४।३५

'प्रतिकुलविभावादिपरिग्रह.' इत्यत्र तु तमेव प्रति व्यभिचारितां च, ब्रुवाणः स्ववचनविरोधेन प्रतिहत इति।—वही, पृष्ठ ३३२

१. साहित्यदर्पण ३। १४२, १७५, २४५

२. सर्वथा नाटकादौ अभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभि. शमस्य निपिध्यते।

धनञ्जय के इस कथन पर धनिक ने शान्त रस को नाटक का विषय न होने का कारण यह दिया है कि शम में सभी व्यापारो का विलय हो जाने के कारण नाटको में इसका अभिनय नही हो सकता; और वादी रूप में काव्य का विषय होने का कारण यह दिया है कि काव्य में सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय भी शब्द द्वारा प्रतिपादित हो सकने के कारण शान्त रस के लिए काव्य का विषय बनने में कोई आपत्ति नही की जा सकती[1]। पर वस्तुत· सिद्धान्त रूप मे धनिक को शान्त रस का काव्य में प्रधान रूप से प्रयोग स्वीकार नही है। इस सम्बन्ध में उनके कथन का हिन्दी में भावार्थ इस प्रकार है—'शान्त रस का विषय दु ख-सुख, द्वेष-राग एव किसी भी प्रकार की चिन्ता से विनिर्मुक्त होने के कारण मोक्षावस्था में आत्म-स्वरूपता का ही विषय है, अत [काव्य आदि में] वह अनिर्वचनीय है। यही कारण है कि स्वय श्रुति को भी 'नेति नेति' प्रक्रिया का समाश्रय ग्रहण कर प्रकारान्तर से इसकी इस विषय की अनिर्वचनीयता घोषित करनी पड़ी। वस्तुतः शान्त रस का आस्वादन लौकिक विषयो के रसिक जनों की शक्ति से बाहर है। × × × फिर भी यदि काव्यादि मे शान्त रस के आस्वाद का निरूपण किया जाता है, तो वह औपचारिक रूप से'।[2]

इसी प्रसंग मे धनिक ने शान्त रस की अस्वीकृति के सम्बन्ध में तीन धारणाएं प्रस्तुत की हैं—

(क) कई आचार्य इस रस को स्वीकार करते हुए भी इसे काव्य, नाटक आदि का विषय नही बनाना चाहते। इसके प्रमाण-स्वरूप वे भरत की

तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याऽभिनयाऽयोगात्। —दशरूपक ४।३५ वृत्ति

१. ननु शान्तरसस्याऽनभिनेयत्वाद् यद्यपि नाट्येऽनुप्रवेशो नास्ति, तथापि सूक्ष्मातीतादिवस्तूनां सर्वेषामपि शब्दप्रतिपाद्यताया विद्यमानत्वात् काव्यविषयत्व न निवार्यते! —दशरूपक ४।४४ (वृत्ति)

२. शान्तो हि यदि तावत्—

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः॥

इत्येवंलक्षण, तदा तस्य मोक्षावस्थायामेवात्मस्वरूपापत्तिलक्षणायां प्रादुर्भावात्तस्य च स्वरूपेणाऽनिर्वचनीयता। तथाहि—श्रुतिरपि स एष नेति नेति इत्यन्यापोहरूपेणाह। न च तथाभूतस्य शान्तरसस्य सहृदयाः स्वादयितारः सन्ति। × × × तदुक्तयैव शान्तरसास्वादो निरूपितः।

—दशरूपक ४।४५ (वृत्ति)

साक्षी देते हैं, जिन्होंने आठ स्थायिभावों एवं रसों की गणना की है।[3]

(ख) दूसरे आचार्य शम अथवा निर्वेद की नितान्त अस्वीकृति करते हैं, यहाँ तक कि साधारण व्यवहार में भी इसे स्वीकार नहीं करते। इसका कारण यह है कि शम की स्थिति तभी सम्भव है जब राग-द्वेष आदि द्वन्द्व-भावों का नितान्त विनाश हो जाए, पर ससारोत्पत्ति से लेकर अद्यावधि किसी सांसारिक प्राणी के लिए ऐसी स्थिति न तो कभी सम्भव हो पायी है और न होने की सम्भावना है। इस प्रकार शम अथवा निर्वेद स्थायिभाव की संसार में सत्ता ही नही है, अत शान्त रस के अस्तित्व का प्रश्न ही उपस्थित नही होता।[1]

(ग) अन्य आचार्य शम स्थायिभाव अथवा शान्त रस की स्वीकृति करते हुए भी इसका अन्तर्भाव बीभत्स रस अथवा वीर रस में मानते है।[2] संसार के प्रति घृणाभाव शान्त रस का एक अनिवार्य तत्त्व है, अतः यह बीभत्स रस में अन्तर्भूत हो सकता है। 'शम' नामक स्थायिभाव की अन्तिम परिणति है—परमात्म-तत्त्व अथवा मोक्ष की प्राप्ति। दूसरे शब्दो में, शम साधन है और यह प्राप्ति साध्य है। इस प्राप्ति के सभी साधनो को, जिनमें शम का प्रमुख स्थान है, एक प्रकार का 'उत्साह' नामक स्थायिभाव स्वीकार कर लेने से शान्त रस का अन्तर्भाव वीर रस में हो सकता है।

●

इधर हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों में कुलपति ने भी सम्भवतः धनञ्जय के ही इसी कथन का अनुकरण करते हुए निम्नोक्त वक्तव्य प्रस्तुत किया है—

---

३. तत्र केचिदाहुः नास्त्येव शान्तो रसः, तस्याचार्येण विभावाद्यप्रति-पादनाल्लक्षणाऽकरणात्। —द० रू० ४।३५ (वृत्ति)

[यहां यह ज्ञातव्य है कि भरत ने केवल श्रृङ्गारादि आठ ही रसों के विभावादि साधनों का वर्णन किया है। नाट्यशास्त्र में शान्त रस के न तो विभावादि वर्णित हैं और न इस रस का लक्षण तक दिया गया है।]

१. अन्ये तु वस्तुतस्तस्याऽभावं वर्णयन्ति—अनादिकालप्रवाहाऽऽयतराग-द्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात्। —वही

२. अन्ये तु वीरबीभत्सादौ अन्तर्भावं वर्णयन्ति। एवं वदन्तः शममपि नेच्छन्ति। —वही

"यह रस (शान्त रस) काव्य में ही होता है नाट्य मे नही होता। सो इसके न होने का कारण कहते है। निर्वेदवासनावत सहृदय को नाट्य देखने की इच्छा नही होती, इस डर से कि नृत्य (नाटक) मे वहुतेरे विपय है, कदाचित् किसी से विकार उपजै और काव्य तो एक विपय ही है इससे इसके श्रवण करने में कुछ अटक नही, इस कारण कवित्त मे इसको कहो।"

—रसरहस्य ३। ६२ वृत्ति

स्पष्ट है कि कुलपति को न तो अभाववादियो के समान शान्त रस की अस्वीकृति अभीप्ट है, न अन्तर्भाववादियो के समान इस रस का वीर अथवा वीभत्स रस में अन्तर्भाव करना स्वीकार्य है, और न धनिक के समान इन्हे इस रस को काव्य का प्रधान रूप में विपय मानना अस्वीकार है। इनके सामने तो दशरूपक की उपर्युक्त पक्ति के ये शब्द हैं—पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य—और सम्भवत इन्ही शब्दो के आक्षेप द्वारा, अथवा धनिक के वादिपक्ष के उपर्युक्त कथन द्वारा, अथवा गुरुमुख द्वारा इन्होने शान्त रस की केवल काव्य में प्रयोग-स्वीकृति कर ली है, नाटक में नही। पर अपनी दोनो धारणाओं की पुष्टि में धनिक-सम्मत उपर्युक्त कारण उपस्थित न कर इन्होने दो नवीन कारण उपस्थित किये है कि (१) नाटक वहुविपयी है, और काव्य एकविषयी, (२) 'निर्वेद-वासनावंत अर्थात् वैराग्यवान् व्यक्ति इस भय से [शान्त रस प्रधान भी] नाटक नही देखता कि कही कोई विषय उसके लिए विकारोत्पादक न वन जाए।

कुलपति ने शान्त रस की नाटक में अस्वीकृति के सम्वन्ध मे जो कारण प्रस्तुत किया है, वह काव्य पर भी घटित हो जाता है। शान्त रस से सम्वद्ध होता हुआ भी कोई काव्य आरम्भ से अन्त तक एक-विषयी कभी नही रह सकता, अन्यथा वह काव्य न रह कर उपदेशात्मक ग्रन्थ वन जाएगा। अतः शान्तरसात्मक काव्य से भी विकारोत्पत्ति की—यदि वह होती है तो—उतनी ही सम्भावना है जितनी कि नाटक से। यह अलग प्रश्न है कि श्रव्य और दृश्य काव्यो द्वारा प्राप्य प्रभाव की क्षिप्रता मे काल का तारतम्य सदा और अवश्य वना रहता है।

कुलपति की यह धारणा भी हमारे विचार मे भ्रान्त है कि वहु-विषयात्मक होने के कारण शान्तरस-प्रधान भी नाटक निर्वेदवासनात्मक सहृदय के लिए विकारोत्पादक है। वस्तुत. सफल नाटको [और काव्यो मे भी] प्रधान रस का पर्यवसान इतनी प्रवल शक्ति और हृदयहारिणी युक्ति से होता है कि पूर्व पक्ष स्वय ही दव कर न केवल प्रधान रस के विरुद्ध स्वप्रभावोत्पादन की क्षमता खो वैठता है, अपितु प्रधान रस की प्रभावशील चमत्कारोत्पादकना में और

भी सहायक बन जाता है। उदाहरणार्थ, वीररस-प्रधान किसी नाटक [अथवा काव्य] में प्रमुख स्थायिभाव 'उत्साह' की पूर्ण परिणति हो जाने पर पूर्व-वर्णित भृत्य आदि नीच पात्रो द्वारा सम्पन्न कायरता-प्रदर्शक क्रिया-कलापो का प्रभाव नितान्त विनष्ट हो जाता है, और वह न केवल वीर अपितु कायर भी सहृदय को उद्वेलित तो करता ही है, साथ ही विलोम रूप से इसके स्थायि-भाव को और अधिक पुष्ट करता है। इसी प्रकार शान्तरस-प्रधान नाटक अथवा काव्य मे भी प्रमुख स्थायिभाव शम [अथवा निर्वेद] की पूर्ण परिणति हो जाने पर पूर्ववर्णित ससार-मोहोत्पादक प्रसगो का प्रभाव नितान्त विनष्ट हो जाता है। वह भी सहृदय को उद्वेलित करने के साथ-साथ शान्त रस की विभाधादि-सामग्री के उपस्थित रहते समय तक विलोम रूप से उसके स्थायि-भाव 'शम'को—व्यवहार रूप मे कहना चाहे तो उसके विरक्तिभाव को—और अधिक पुष्ट कर देता है। जब यह स्थिति सामान्य सहृदय की होती है, तो फिर निर्वेदवासनात्मक विवेकशील सहृदयो के लिए तो कहना ही क्या ? अतः शान्त रस को नाटक के विषय के रूपमें अस्वीकृत करना युक्ति संगत नही है।

शका अब भी शेष रह जाती है कि कितने सन्त-हृदय है जो नाटक देखते फिरते हैं जिनके लिए शान्तरस-प्रधान नाटकों का निर्माण किया जाय। इस शका का समाधान अभावात्मक रूप में करने से सहल हो जाएगा। कितने व्यक्ति ऐसे है जो वीर होते हुए भी वीररस-प्रधान नाटक और काव्य देखने-सुनने में रुचि नही रखते, और कितने ही वीतराग व्यक्ति ऐसे है जो अन्य रसो के प्रति रुचि रखते हुए भी शृङ्गार के प्रति रुचि नही रखते—तर्हि वीत-रागाणां श्रृङ्गारो न श्लाघ्य इति सोऽपि रसाच्च्यवतामिति ![1] वस्तुतः नाटक और काव्य सहृदय-समाज के विषय है, जिसके लिए सन्त-हृदय अथवा असन्त-हृदय होना अनिवार्य नही है। ऐसी एक आपत्ति और भी की जा सकती है। शान्त रस मे यथार्थ रुचि रखने वाले व्यक्ति संसार भर में मिलेगे ही कितने ? किन्तु एक तो, यही आपत्ति शान्तरस-प्रधान काव्य पर भी की जा सकती है, जिसमें कुलपति ने इस रस के विधान की स्वीकृति की है; और दूसरे, इसी आपत्ति के आधार पर शान्त रस की अस्वीकृति न केवल इस रस के प्रति अन्यायमूलक है, अपितु समाज को निर्वेद जैसी उदात्त वासना की अनुभूति और तज्जन्य शान्ति से वंचित रखना है। अतः सहृदयो के वर्गविशेष अथवा

---

१. ध्वन्यालोकलोचन (नम्बर आफ़ रसस्, पृष्ठ २४ के आधार पर)

उनकी वहुसख्या को लक्ष्य में रख कर किसी रस को नाटक अथवा काव्य में स्थान न देना अनुचित है।

●

शान्त रस की अस्वीकृति पर धनिक के दो आक्षेप शेष रह जाते हैं—इस रस की नाटक में अनभिनेयता और काव्य में अनिर्वचनीयता। इन दोनो आक्षेपो का कारण एक ही है—निर्वेद (शम) में शेप सभी व्यापारो का विलय। अभिनवगुप्तने भी वादी के मुख से इसी आशय का कथन कहलवाया है—न हि चेष्टाव्युपरमः प्रयोगयोग्य.।[1] निस्सन्देह निर्वेद की पर्यवसान-भूमि का, जिस में सभी विकार विलीन हो जाते है, अभिनय अथवा वर्णन कर सकना नितान्त असम्भव है, पर यह स्थिति केवल निर्वेद तक ही सीमित नही है, अपितु रत्यादि सभी वासनाओं पर घटित होती है। यही कारण है कि रति की सुरत-क्रीडा रूप, अथवा क्रोध की हत्या रूप पर्यवसान-भूमि का नाटक में प्रदर्शन वर्जित है। इसी प्रकार निर्वेद की अन्तिमावस्था का—सुखदु खादि द्वन्द्वो से निर्लिप्तता का—न तो अभिनय सम्भव है और न वर्णन। फिर भी संसार को असार, मिथ्या और मायाजाल मे आविष्ट अतएव त्याज्य प्रदर्शित करने वाले कारणो अर्थात् विभावो, उनसे मुक्त होने के अभिलापी निर्वेद-वासनोद्रिक्त वुद्ध जैसे सन्त एवं मनीपी व्यक्ति के उत्तरोत्तर वृद्धिशील सघर्षो अर्थात् अनुभावो, तथा उसके हृदयस्थ चिन्ता, हर्ष आदि भावो अर्थात् सचारि-भावों का तो नाटक आदि में वर्णन उसी प्रकार सहज-सम्भव है, जिस प्रकार शृङ्गार आदि अन्य रसो के विभाव, अनुभाव और सचारिभावो का। सम्भवतः इन्ही विचारो से प्रेरित होकर रुद्रट-प्रणीत काव्यालकार के टीकाकार नमिसाधु को शान्त रस में भी विभावादि की विद्यमानता के वल पर अभाववादियो को उत्तर देना पड़ा होगा—कश्चिच्छान्तस्य रसत्वं नेष्टम्। तदयुक्तम्। भावादिकारणानामत्रापि विद्यमानत्वात्।[2]

●

अत. हमारे विचार में 'शम' को तत्त्वतः अनिर्वाच्य मानते हुए भी व्यवहार रूप मे उसे काव्य और नाटक दोनो का वर्ण्य-विपय स्वीकृत करना संगत है। स्वय धनञ्जय ने इसी प्रसग में 'शम' की प्रतीति के सम्वन्ध मे चार विभिन्न उपायो का उल्लेख किया है—मुदिता, मैत्री, करुणा तथा उपेक्षा, और

---

१. अभिनवभारती (नाटचशास्त्र) पृष्ठ ३३४; 'नम्बर आफ़ रसस्', पृष्ठ २४
२. काव्यालकार (टीकाभाग) पृष्ठ १६६

धनिक ने इनका सम्वन्ध क्रमश· इन चित्तवृत्तियों के साथ जोड़ा है—विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप ।[1] इन दोनो आचार्यो के इस कथन का आशय यह है कि विकास आदि सूक्ष्म एव आन्तरिक वृत्तियाँ हर व्यक्ति में विद्यमान है पर इनकी परिणति उपर्युक्त स्थूल एव वाह्य रूप में जिस व्यक्ति में हो जाती है वह व्यक्ति 'शान्त', अथवा कुलपति के शब्दो में 'निर्वेदवासनावन्त' कहाता है । अव इसका शम (अर्थात् निर्वेद) मुदिता, मैत्री आदि वाह्य रूप मे प्रकट हो जाने के कारण काव्य, नाटक आदि का विषय वन सकता है । वस्तुत: 'शम' की यह स्थिति अन्य स्थायिभावो की तुलना में किसी भी रूप मे भिन्न नही है । काव्यशास्त्रीय [एव मनोवैज्ञानिक] सिद्धान्तो के अनुसार रति, हास आदि स्थायिभाव तथा निर्वेद, लज्जा आदि सचारिभाव हर व्यक्ति में वासना रूप से विद्यमान रहते हुए भी काव्य, नाटक आदि के विपय तव तक नही वन सकते, जव तक वे किसी प्रकार से वाह्य रूप मे प्रकट नही हो जाते । ठीक यही यथार्थता शम (निर्वेद) के सम्वन्ध मे भी है । अत: अन्य रसो के समान शान्त रस भी काव्य और नाटक दोनो का समान रूप से प्रतिपाद्य विपय वन सकता है । और यदि शम की प्रकर्पता का—दूसरे शब्दो में मोक्षावस्थाप्राप्ति का—वर्णन काव्य-नाटक आदि का विपय नही वन सकता—शमप्रकर्षोऽनिर्वाच्य., तो इसकी यह स्थिति भी रति आदि अन्य स्थायिभावो के ठीक अनुरूप ही है । उनकी पराकाष्ठा को भी काव्य का वर्ज्य विषय घोपित किया गया है ।

निष्कर्षत· अन्य रसों के समान शान्त रस भी काव्य और नाटक दोनों काव्यरूपों का वर्ण्य विषय वन सकता है ।



१. धनञ्जय—शमप्रकर्षोऽनिर्वाच्य· मुदितादेस्तदात्मता ।

धनिक—अथापि तदुपायभूतो मुदितामैत्रीकरुणोपेक्षादिविलक्षणस्तस्य च विकासविस्तारक्षोभविक्षेपरूपतैवेति तदुक्त्यैव शान्तरसास्वादो निरूपित ।

—दशरूपक ४।४५ तथा वृत्ति ।

: १४ :

रसस्योक्तिः स्वशब्देन : एक रसदोष

आनन्दवर्द्धन ने 'ध्वनि' को काव्य का अनिवार्य तत्त्व स्वीकृत करते हुए न केवल उसे आत्म-पद से विभूषित किया, अपितु रस जैसे महनीय तत्त्व को भी उन्होने ध्वनि के एक भेद रूप मे ही प्रस्तुत किया, जिसका अपर नाम है असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि। काव्याचार्यो—विशेषत. आनन्दवर्द्धन और उसके परवर्ती काव्याचार्यो—का 'रस' से तात्पर्य केवल रस नही है, अपितु इससे तात्पर्य है—रसादि अर्थात् निम्नोक्त आठो काव्य-तत्त्व—रस, भाव, रसाभास भावाभास, भावशान्ति भावोदय, भावसन्धि और भावशवलता। आनन्दवर्धन ने रस को, यो कहिए 'रस आदि' को, यदि ध्वनि का एक भेद स्वीकार किया तो इसका एक मात्र कारण यह है कि रस आदि के सभी उदाहरणो मे व्यङ्ग्यार्थ अनिवार्यत. विद्यमान रहता है, केवल वाच्यार्थ की प्रतीति के उपरान्त सहृदय को रस का आस्वाद प्राप्त नही हो सकता। अस्तु!

'रसस्य स्वशब्दोक्ति' नामक दोष उक्त धारणा से सम्बद्ध है। 'स्व-शब्दता' का सर्वप्रथम उल्लेख उद्भट ने रसवद् अलकार का लक्षण प्रस्तुत करते हुए इन शब्दो मे किया था—

रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृंगारादिरसादयम्।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम्॥ का०सा०स०४।३

इस कथन से उनका अभिप्राय यह है कि रसवद् अलकार वहाँ होता है जहाँ शृङ्गार आदि स्पष्ट (प्रधान अथवा अङ्गी) रूप से दिखाये गये हो, तथा साथ ही स्थायिभाव, सचारिभाव, विभाव तथा अभिनय अर्थात्—अनुभाव और सात्त्विक भाव [के विभिन्न प्रकारो] का 'स्वशब्द' से आस्पद (कथन) भी किया गया हो। इसी अलंकार के उदाहरण-स्वरूप उन्होने निम्नोक्त तीन पद्य प्रस्तुत किये थे—

इति भावयतस्तस्य समस्तान् पार्वतीगुणान्।
संभृतानल्पसकल्पः कन्दर्पः प्रबलोऽभवत्॥
स्विद्यताऽपि स गात्रेण बभार पुलकोत्करम्।
कदम्बकलिकाकोशकेसरप्रकरोपमम्॥

क्षणमौत्सुक्यगर्भिण्या चिन्तानिश्चलया क्षणम् ।

क्षणं प्रमोदालसया दृशाऽस्याऽऽस्यमभूष्यत ॥ का०सा०सं०४।२-४

यह उदाहरण रसवादियो के मत में रस का है और अलंकारिवादियो के मत मे रसवत् अलकार का। उन दोनो का विभिन्न दृष्टिकोण ही इस धारणा का उत्तरदायी है। किन्तु यहाँ विचारणीय विषय यह दृष्टिकोण नही है अपितु यह है कि क्या किसी सरस वाक्य मे रस आदि की 'स्वशब्दोक्ति' अनिवार्य है। उद्भट के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज ने उक्त पद्यो मे विभाव आदि पाँचो तत्त्वो की स्वशब्दोक्ति का निर्देश करते हुए लिखा है कि यहाँ कन्दर्प अर्थात् 'रति' नामक स्थायिभाव, औत्सुक्य, चिन्ता, प्रमोद (हर्ष) नामक संचारिभाव, स्वेद और पुलक (रोमाञ्च) नामक सात्त्विकभाव—ये सभी, तथा इनके अतिरिक्त पार्वती और 'तस्य' अर्थात् महादेव ये दोनो विभाव भी स्वशब्द द्वारा कथित है। इस प्रकार यहाँ उद्भट-सम्मत रसवत् अलकार का उक्त लक्षण घटित हो जाता है। उद्भट और प्रतिहारेन्दुराज के इन वक्तव्यो से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उद्भट के समय तक रसवत् अलकार के (अथवा यो कहिए, रस के) उदाहरणो में विभावादि की स्वशब्दोक्ति अनिवार्यतः स्वीकृत की जाती थी।

उद्भट के उपरान्त आनन्दवर्द्धन ने यद्यपि उक्त रसदोष का स्पष्टतः उल्लेख नही किया, पर हाँ, रस वाच्य पर आधृत न होकर व्यङ्ग्य पर आधृत होता है इस प्रसग में उन्होने प्रकारान्तर से इस दोष की चर्चा अवश्य की है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि किसी भी रचना में विभाव आदि की परिपक्व सामग्री के अभाव मे रसादि के नामोल्लेख मात्र से रसानुभूति नही हो जाती—न हि केवलं शृङ्गारादिशब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्त्वप्रतीतिरस्ति।—ध्वन्या० १।४ वृत्ति

आगे चलकर कुन्तक ने उद्भट के उक्त कथन का उल्लेख करते हुए उसका खण्डन किया। उनके मत का सार यह है कि रस आदि की स्वशब्दोक्ति द्वारा ही यदि रसचर्वणा का चमत्कार स्वीकार किया जाए तब तो घृतपूर आदि [मिष्ठान्न] का नाम लेने मात्र से भी उनका आस्वाद प्राप्त हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं है।[1]

---

१. यदपि कश्चित् 'स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम्' इत्यनेन पूर्वमेव लक्षणं विशेषितम्। तत्र स्वशब्दास्पदत्वं रसानामपरिगतपूर्वमस्माकम्। × × × यत् स्वशब्दैरभिधीयमानाः श्रुतिपथमवतरन्तः चेतनानां चर्वणाचमत्कारं

कुन्तक के उपरान्त मम्मट ने 'रस आदि की स्वशब्दवाच्यता' को रस-दोषों में परिगणित किया। उन्हे इस दोष की प्रेरणा आनन्दवर्द्धन और सम्भवतः कुन्तक के उक्त प्रसगो से मिली होगी। मम्मट के अनुकरण पर विश्वनाथ ने इस दोप की स्वीकृति की, और निम्नोक्त उदाहरण प्रस्तुत किये—

(क) तामुद्वीक्ष्य कुरंगाक्षीं रसो नः कोऽप्यजायत।
(ख) चन्द्रमण्डलमालोक्य शृङ्गारे मग्नमन्तरम्।
(ग) अजायत रतिस्तस्या. त्वयि लोचनगोचरे।
(घ) जाता लज्जावती मुग्धा प्रियस्य परिचुम्बने।

मम्मट के उपरान्त रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने सम्भवतः मम्मट के इस प्रसंग से प्रेरणा प्राप्त कर उनसे असहमति प्रकट करते हुए इस दोष की नितान्त अस्वीकृति की है—केचित्तु व्यभिचारिरसस्थायिनां स्वशब्दवाच्यत्वं रसदोषमाहुः तदयुक्तम्। व्यभिचार्यादीनां स्ववाचकप्रयोगेऽपि विभावपुष्टौ। अर्थात्, कई आचार्य रस, व्यभिचारिभाव और स्थायिभाव की स्वशब्दवाच्यता को एक रसदोष मानते है, किन्तु यह कोई दोष नहीं है, क्योकि इनके प्रयोग में भी विभावादि की पुष्टि ही होती है। उदाहरणार्थ 'दूरादुत्सुकमागते'… …(हि० ना० द०, पृष्ठ ३२९) आदि पद्य मे 'उत्सुकता' नामक सचारिभाव के 'स्वशब्दवाच्य' रूप मे प्रयुक्त होने पर भी रस की उत्पत्ति होती ही है।

इस प्रकार इस रसदोप के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सामग्री उपस्थित करने के उपरान्त अब हम कतिपय निष्कर्षो पर पहुच सकते हैं—

(क) जहाँ विभाव आदि सामग्री अपूर्ण एवं अपरिपक्व रूप मे प्रस्तुत की जाती है, अथवा इसका अभाव ही रहता है, वहाँ यदि रस, शृङ्गार, रति, लज्जा आदि शब्दो द्वारा कथन को सरस बनाने की चेष्टा की जाए तो निस्सन्देह ऐसे कथन न तो सरस कहलायेंगे और न काव्यत्व की किसी कोटि में ही वे अन्तर्भूत होगे। वे केवल साधारण वार्तामात्र ही होगे, जैसे कि विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत उक्त चार वाक्य।

(ख) जहाँ विभाव आदि की सम्पूर्ण सामग्री का उपस्थापन सम्यक् रूप से किया जाए, और यदि वहां 'रस' आदि मे से किसी एक का नाम-निर्देश भी अनायास हो जाए तो इन सरस प्रसंगो मे यह दोप प्रथम तो स्वीकृत नही करना चाहिए, और यदि स्वीकृत किया जाये तो उसे क्षम्य समझना चाहिए,

---

कुर्वन्तीत्यनेन न्यायेन घृतपूरप्रभृतय पदार्थाः स्वशब्दैरभिधीयमानाः तदास्वाद-सम्पदं सम्पादयन्ति × × ×।—हि०वक्रोक्तिजीवित, पृष्ठ ३४३-३४४

क्योकि इससे रस-प्राप्ति मे कोई व्याघात उपस्थित नही होता। उदाहरणार्थ, रामचन्द्र-गुणचन्द्र प्रस्तुत उक्त पद्य मे मानिनी के नेत्रो का प्रपञ्च-चातुर्य-पूर्ण वर्णन काव्याह्लादकता का उत्पादक है, किन्तु केवल 'उत्सुकम्' नामक संचारिभाव के प्रयोग से इसमें रसदोष मानकर काव्यत्व की अस्वीकृति अथवा हीन काव्यत्व की स्वीकृति करना समुचित नही है। इसी प्रकार एक ओर उद्भट तथा दूसरी ओर स्वयं मम्मट द्वारा प्रस्तुत दो उदाहरण भी[1] केवल वार्त्तामात्र न होकर काव्यचमत्कार के उत्पादन मे समर्थ हैं, क्योकि उस सहृदय को जो इस परिभाषिक काव्यदोष से नितान्त अपरिचित है, इन शब्दो के प्रयोग के कारण उसके आह्लाद मे तनिक भी व्याघात नही पहुंचता।

(ग) काव्यप्रकाश के टीकाकारो ने इन प्रसग में यह भी सकेत किया है कि स्थायिभाव, सचारिभाव आदि के प्रचलित नामो के स्थान पर यदि उनका पर्यायवाची शब्द रख दिया जाए तो वहाँ दोष नही रहता। उदाहरणार्थ 'ठणत्कारैः श्रुतिगतैरुत्साहस्तस्य कोऽप्यभूत्' मे 'उत्साह' नामक स्थायिभाव का प्रयोग दोष का कारण है, किन्तु यदि यह पाठ कर दिया जाए तो यह दोष न रहेगा—प्रमोदस्तस्य कोऽप्यभूत्। किन्तु यह धारणा भी समुचित नही है। वस्तुत इस दोष का एक मात्र आधार है काव्य-चमत्कार की अपुष्टि। मम्मट-प्रस्तुत यह पद्य इस आधार पर भले ही सदोष हो, पर इस कारण इसे कदापि सदोष नही मानना चाहिए कि इसमें 'उत्साह' शब्द का प्रयोग हुआ है, और न यह मानना चाहिए कि 'प्रमोद' शब्द रख देने से यह दोष दूर हो जाएगा।

(घ) वस्तुत इस दोष की स्वीकृति का मूल उद्देश्य व्यङ्ग्यार्थ की महत्ता स्पष्ट करना है। अत यदि रस, स्थायिभाव आदि का प्रयोग न किया जाए तो यह आदर्श स्थिति है, किन्तु विभाव आदि की परिपक्वता मे इनका प्रयोग सदोष नही है। हा, विभावादि की अपरिपक्वता में इनका प्रयोग तो सदोष है ही।

अत. मम्मट एव रामचन्द्र-गुणचन्द्र की उक्त धारणाए आशिक रूप से ही ग्राह्य है—पूर्ण रूप से नही।



---

१. (क) सव्रीडा दयितानने ....
(ख) तामनङ्गजयमंगल ... । का० प्र० ७।३२१, ३२२

: १६ :

काव्य की आत्मा

आत्मा शब्द

आत्मा शब्द का अर्थ—'आत्मा' शब्द मूलत· काव्यशास्त्र का न होकर दर्शनशास्त्र का है। वेदान्त, न्यायदर्शन आदि में इस शब्द का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। इन शास्त्रो द्वारा प्रस्तुत आत्मा के विभिन्न स्वरूपो और लक्षणो में से एक है—चैतन्यम् आत्मा, अर्थात् चेतनता को आत्मा कहते हैं, और दूसरा है—ज्ञानाधिकरणमात्मा, अर्थात् आत्मा ज्ञान का अधिकरण अर्थात् आधार है। यहाँ 'ज्ञान' शब्द भी चेतनता का वाचक है। ज्ञान के अतिरिक्त इच्छा, द्वेष प्रयत्न, सुख और दु.ख ये सभी आत्मा का लिंग (चिह्न) माने गये है, अर्थात् इन्ही के द्वारा आत्मा की सत्ता अनुमित की जा सकती है।[1] अस्तु ! स्पष्ट है कि आत्मा का यह स्वरूप सभी प्राणियो के, विशेषत: मानव के, शरीर को लक्ष्य मे रखकर प्रस्तुत किया गया है—जो शरीर का अधिष्ठाता एव सचालक है, वही आत्मा है। विषय के सुगम अवबोध के लिए कह सकते है कि इस प्रसंग मे 'आत्मा' शब्द 'प्राण' अथवा चेतनता का पर्याय-

---

१. 'आत्मा' शब्द को यहाँ हिन्दी-प्रयोग के अनुसार जानबूझ कर स्त्रीलिंग में प्रयुक्त किया गया है।

२. (क) 'चैतन्यमात्मा'—शिवसूत्र० १।१

(ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी व्याख्या, भास्करी टीका, पृष्ठ २४५)

(ख) इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदु खज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्।

—न्यायदर्शन १।१।१०

(ग) 'प्राण एव आत्मा' इति केचित् श्रुत्यन्तविद: (वेदान्तिनः)।

(घ) चैतन्यविशिष्टं शरीरमात्मा, इति चार्वाका।

—प्रत्यभिज्ञाहृदयम् अडयार लायब्रेरी संस्करण, पृष्ठ-४१

(ङ) आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता।—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली १।४७

(च) आत्मत्वाऽभिसम्बन्धवान् आत्मा।

—तर्कभाषा (चौखम्बा) पृ० १५, पृ०१५०।

(छ) ज्ञानाधिकरणमात्मा। —तर्कसग्रह (चौखम्बा) पृष्ठ ८।

वाची है। जिसके बिना शरीर गतिहीन अतएव नितान्त निरर्थक है। लगभग इसी प्राण (अथवा चेतनता) अर्थ को लेकर काव्यशास्त्र मे भी 'आत्मा' शब्द का व्यवहार किया गया है।[1] निस्सन्देह यहाँ यह शब्द वाचक रूप मे प्रयुक्त न होकर लाक्षणिक रूप में प्रयुक्त हुआ है। यहां 'आत्मा' शब्द का लक्ष्यार्थ है—काव्य का अनिवार्य तत्त्व।

काव्यशास्त्र में 'आत्मा' शब्द का प्रयोग—काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम 'आत्मा' शब्द का प्रयोग वामन (८ वी शती) ने रीति को काव्य की आत्मा मानते हुए किया—रीतिरात्मा काव्यस्य। इनके उपरान्त इसी दृष्टि से आनन्दवर्द्धन (११वी शती) ने ध्वनि को और विश्वनाथ (१४ वी शती) ने रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए इस शब्द का प्रयोग किया —'ध्वनिरात्मा काव्यस्य', 'वाक्य रसात्मकं काव्यम्, और इन दोनो आचार्यों के मध्यवर्ती आचार्य कुन्तक (१२ वी शती) ने 'वक्रोक्ति' को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए इस शब्द के स्थान पर 'जीवित' शब्द का प्रयोग किया।[2] इस प्रसंग के अतिरिक्त 'काव्यपुरुष-रूपक' को उद्धृत करते हुए सर्वप्रथम राजशेखर (६वी शती)[3] ने और इनके उपरान्त विश्वनाथ (१४ वी शती) ने आत्मा शब्द का व्यवहार किया—

काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा गुणाः शौर्यादिवत्, दोषा काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसस्थानविशेषवत्, अलंकारा. कटककुण्डलादिवत्, इति। —सा० द० १म परि०, पृष्ठ १६

---

१. यों मैकडोनल ने 'आत्मा' शब्द की व्युत्पत्ति अन् (सांस लेना) धातु से मानते हुए इसका मूल अर्थ श्वास या प्राण माना है, तथा ऋग्वेद में आत्मा शब्द श्वास अर्थ में अनेक स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है। किन्तु आचार्य शंकर ने कठोपनिषद् के भाष्य में एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें आत्मा शब्द की व्युत्पत्ति इन चार धातुओं से मानी गयी है—आप्, आङ् पूर्वक दा, अद् तथा अस्—

यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्माद् आत्मेति कीर्त्यते॥

२. यह कथन कुन्तक के ग्रन्थनाम 'वक्रोक्तिजीवितम्' के आधार पर कहा जा रहा है। इस ग्रन्थ की किसी कारिका में वक्रोक्ति को 'जीवित' नहीं कहा गया—यद्यपि उन्हें इसे 'जीवित' अथवा 'आत्मा' मानना निस्सन्देह अभीष्ट था।

३. काव्यमीमांसा (बि० राष्ट्रभाषा परिषद्) पृष्ठ १३-१४

वस्तुतः देखा जाय तो यही रूपक ही 'काव्य की आत्मा किसे माना जाए'— इस प्रश्न का सर्वाधिक उत्तरदायी है। यह रूपक वामन के समय तक पूर्णतः स्पष्ट नही हुआ था। इनसे पूर्व दण्डी ने 'पदावली' को काव्य का शरीर वताते हुए केवल शरीर की चर्चा की थी, और वामन ने उपयुक्त रूप में केवल आत्मा की। वामन-पर्यन्त सभी आचार्य—भामह, दण्डी, उद्भट और वामन—गुण, अलकार, दोष, रस आदि से परिचित थे, तो भी 'काव्यपुरुष रूपक' का अभी निर्माण नही हुआ था। यद्यपि आनन्दवर्द्धन के समय में, और आगे चलकर कुन्तक के समय तक, इस रूपक का निर्माण नही हुआ था, पर ध्वनि—विशेषत. रसध्वनि (अर्थात् असलक्ष्यक्रमव्यग्य ध्वनि)—के आधार पर अलकार, गुण, दोष और रीति का समुचित मूल्यांकन एवं स्वरूप-निर्धारण हो चुका था। अत उनके समय तक उक्त रूपक के निर्मित न होने पर भी काव्य की आत्मा किसे माना जाए—इस प्रश्न के यथावत् उत्तर की आवश्यकता उपस्थित हो गयी थी। अस्तु! इस प्रकार यद्यपि आचार्य वामन पर्यन्त 'आत्मा' शब्द अपने परवर्ती विशिष्ट अर्थ मे पूर्णत. स्थिर नही हुआ था, तो भी यह धारणा प्रवल रूप में मान्य हो चली थी कि काव्य में कोई न कोई तत्त्व अनिवार्यत. विद्यमान रहता है—भामह, दण्डी, उद्भट और वामन के अनुसार यह तत्त्व 'अलकार' था और वामन के मत मे 'रीति'। और आगे चलकर, जैसा कि पहले लिख आये है, 'ध्वनि', 'वक्रोक्ति और 'रस' को काव्य की आत्मा माना गया। इस प्रकार 'काव्य की आत्मा' के निर्धारण करने के लिए उक्त पांचो सिद्धांतो का स्वरूप-प्रतिपादन एवं तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है।

१. अलकार-सिद्धान्त

भामह, दण्डी और उद्भट ने यद्यपि अलंकार को स्पष्ट शब्दो में काव्य की आत्मा कही भी नही कहा, तो भी इन सव की, विशेषतः दण्डी की, निम्नोक्त मान्यताओ से स्पष्ट है कि वे अलकार को काव्य का सर्वस्व एवं अनिवार्य तत्त्व स्वीकार करते थे—

१. भामह ने अलंकार को काव्य का एक आवश्यक आभूपक तत्त्व मानते हुए कहा कि अनेक आचार्यों द्वारा प्रस्तुत रूपक आदि अलकार [काव्य में इस प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार] किमी नारी का सुन्दर मुख भी आभूपणो के विना शोभित नही होता।[1]

---

१. (क) रूपकादिरलकारस्तथान्यैर्वहुधोदित.।
न कान्तमापि निर्भूपं विभाति वनितामुखम्॥ का० अलं० १।१३

२. ये आचार्य काव्य के सभी शोभाकर धर्मो को अलंकार नाम से अभिहित करने के पक्ष मे है। दण्डी के शब्दो में—काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।' (काव्यादर्श २।१) इसका तात्पर्य यह है कि अनुप्रास, उपमा आदि तो अलकार है ही, गुण, रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि भी इसी नाम से अभिहित होते है। इसी धारणा का उल्लेख यद्यपि रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले वामन ने किया—सौन्दर्यमलंकारः (अर्थात्, काव्य का सभी प्रकार का चमत्कार अलकार कहाता है), किन्तु इनके समग्र ग्रन्थ से इस धारणा की पुष्टि नही होती कि वे रीति की तुलना में अलकार को काव्य का सर्वस्व स्वीकार करते है। भामह आदि अलकारवादियो की इस धारणा की पुष्टि के लिए निम्नोक्त तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते है—

(क) इन आचार्यो ने अगीभूत रसभाव, रसाभास, भावाभास तथा भावशान्ति को परवर्ती आनन्दवर्द्धन आदि आचार्यो के असमान इन्ही नामो से अभिहित न कर इन्हे क्रमश रसवत्, प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वी और समाहित अलकार नाम दिया है,[२] और उद्भट ने अगभूत इन सभी को 'द्वितीय उदात्त अलकार' माना है।[३]

(ख) गुण को यद्यपि स्पष्टतः अलकार नहीं कहा गया, किन्तु दण्डी के एक कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि उपमा आदि अर्थालकारों की तुलना में अनुप्रास आदि अलकारो तथा माधुर्य आदि दश गुणो को उन्हे 'साधारण अलकार' कहना अभीष्ट है—

काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ता. प्रागप्यलक्रियाः।
साधारणमलकारजातमन्यत् प्रकाश्यते॥ का० द० २।३।

—यद्यपि एक स्थल पर उन्होने अलकार और गुण दोनो को एक साथ स्पष्टत अपने अपने नामो से भी अभिहित किया है। (काव्यादर्श ३।१८६)।

(ग) ध्वनि को इन तीनो आचार्यो ने यद्यपि कही भी स्पष्टत. अलंकार नाम से अभिहित नही किया. किन्तु रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतिवस्तूपमा, पर्यायोक्त (पर्यायोक्ति), अपह्नुति, दीपक, द्वितीय व्यतिरेक, अर्थान्तरन्यास, समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्त विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, संकर आदि अलकारो के

(ख) अनेन वागर्थविदामलंकृता।
विभाति नारीव विदग्धमण्डना॥ का० अल० ३।५८

२. काव्यालकार (भामह) ३।५-७; काव्यादर्श (दण्डी) २।२-५; काव्यालकारसारसग्रह (उद्भट) ४।२,३,५,७

३. काव्यालकारसारसग्रह ४।८

लक्षण अथवा उदाहरण इस तथ्य की ओर निस्सन्देह संकेत करते हैं कि ये आचार्य न केवल ध्वनि अथवा व्यञ्जना-तत्त्व से परिचित थे, अपितु वे इसका अन्तर्भाव उक्त अलकारो मे प्रकारान्तर से करना चाहते थे। निदर्शन के लिए इन तीनो आचार्यो की एक-एक कारिका लीजिए—

१. समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते।
यथैवाऽनभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतितः॥ काव्यालंकार (भामह) २।३४

२. शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयो.।
तत्र यद् भेदकथनं व्यतिरेकः स कथ्यते॥ काव्यादर्श २।१८०

३. पर्यायोक्त यदन्येन प्रकारेणाऽभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनाऽवगमात्मना॥ काव्यालकारसारसग्रह ५।६

इन लक्षणो में प्रयुक्त 'गुणसाम्यप्रतीति', 'सादृश्यप्रतीयमान' तथा 'वाच्य और वाचक वृत्तियो से शून्य अवगमात्मकता' आदि प्रयोग यह मानने को बाध्य करते हैं कि उन्हे ध्वनि-तत्त्व को भी अलकार मे अन्तर्भूत करना अभीप्ट था, और यही कारण है कि ध्वनि के प्रवर्त्तक आनन्दवर्द्धन ने अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोक के प्रारम्भ मे ही ध्वनि-विरोधियो में [भाक्त और अनिर्वचनीयतावादियो के अतिरिक्त] अभाववादियो अर्थात् ध्वनि को न मानने वाले अलंकारवादियो का भी खण्डन किया।[1] इसी प्रसग मे उपर्युक्त अलकारो मे से अधिकतर के उदाहरण प्रस्तुत कर[2] आनन्दवर्द्धन ने यह सिद्ध किया कि ध्वनि का विषय इन अलकारो के विषय से कही और आगे है। ध्वनि महाविषयीभूत है, अत. पर्यायोक्त आदि अलकारो का अन्तर्भाव ध्वनि मे ही किया जाएगा, न कि ध्वनि का अन्तर्भाव इनमें।[3]

(घ) दण्डी ने प्रबन्धकाव्य को 'भाविक' अलकार नाम दिया है। भाविक का व्युत्पत्ति-परक अर्थ है—जिस (काव्य) मे कवि का भाव अर्थात् अभिप्राय आसिद्धि (समाप्ति-पर्यन्त) रहे। इसी प्रसंग में दण्डी ने महाकाव्यगत वस्तुपर्वो (आधिकारिक और प्रासगिक कथावस्तु) की पारस्परिक उपकारिता का, तथा स्थानवर्णना अर्थात् प्रकृतोपयोगी विषयो के वर्णन का भी उल्लेख किया है।[4]

(ङ) काव्यशास्त्र से सम्बद्ध उपर्युक्त विषयो के अतिरिक्त दण्डी ने नाट्यशास्त्र से सम्बद्ध विषयो को भी 'अलकार' नाम दिया है। सन्धि, सन्ध्यङ्ग,

---

१. तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयम्॥ ध्वन्या० १।१

२. हिन्दी ध्वन्यालोक १।१३ वृत्ति (पृष्ठ ५४-७५)

३. विशेष विवरण के लिए देखिए. भारतीय काव्यांग, पृष्ठ ५६-५६

४. काव्यादर्श २।३६४-३६५।

वृत्ति, वृत्त्यङ्ग, लक्षण[1] आदि को वे अलंकार के अन्तर्गत समाविष्ट करने के पक्ष में हैं—

यच्च सन्ध्यङ्ग वृत्त्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे ।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव नः ।। का० द० २ । ३६७

काव्यादर्श के प्रख्यात टीकाकार रंगाचार्य रेड्डी के कथनानुसार इनमें से किन्हीं का अन्तर्भाव दण्डी द्वारा स्वीकृत स्वभावाख्यान (स्वभावोक्ति), उपमा आदि अलंकारो मे किया जा सकता है, और किन्ही का भाविक अलकार में—
तत्र केषांचित् स्वभावाख्यानादौ अन्तर्भाव., केषांचित् भाविके इति यथायथं विषयानुरोधेन ज्ञातव्यम् । (का० द० २।३६७ टीकाभाग)

रंगाचार्य महोदय के वक्तव्य को और अधिक स्पष्ट करना चाहे तो कह सकते हैं कि ३६ लक्षणो का अन्तर्भाव उपमादि अलकारो मे किया जा सकता है, और सन्धियो, सन्ध्यङ्गो, वृत्तियो और वृत्त्यङ्गो का भाविक मे, क्योंकि ये सभी 'वस्तुपर्व' ही तो है ।

इस प्रकार गुण, रस, ध्वनि, प्रबन्धकाव्य तथा नाट्यविषयों को ये अलकारवादी आचार्य, विशेषत दण्डी, 'अलंकार' नाम से अभिहित करते है । अतः इनके मत में केवल अनुप्रास, उपमा आदि ही अलकार नही है, अपितु काव्य के वे सभी तत्व अथवा अग 'अलकार' कहाते है जो काव्य के चमत्कारोत्पादक अथवा सौन्दर्यविधायक है ।

निष्कर्षतः अलकारवादियो को अलंकार का व्यापक अर्थ अभीष्ट है : दण्डी के शब्दो मे—काव्यशोभाकर धर्म, और वामन के शब्दो मे —[सभी प्रकार का काव्यगत] 'सौन्दर्य' ।

●

इस सम्बन्ध में दो प्रश्न विचारणीय हैं—

पहला प्रश्न यह कि भामह, दण्डी और उद्भट के अतिरिक्त क्या अन्य

---

१. (क) सन्धि—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, सावमर्श और संहृति—५
(ख) सन्ध्यङ्ग—उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोभन आदि—६४
(ग) वृत्ति—कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी और भारती—४
(घ) वृत्त्यङ्ग—नर्मतत्, स्फूर्जतत्, स्फोटतत् और गर्भ इन चारों अगों से युक्त उक्त चारों वृत्तियां । इस प्रकार कुल वृत्त्यङ्ग—१६
(ङ) लक्षण—भूषण, अक्षर-संघात आदि ३६ ।
(देखिए ना० शा० १७।१।४१, सा०द० ६।१७१-१९४)

आचार्य भी अलंकारवादी है। इस सम्बन्ध में हमारा विचार है कि किसी भी रूप में नही, यहां तक कि—

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलकृती।

असौ न मन्यते कस्माद् अनुष्णम् अनलंकृती॥ चन्द्रालोक १।१२

—कहने वाले जयदेव भी नही। प्रथम कारण यह कि अलंकारवादियो द्वारा प्रतिपादित उक्त धारणाए जयदेव ने कही भी प्रस्तुत नही की—उन्होने तो ध्वनि और उसके अन्तर्गत रस का निरूपण स्वतंत्र रूप से किया है, इन्हे 'अलंकार' नाम देकर नही। दूसरा कारण यह कि मम्मट के काव्यलक्षण 'तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' का वास्तविक तात्पर्य जयदेव ने नही समझा। 'अनलकृती'[1] से मम्मट का तात्पर्य 'अलकार का अभाव' नही है, अपितु 'अलंकार का स्फुट रूप में न होना' है—क्वचितु स्फुटालकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः। का०प्र० १।४ वृत्ति। किन्तु जयदेव ने अनलंकृती से 'अलकार का अभाव' अर्थ समझ कर मम्मट पर व्यर्थ का छीटा छोड़ा है, और यमक के लोभ में पड़ कर उक्त श्लोक का निर्माण कर दिया है। अन्यथा जयदेव के समान मम्मट भी जानते थे कि सौ, सवा सौ अलकारो के लगभग तीन सौ भेदोपभेदो मे से कोई न कोई रूप तो प्रत्येक कवित्वपूर्ण पद्य में प्रायः मिल ही जाता है—हाँ, कही वह अस्फुट रूप मे भी उपलब्ध होगा, पर इस बारीकी को जयदेव ने नही समझा। अस्तु! इधर हिन्दी के आचार्यो में केशवदास को भी अलंकारवादी कहना समुचित नही है, वे दण्डी के ग्रन्थ काव्यादर्श के केवल हिन्दी मे रूपान्तरकार मात्र है, और बस।[2]

दूसरा प्रश्न यह कि भामह, दण्डी और उद्भट—इन अलकारवादी आचार्यो को क्या अलंकार और अलंकार्य का भेद ज्ञात न था?[3] हमारे विचार मे इतना बड़ा 'लाञ्छन' इन पर नही लगाया जा सकता। इस सम्बन्ध में निम्नोक्त दो विकल्प प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(क) यदि 'अलकार्य' शब्द से तात्पर्य काव्य की विषयवस्तु है—जैसा कि कुन्तक ने स्वभावोक्ति' को अलकार न मानने के प्रसग में संकेत किया है।[4]—तो निस्सन्देह वे इससे सुपरिचित थे। लौकिक विषयवस्तु को वह

१. सगुणौ + अनलकृती = सगुणावनलकृती।

२. देखिए· 'क्या केशवदास अलंकारवादी आचार्य थे?' नामक निबन्ध।

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास · रीतिकाल (रामचन्द्र शुक्ल) पृष्ठ २३३

४. अलकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृति।
अलंकार्यतया तेषां किमन्यद् अवतिष्ठते॥ व० जी० १।११

तभी काव्य की विषयवस्तु समझते थे जब वह 'वक्रोक्ति' (अतिशयोक्ति) द्वारा सम्बन्धित हो जाए, अन्यथा नही।[1] यह धारणा निस्सन्देह इस तथ्य की परिचायक है कि वे आचार्य 'अलकार्य' के इस तात्पर्य से अवगत थे—यद्यपि इस शब्द का प्रयोग उन्हो ने नही किया।

(ख) यदि 'अलकार्य' शब्द से रस अथवा ध्वनि अभिप्रेत है तो निस्सन्देह वे इस तात्पर्य से अवगत नही थे—और वह इसलिए कि अभी 'अलंकार्य' का यह अर्थ निश्चित ही नही हुआ था, क्योकि इस शब्द के प्रयोग की आवश्यकता ही परवर्ती ध्वनि-रसवादी आचार्यों को पड़ी, जिन्होने अलकार का स्वरूप ही रस पर आधारित किया—अलकार द्वारा जो उपकृत (अलकृत) हो उसे 'अलकार्य' (अर्थात् 'रस') कहा गया, किन्तु यह इसका लक्ष्यार्थ है, इसका वाच्यार्थ 'तो विषयवस्तु ही है, जिससे तीनो अलकारवादी आचार्य भलीभाँति परिचित थे। अस्तु।

०

निष्कर्षतः अलंकारवादियो के मत में—

(क) अलंकार व्यापक अर्थ का द्योतक है, सकुचित अर्थ का नही। अर्थात् 'अलंकार' काव्यचमत्कारोत्पादक सभी प्रकार के साधनों का वाचक है, केवल अनुप्रास, उपमा आदि का नही।

(ख) इस दृष्टि से रस, ध्वनि, गुण, प्रबन्धकाव्य, दृश्यविधान के अग—ये सभी 'अलकार' नाम से अभिहित होते है।

(ग) और इसी कारण वह काव्य का अनिवार्य साधन है—चाहें तो परवर्ती शब्दावली में कह सकते है कि अलंकारवादी आचार्यो को यह स्वीकृत था कि 'अलंकार काव्य की आत्मा है', यद्यपि उन्होने इस शब्द का कहीं प्रत्यक्षतः प्रयोग नही किया।

२. रीति-सिद्धान्त

रीति-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक आचार्य वामन हैं, और वही इसके एक मात्र आचार्य है, क्योकि आगे इस सिद्धान्त का अनुगमन नही हुआ। उनके

---

१. सर्वैवाऽतिशयोक्तिस्तु। तर्कयेत् तां यथागमम्॥
सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते॥
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः को ऽलंकारोऽनया विना॥
—काव्यालंकार (भामह) २।८४,८५।

कथनानुसार 'विशिष्ट पदरचना' को रीति कहते है। उसमें यह विशेषता गुणो के कारण आती है : विशेषो गुणात्मा'।[1] इसी सूत्र के आधार पर रीति और गुण में अभेद स्वीकार किया जाता है। गुण दो प्रकार के है शब्दगुण और अर्थगुण। इनकी संख्या दश-दश है। यद्यपि इन दोनो प्रकार के गुणो के नाम भी एक से है—ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, अर्थ-व्यक्ति और कान्ति, तथापि प्रत्येक शब्दगत और अर्थगत गुण के स्वरूप एव लक्षण में नितान्त अन्तर है।

इन गुणो से विशिष्ट 'रीति' को वामन ने काव्य की 'आत्मा' कहा है। इसके इन्होने तीन भेद माने हैं—वैदर्भी, गौडीया और पाञ्चाली। इनमें से वैदर्भी में सभी गुण विद्यमान रहते है, गौडीया में दो गुण—ओज और कान्ति तथा पाञ्चाली में भी दो गुण—माधुर्य और सौकुमार्य। इन रीतियो में ये गुण शब्दगत रहते है, अथवा अर्थगत—इस ओर वामन ने यद्यपि कोई सकेत नही किया, किन्तु उनके विवेचन से, और विशेषत इस मौन से, प्रतीत यही होता है कि उन्हे गुणों के दोनो ही रूपो का सद्भाव इन रीतियो मे अभीष्ट है। इनमे से उन्होने वैदर्भी को सर्वश्रेष्ठ माना है। कारण स्पष्ट है कि यह रीति 'समग्रगुणा' होती है। इसी रीति की उन्होने एक अन्य कोटि स्वीकार की है—शुद्धवैदर्भी; यह तभी मानी जाती है जब किसी 'समग्रगुण-परिपूर्ण' रचना मे समास का अभाव हो—साऽपि समासाभावे शुद्धवैदर्भी। का०सू० १।२।१९

●

अब मूल प्रश्न पर आते है कि वामन 'रीति' नामक तत्त्व को किस आधार पर काव्य की आत्मा मानते है ? इस समस्या के दो आधार सम्भव है—(१) काव्य के अन्य उपादानो को अपने अभीष्ट काव्य-तत्त्व में अन्तर्भूत मानना, अथवा (२) उन उपादानो द्वारा इस तत्त्व की पुष्टि मानना। अलकारवादियो—विशेषतः दण्डी—ने स्पष्ट शब्दो में प्रथम आधार ग्रहण किया था, किन्तु वामन ने स्वयं इस ओर कोई संकेत नही किया। फिर भी यदि 'रीति' को एक स्वतन्त्र काव्यसिद्धान्त माना गया है तो इसका प्रमुख कारण यही है कि 'रीति' के अपर पर्याय 'गुण' के २० भेदो में अन्य कतिपय शास्त्रीय काव्योपादानो का किसी न किसी रूप में अन्तर्भाव किया जा सकता है। मम्मट ने इन्ही बीस गुणो का खण्डन अनेक रूपो मे किया है। उनमें से एक रूप यह

---

१. विशिष्टा पदरचना रीति.। विशेषो गुणात्मा।
का० सू० वृ० १।२।७,८।

है कि इनमें से कुछ मम्मट-सम्मत माधुर्य, ओज और प्रसाद में अन्तर्भूत होते हैं और कुछ काव्य के अन्य उपादानो में। उदाहरणार्थ —

(१) वामन-सम्मत शब्दगत श्लेष, समाधि, औदार्य और प्रसाद ये चार गुण मम्मट-सम्मत ओज में अन्तर्भूत होते है, और

(२) वामन-सम्मत शब्दगत माधुर्य और अर्थव्यक्ति गुण क्रमशः मम्मट-सम्मत माधुर्य और प्रसाद में ।

(३) वामन-सम्मत अर्थगत अर्थव्यक्ति का स्वभावोक्ति अलंकार में अन्तर्भाव हो सकता है, और

(४) अर्थगत कान्ति का रस, ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य में ।

यदि इस स्थिति को मम्मट के स्थान पर वामन के दृष्टिकोण से सोचें तो कह सकते हैं कि वामन की 'रीति' से सम्बद्ध गुणो में न केवल परवर्ती आचार्यो द्वारा स्वीकृत माधुर्य, ओज और प्रसाद सम्मिलित है, अपितु एक ओर स्वभावोक्ति अलकार, और दूसरी ओर रस के अतिरिक्त ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य भी सम्मिलित है । इनमे से गुण और रस के विषय में तो कोई सन्देह नही है, क्योकि गुण के सम्मिलित न होने का प्रश्न ही उपस्थित नही होता और रस को वामन ने स्पष्ट शब्दों में सम्मिलित किया है—दीप्तरसत्वं कान्तिः। शेष रहे तीन उपादान—ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य और स्वभावोक्ति अलकार। इनमें प्रथम दो रस के साथ सम्बद्ध होने के कारण स्वीकृत किये गये हैं, अत ये भी मान्य हैं। हाँ, स्वभावोक्ति को मान्य समझने के सम्बन्ध मे पर्याप्त खीचतान करनी पड़ेगी, क्योकि वामन-सम्मत 'अर्थव्यक्ति' और मम्मट-सम्मत 'स्वभावोक्ति' में बहुत निकट का सम्बन्ध नही है। अस्तु ! यह है प्रथम आधार जिसके बल पर वामन के दृष्टिकोण से रीति को काव्य की 'आत्मा' माना जा सकता है ।

अब दूसरे आधार 'काव्य के अन्य उपादानो द्वारा अपने काव्यतत्त्व की पुष्टि' को लीजिए। हमारे विचार में वामन के दृष्टिकोण से रीति को काव्य की आत्मा इस आधार पर नही माना जा सकता। कारण यह कि वैदर्भी रीति में सब गुणो की, और गौडीया तथा पाञ्चाली में दो-दो गुणों की, स्वीकृति का तात्पर्य यही लिया जा सकता है कि इन गुणों के सम्मिलित अथवा समवेत रूप का नाम ही ये रीतियाँ है। दूसरे शब्दो मे, बीस गुणों के इस रूप का अपर नाम 'वैदर्भी' है, और दो-दो गुणों के इस रूप का नाम गौडीया अथवा

पाञ्चाली। [यही कारण है कि आनन्दवर्द्धन ने रीति और गुण मे 'अभेद' स्वीकार किया है।] अत. ये गुण (उपादान) इन रीतियो के पोषक नही है। अस्तु !

●

इस प्रकार प्रथम आधार पर वामन के दृष्टिकोण से रीति को काव्य की आत्मा स्वीकृत कर लेने पर कतिपय प्रश्न उपस्थित होते है :

पहला प्रश्न यह कि दण्डी के 'वैदर्भ मार्ग' और वामन की 'वैदर्भी रीति' में क्या कोई अन्तर है ? इसका उत्तर है कि हां, महान् अन्तर है। दश गुण 'वैदर्भ मार्ग के प्राण है'—दण्डी की इस धारणा का तात्पर्य यह है कि जिस रचना में इनमे से किसी एक गुण की (अथवा किन्ही दो-तीन गुणो की भी) अवस्थिति हो, वहां वैदर्भ मार्ग की स्वीकृति की जाती है। किन्तु इधर वामन-सम्मत वैदर्भी रीति मे वीस गुणो का संयोग—चाहे वह समवाय रूप में हो अथवा समवेत रूप में—अनिवार्य है। वामन के 'रीति-सिद्धान्त' का यही सबसे वड़ा दोष एवं शैथिल्य है। प्रथम तो किसी पद्य में वीस गुणो का संयोग अपने आप मे एक असम्भव परिकल्पना है। यदि रीति-सिद्धान्त का पक्षपात लेकर इसे सिद्ध करने का आग्रह किया भी जाए, तो इसके लिए निस्सन्देह अवाञ्छनीय एव हास्यस्पद सी खीचतान करनी पड़ेगी।

दूसरा प्रश्न यह है कि 'अलकार' के सम्बन्ध में वामन का दृष्टिकोण क्या है ? वस्तुतः वामन पर अलकारवाद का पर्याप्त प्रभाव है। उन्हे दण्डी आदि के समान 'अलंकार' के दोनो अर्थ अभीष्ट है—व्यापक भी और सकुचित भी। पहले व्यापक अर्थ को लीजिए। वामन काव्य को 'अलकार' के कारण ग्राह्य मानते है, और अलकार से उनका अभिप्राय है काव्य का सभी प्रकार का 'सौन्दर्य'[1]—जिसमें रीतिजनित 'सौन्दर्य' भी निस्सन्देह समाविष्ट हो जाता है। इधर वामन को अलकार का सकुचित अर्थ, अनुप्रास, उपमा आदि भी, अभीष्ट है। इसके दो प्रमाण है। पहला यह कि वह इन प्रख्यात अलकारो को गुणो में अन्तर्भूत करने का कही संकेत नही करते, वह इन्हे स्वतन्त्र मानने है। दण्डी की भी यही स्थिति है। वह भी इन्हे गुणो में अन्तर्भूत नही करते। दूसरा प्रमाण यह कि वामन इन्ही अलंकारो को 'गुण' की अपेक्षा निम्न कोटि का स्वीकार करते है। इनके कथनानुसार गुण काव्य के शोभाकारक धर्म है तो अलंकार उसी उत्पन्न शोभा के वर्द्धक हेतु है। अत. काव्य में गुण की स्थिति नित्य है और

---

१. 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्', 'सौन्दर्यमलकारः। का० सू०वृ० १।१।१,२

अलंकार की अनित्य ।[1] दण्डी का दृष्टिकोण भी लगभग यही है । वह गुण को तो वैदर्भ मार्ग का प्राण मानते हैं, किन्तु अलंकारो को नही ।[2]

इस प्रकार वामन अलंकार की इन दोनो ही स्थितियों को स्वीकृत करते हुए यदि 'रीति' को काव्य की आत्मा मानते है, तो इससे वह अपनी इस मान्यता के वल को कम अवश्य कर लेते है । वस्तुतः वामन अलकारवाद से इतना अधिक प्रभावित थे कि वह न तो इस वाद का खण्डन कर सके, न अनुप्रास उपमा आदि अलंकारों को अपनी 'रीति' मे अन्तर्भूत कर सके, और न इन्हे 'रीति' के पोपक रूप में ही स्वीकृत कर सके । फिर भी, यदि इन्होने रीति को 'आत्मा' पद से गौरवान्ति किया तो केवल इसी आधार पर कि वह अलकारवादियों की अपेक्षा काव्य के वाह्य रूप को कही अधिक चमत्कृत करने के पक्ष में थे । उनके शब्दगुणो की [और अधिकतर अर्थगुणो की भी] परिभापाओं की तुलना दण्डि-प्रस्तुत गुणों की परिभाषाओं से करने पर इसी तथ्य की पुष्टि हो जाएगी । उनका यह वाह्य रूप चकाचौध मात्र न होकर स्थायी उज्ज्वलता का द्योतक है । इसका एक प्रमाण यह है कि इन्होने शब्दगुण के अतिरिक्त अर्थगुण भी माने है, और दूसरा प्रमाण यह कि उनकी दृष्टि में ये गुण केवल 'पाठ' अर्थात् शब्द-रचना के धर्ममात्र नहीं है, क्योकि सभी प्रकार की रचनाओ में वे दिखायी नही देते । ये विशिष्टता की अपेक्षा रखते है—

'न पाठधर्माः, सर्वत्राऽदृष्टे. ।' विशेपापेक्षया । का०सू०वृ० ३।१।२८

●

निष्कर्पतः वामन अलकारवादियो के सिद्धान्तों को अधिकांशतः स्वीकृत करते हुए भी यह मानते थे कि 'रीति काव्य की आत्मा' है ।. यह उनकी गुण-ग्राहकता और शिथिलता दोनों का द्योतक है । किन्तु हाँ, अलंकारवादियो की अपेक्षा काव्य के वाह्य पक्ष पर वास्तविक वल देने का तो यह द्योतक है ही ।

३. ध्वनि-सिद्धान्त

ध्वनि-सिद्धान्त के प्रवर्तक[3] आनन्दवर्द्धन ने 'ध्वनि' को स्पप्ट शब्दों में

---

१. (क) काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः ।
(ख) तदतिशयहेतवस्तु अलंकाराः ।
(ग) पूर्वे नित्याः । का० सू० वृ० ३।१।१,२,३

२. काव्यादर्श १।४२, २।३।

३. यद्यपि ध्वनि-तत्त्व किसी न किसी रूप में आनन्दवर्द्धन से पहले भी

काव्य की आत्मा के रूप मे घोषित करते हुए कहा कि उनसे पूर्व भी विद्वानों द्वारा यही मान्यता स्वीकृत की गयी थी—

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः ।[1] ध्वन्या० १।१

ध्वनि कहते हैं उस प्रतीयमान अथवा व्यंग्य अर्थ को जिसे अर्थ (वाच्यार्थ) अपने आप को और शब्द अपने अर्थ (वाच्यार्थ)को गौण बना कर अभिव्यक्त करते हैं—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्त. काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥ ध्वन्या ० १।१३

●

इनसे पूर्व 'अलंकार' को काव्य का सर्वस्व और 'रीति' को काव्य की आत्मा के रूप में घोषित किया जा चुका था। अपने मत की पुष्टि के लिए आनन्दवर्द्धन ने प्राचीन शास्त्रीय परिपाटी का अनुकरण करते हुए लक्षणा शब्दशक्ति के अतिरिक्त[2] इन दोनो तत्त्वो का भी खण्डन किया। पहले अलकार-तत्त्व को लीजिये। भामह आदि अलंकारवादियो के समर्थको की ओर से कहा जा सकता है कि 'अलंकार' नामक तत्त्व की स्वीकृति किये जाने पर 'ध्वनि' नामक तत्त्व की आवश्यकता ही नही है—'तस्याऽभावं जगदुरपरे', क्योकि भामह-प्रस्तुत प्रतिवस्तूपमा; दण्डि प्रस्तुत व्यतिरेक; भामह, दण्डी और उद्भट द्वारा प्रस्तुत पर्यायोक्ति आदि अलंकारो में ध्वनि-तत्त्व के स्पष्ट सकेत मिल जाते हैं। इसी प्रकार अलंकार-व्यग्य को भी 'ध्वनि' न मान कर 'अलकार' ही माना जा सकता है। आनन्दवर्द्धन ने इनका खण्डन प्रस्तुत करते हुए कहा है कि उक्त प्रतिवस्तूपमा आदि अलंकारो मे 'व्यग्यार्थ' की प्रतीति होने पर भी उसका प्रधान रूप से कथन नही होता, उनमे प्रधान चमत्कार तो अलकार-तत्त्व का ही

विद्यमान था, किन्तु वह अविदित-सदृश था। स्वय आचार्य का निम्नोक्त कथन अवलोकनीय है—

विमतिविपयो य' आसीन् मनीषिणां सततमविदितसतत्व' ।
ध्वनिसज्ञितः प्रकार काव्यस्य व्यंजितः सोऽयम् ॥ ध्वन्या० ३।३४

१ इसी प्रकार—

(क) योऽर्थ सहृदयश्लाघ्य' काव्यात्मेति व्यवस्थित । ध्वन्या० १।२

(ख) काव्यस्यात्मा स एवार्थः . ।

(विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपचचारुण काव्यस्य स एवाऽर्थ' सारभूत. ।)

—वही, १।५ तथा वृत्ति ।

२. ध्वन्यालोक १।१४-१६

रहता है।। अतः इन्हें 'ध्वनि' न कह कर अलंकार कहना चाहिए।[1] हाँ, व्यंग्यांश-समन्वित इन पर्यायोक्ति आदि अलंकारों का चमत्कार अन्य वाच्यालकारों—उपमा, रूपक आदि की तुलना मे कही अधिक बढ़ जाता है।[2] और, यदि कही इन अलकारो के उदाहरणो मे व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता हो भी तो उन्हे इन अलंकारों के स्थान पर 'ध्वनि' का ही उदाहरण माना जाएगा।[3] वस्तुत: ध्वनि अगी है और अलकार, गुण और वृत्तिया उसके अग है।[4] निष्कर्ष रूप मे अलकार के सम्बन्ध मे आनन्दवर्द्धन का मन्तव्य है कि अलंकार उन्हें कहते है जो शब्द और अर्थ के आश्रित रह कर कटक, कुण्डल आदि के समान (शब्दार्थ रूप शरीर के शोभाजनक) है,[5] और इनकी यह स्थिति बाह्यपरक है। अत: इनके अन्तराल में 'ध्वनि' को—जो कि मूलतः एक आन्तरिक तत्त्व है—समाविष्ट नही माना जा सकता।

'अलकार' के अतिरिक्त आनन्दवर्द्धन ने 'रीति' का भी खण्डन किया। 'रीति' को इन्होने 'संघटना' नाम देते हुए कहा कि वह गुणो पर आश्रित रह

---

१. अलकारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते।
तत्परत्वं न वाच्यस्य नाऽसौ मार्गो ध्वनेर्मतः॥
यत्र वाच्यस्य व्यङ्ग्यप्रतिपादनौन्मुख्येन चारुत्वं न प्रकाशते नासौ ध्वनेर्मार्ग.।
—ध्वन्या २।२७ तथा वृत्ति।

२. (क) शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वेन व्यवस्थितम्।
तेऽलंकाराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः॥—वही, २।२८।
(ख) वाच्यालंकारवर्गोऽयं व्यङ्ग्यांशानुगमे सति।
प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते॥ —वही, ३।३७

३. यत्र तु व्यङ्ग्यपरत्वेनैव वाच्यस्य व्यवस्थान तत्र व्यग्यमुखेनैव व्यपदेशो युक्त.। —वही, पृ० १९३

४. काव्यविशेषोऽङ्गी ध्वनिरिति कथित। तस्य पुनरङ्गानि अलकारा. गुणाः वृत्तयश्च। —हिन्दी ध्वन्या० पृष्ठ ७४।
विशेष विवरण के लिए देखिए—
(क) ध्वन्यालोक १।१३, २।२७ वृत्तिभाग,
(ख) भारतीय काव्यांग, पृष्ठ ५७-५९

५. अङ्गाश्रितास्त्वलकारा: मन्तव्या. कटकादिवत्।
(वाच्यवाचकलक्षणानि अङ्गानि) —ध्वन्या० २।६

कर रसो की अभिव्यक्ति करती है—

गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा ।

रसान् ··· ·· ························ ··········· ·· ॥ ध्वन्या० ३।६

इसका तात्पर्य यह कि आनन्दवर्द्धन की दृष्टि में रीति की सिद्धि इसी में है कि वह रस की अभिव्यक्ति में सहयोग दे और यह भी साक्षात् रूप से नही, एक पग और पीछे—गुणो के आश्रित रह कर, तथा यह भी उस 'रस' की अभिव्यक्ति में जो स्वय ध्वनि पर आश्रित है, उसका एक प्रभेद मात्र है ।[1] आनन्दवर्द्धन रीति को केवल घटना (रचना-प्रकार) मात्र मानते है । स्वयं वामन भी मूलतः इसे एक वाह्य तत्त्व स्वीकार करते है, क्योकि आनन्दवर्द्धन ने यदि समास के सद्भाव और असद्भाव को रीति के स्वरूप-निर्देश में स्थान दिया तो यही दिशा वामन ने भी अपनायी थी । स्पष्ट है कि समास-निर्देश बाह्य तत्त्व का ही सूचक है । आनन्दवर्द्धन के इसी दृष्टिकोण का परिपालन उनके अनुयायी परवर्ती आचार्यो द्वारा भी किया गया, परिणामतः विश्वनाथ के शब्दो में रीति अपने 'आत्मपद' से च्युत होकर 'अगसस्थान' मात्र वन कर रह गयी ।[2] निष्कर्षत·, आनन्दवर्द्धन ने 'रीति' को केवल मात्र एक वाह्य तत्त्व स्वीकार करते हुए इसे 'आत्मा' मानने वाले वामन का खण्डन किया है, और उनके सम्बन्ध में स्पष्टत कहा है कि वह अस्फुट रूप से प्रतीत होने वाले अर्थात् ध्वनि जैसे आन्तरिक काव्य-तत्त्व की व्याख्या करने मे नितान्त असमर्थ थे—

अस्फुटस्फुरित काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम् ।

अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिता ॥ ध्वन्या० ३।४७

●

इस प्रकार आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि-तत्त्व से पूर्ववर्ती उक्त दोनो तत्त्वों का खण्डन उनके प्रति अपनी मान्यताओ के आधार पर किया—'अलकार' को आभूषक मात्र मानते हुए, तथा 'रीति' को एक सघटना (रचना-प्रकार) मात्र । किन्तु इससे इनके प्रवर्तक आचार्यो के प्रति निस्सन्देह यथोचित न्याय नही हुआ । वस्तुतः इनका खण्डन उन्ही के समान इन दोनो तत्त्वो का व्यापक अर्थ लेकर ही

---

१. 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि' नामक ध्वनि-भेद का दूसरा नाम 'रस' है ।

२ पदसघटना रीतिरंगसंस्थाविशेषवत् ।

उपकर्त्री रसादीनाम् × × ॥ सा०द० ६।१

करना चाहिए था, न कि केवल अपनी मान्यतानुसार उनका सीमित अर्थ लेकर। आनन्दवर्द्धन के इस शैथिल्य का, अथवा यों कहिए एक प्रकार की न्यूनता का, आनन्दवर्द्धन की ही ओर से उत्तर भी दिया जा सकता है कि यदि वे पूर्ववर्ती आचार्यों के अलंकार एवं रीति-विषयक व्यापक दृष्टिकोण को ही अपनाते तो भी परिणाम वही निकलता कि ये दोनों तत्त्व मूलतः बाह्यपरक हैं, और इनके इसी बाह्य स्वरूप का ही इन्होंने अपनी मान्यताओं में स्पष्टतः उल्लेख किया है। इधर इसके विपरीत ये स्वसम्मत 'ध्वनि' को नितान्त आन्तरिक काव्यतत्त्व स्वीकार करते हुए काव्य की आत्मा घोषित करते हैं, और वस्तुतः इसे इस महनीय पद पर आसीन करने के लिए केवल यही एक प्रबल तर्क पर्याप्त है। अनेक स्थलों पर इन्होंने इस तथ्य को उद्घोषित किया है—

(क) प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥
ध्वन्या० १।४

(ख) मुख्या महाकविगिरामलंकृतिभृतामपि।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम्॥[1] ध्वन्या० ३।३८

निस्सन्देह यही प्रतीयमानार्थ (व्यंग्यार्थ, ध्वनि) ही अलंकार और रीति जैसे बाह्यपरक उपादानों की तुलना में 'आत्मा' जैसे आन्तरिक तत्त्व से सम्मानित किये जाने का कहीं अधिक अधिकारी है। अस्तु!



इसके अतिरिक्त आनन्दवर्द्धन ने काव्य के विविध चमत्कार को ध्वनि पर आधारित मानते हुए अपनी उक्त मान्यता की परिपुष्टि की है। ध्वनि के तारतम्य के अनुरूप इन्होंने काव्य के तीन रूप स्वीकृत किये हैं—ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य और चित्र। ध्वनि के प्रमुख भेद पांच हैं और गुणीभूतव्यंग्य के आठ। फिर इनके अनेक उपभेद हैं, जो पदांश, पद, वाक्य से लेकर प्रबन्धगतता

---

१. (क) जिस प्रकार नारियों का लावण्य उनके [मुख, नेत्र, केश आदि] अवयवों से विभिन्न होता है, उसी प्रकार महाकवियों की वाणियों में प्रतीयमान अर्थ कुछ और ही होता है।

(ख) जिस प्रकार [कटक, कुण्डल आदि] आभूषणों से सजी होने पर भी नारियों का मुख्य भूषण लज्जा है, उसी प्रकार (अनुप्रास, उपमा आदि) अलंकारों से युक्त भी महाकवियों की वाणी का मुख्य भूषण व्यंग्यार्थ का संस्पर्श ही है।

तक फैले हुए हैं। इस तरह इन दोनो काव्यतत्त्वों के भेदोपभेदों में प्रत्येक प्रकार का काव्यसौन्दर्य अन्तर्भूत किया जा सकता है। स्वयं आनन्दवर्द्धन के शब्दो में, इनके सम्पर्क से वाणी अभिनवता और समृद्धि को प्राप्त कर लेती है।[1] ध्वनि का एक भेद 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' है जो रस, रसाभास, भावाभास आदि का पर्याय है।[2] गुणीभूतव्यंग्य के एक भेद 'अपरस्यांग' से अभिप्राय है रसवद् आदि अलंकारो का चमत्कार।[3] इधर 'चित्रकाव्य' के अन्तर्गत माधुर्य आदि गुणो और उससे सम्बद्ध रीतियो के अतिरिक्त सभी अलंकारो का चमत्कार सन्निहित है।[4] इसका तात्पर्य यह कि गुण और अलंकार भी आनन्द-वर्द्धन के अनुसार व्यंग्य-रहित नही होते, उनमें भी व्यग्य की सत्ता रहती है, किन्तु अस्फुट रूप से।[5] निष्कर्षत., आनन्दवर्द्धन के अनुसार सभी प्रकार के काव्य-सौन्दर्य में ध्वनितत्त्व—प्रमुख, गौण अथवा अस्फुट रूपो मे से—किसी न किसी रूप में अनिवार्यत विद्यमान रहता है। इसीलिए भी ध्वनि को 'काव्य की आत्मा' माना गया है।

इस सम्बन्ध में एक तीसरा कारण और भी उल्लेखनीय है। आनन्द-वर्द्धन और उनके अनुकरण में मम्मट तथा विश्वनाथ ने अलकार, गुण, रीति और यहां तक कि दोष का भी स्वरूप ध्वनि के सर्वोत्कृष्ट भेद 'रस' पर निर्धारित किया है।[6]

---

१. ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च समाश्रयात्।
न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभागुण ॥ ध्वन्या० ४।६

२. ध्वन्या० २।३

३. वही, २।५, का०प्र०५ म उ०, पद्य स० ११६-१२५

४. चित्रमिति गुणालंकारयुक्तम्। का० प्र०, १।१५

५. अव्यंग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम्। का०प्र० १।४

६. (क) ध्वन्या० २।६, का०प्र० ८।६७, सा०द० १०।१
(ख) ध्वन्या० २।६, का० प्र० ८।६६, सा०द० ८।१
(ग) का०प्र० ६।१०५ वृत्ति, (घ) का०प्र० ७।४६, सा० द० ७।१

उदाहरणार्थ—

(क) शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥ सा० द० १०।१

(ख) रसस्याऽङ्गित्वमाप्तस्य धर्मा शौर्यादयो यथा।
गुणाः × × × × × ॥ सा०द० ८।१

इस प्रकार इन उपर्युक्त तीनों कारणो के आधार पर आनन्दवर्द्धन ने 'ध्वनि काव्य की आत्मा है' यह घोषित करते हुए अन्य काव्यागों की सत्ता स्वीकार की, तथा इन्हे ध्वनि से सम्बद्ध करते हुए इनकी वास्तविक स्थिति का स्पष्टीकरण किया।

४. वक्रोक्ति-सिद्धान्त

'काव्य की आत्मा' के प्रसग में अग्रिम उल्लेखनीय काव्य-तत्त्व है—वक्रोक्ति, जिसे कुन्तक ने काव्य का जीवित (आत्मा) स्वीकार करते हुए अपने ग्रन्थ को इसी मान्यता के आधार पर 'वक्रोक्तिजीवितम्' नाम से अभिहित किया, तथा 'विचित्र' नामक मार्ग के प्रसग में 'वक्रोक्ति' के वैचित्र्य को 'जीवित' शब्द से सकेतित किया।[1] 'वक्रोक्ति' कहते है—वैदग्ध्य-भङ्गी-भणिति'[2] अर्थात् कविकर्मकौशल से उत्पन्न वैचित्र्य-पूर्ण कथन को। दूसरे शब्दो में, जो काव्यतत्त्व किसी कथन मे लोकोत्तर चमत्कार उत्पन्न कर दे, उसका नाम वक्रोक्ति है।[3] इसका तात्पर्य यह है कि लोक-वार्ता से, यों कहिये लौकिक सामान्य वचन से, विशिष्ट कथन 'वक्रोक्ति' के अन्तर्गत आ सकता है।

कुन्तक से पूर्व 'अलकार' को काव्य का सर्वस्व और 'रीति' तथा ध्वनि' को काव्य की आत्मा स्वीकृत किया चुका था, तथा भरत और आनन्दवर्द्धन द्वारा रस का स्वरूप अधिकाशत. व्यवस्थित हो चुका था। कुन्तक स्वय इन चारो काव्य-तत्त्वो से पूर्णतया परिचित थे। इनमे से वामन-सम्मत रीति को निस्सार वस्तु समझ कर इन्होने इस पर विशिष्ट प्रकाश डालना समुचित नही समझा।[4] शेष तीन काव्य-तत्त्वो को उन्होने अपनी मान्यता के अनुसार वक्रोक्ति

(ग) पदसंघटना रीतिरंगसंस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनाम् × × ×। सा० द० ९।१

(घ) रसापकर्षका दोषा × × ×॥ सा० द० ७।१

१. विचित्रो यत्र वक्रोक्तिवैचित्र्यं जीवितायते।
परिस्फुरन्ति यस्यान्त. सा काप्यतिशयाऽभिधा॥ १।४२

२. वक्रोक्तिरेव यत्र वैदग्ध्यभङ्गी भणितिरुच्यते। १।१०

३. लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये। १।५

४. तदलमनेन निस्सारवस्तुपरिमलव्यसनेन।
—हि०व० जी० (पृ० १०१) १।२४ वृत्ति

से सम्बद्ध अथवा इसी में अन्तर्भूत स्वीकृत करते हुए भी कही इनका खण्डन नही किया । अलकार के प्रति उनका दृष्टिकोण यद्यपि भामह, दण्डी और उद्भट जैसे अलंकारवादियो के समान न होकर अधिकांशत. आनन्दवर्द्धन के समान ही है[1], किन्तु वे उनके द्वारा प्रतिपादित अलकार के 'व्यापक' अर्थ को भुला नही सके : 'काव्यता [तो] सालंकार [वचन] की होती है, यह एक तत्त्व है'—तत्त्व, सालकारस्य काव्यता (१।६), और इसी धारणा के वशीभूत होकर ही मानो वे वक्रोक्ति को एक 'अपूर्व अलंकार' की संज्ञा दे रहे हैं : काव्यस्याऽयमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते (१।२) । ठीक इसी प्रकार इसी प्रसग के आसपास ही उन्होने वक्रोक्ति को 'विचित्रा अभिधा' भी कहा है—विचित्रैव अभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते (१।१० वृत्ति) । 'विचित्रा' अभिधा से उनका तात्पर्य ध्वनि से ही है ।[2] इस प्रकार एक ओर वक्रोक्ति को 'अलकार' कहना, और दूसरी ओर प्रकारान्तर से 'ध्वनि' कहना, कुन्तक की इन दोनो सिद्धान्तो के प्रति, विशेषत. ध्वनि-सिद्धान्त के प्रति, मान्यता एव समादर-भावना का सूचक है ।[3]

---

१. तुलनार्थ : 'विचित्र' नामक काव्यमार्ग के स्वरूपनिर्देश के प्रसंग में कुन्तक की निम्नोक्त दो कारिकाए—

(क) रत्नरश्मिच्छटोत्सेकभासुरैर्भूषणैर्यथा ।
कान्ताशरीरमाच्छाद्य भूषायै परिकल्प्यते ॥
(ख) यत्र तद्वदलंकारैर्भ्राजमानैर्निजात्मना ।
स्वशोभातिशयान्त स्थमलङ्कार्य प्रकाश्यते ॥ व०जी० १।३६,३७

२. क्योंकि 'वाचक' शब्द से उनका अभिप्राय केवल द्योतक शब्द नहीं है, अपितु उपचार द्वारा व्यञ्जक शब्द भी है । इसी प्रकार वाच्यार्थ से उनका अभिप्राय द्योत्य अर्थ के अतिरिक्त व्यंग्य अर्थ से भी है—

ननु च द्योतकव्यञ्जकावपि शब्दौ सम्भवतः । तदसंग्रहान्नाऽव्याप्ति । यस्मादर्थप्रतीतिकारित्वसामान्याद् उपचारात् तावपि वाचकावेव । एव द्योत्यव्यङ्ग्ययोरर्थयोः प्रत्येयत्वसामान्याद् उपचाराद् वाच्यत्वमेव । व०जी० १।८ वृत्ति

३. अपने ग्रन्थ में उन्होंने अनेक स्थलों पर ध्वनि का स्पष्ट निर्देश किया है । उदाहरणार्थ—

प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते ।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यामतिरिक्तस्य कस्यचित् ॥ व० जी० १।४०

उन्होंने उत्प्रेक्षा, रूपक, व्यतिरेक आदि अलंकारों के प्रतीयमान नामक भेद स्वीकार किये हैं । इसी प्रकार पर्यायोक्त अलंकार के लक्षण और उदाहरण में

शेष रहा चौथा काव्य-तत्त्व—रस, इसे तो उन्होने मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हुए अपने ग्रन्थ मे यत्र-तत्र अनुस्यूत किया है ।[1]

७

इस प्रकार 'रीति' को छोड़ कर शेष तीनो काव्य-तत्त्वो—अलंकार, ध्वनि और रस के प्रति उन्होने यद्यपि उदार दृष्टिकोण रखा है, किन्तु है वह मूलतः 'वक्रोक्तिवादी' ही, और इस मान्यता का एक मात्र कारण पूर्व निर्दिष्ट ही है कि वे लौकिक (एव शास्त्रीय) वार्ता से उच्च भावभूमि पर अवस्थित प्रत्येक उक्ति को 'वक्रोक्ति' नाम से अभिहित करते है, और इसी के ही फल-स्वरूप इन्होने इसके अनेक भेदोपभेद करते हुए प्रकारान्तर से सभी काव्य-तत्त्वों को इसी में अन्तर्भूत किया है, जिनका दिग्दर्शन इस प्रकार है—

उन्होने वक्रोक्ति के पहले ६ प्रमुख भेद गिनाये है—(१) वर्णविन्यास-वक्रता, (२) पदपूर्वार्द्ध-वक्रता (मूल शब्द की वक्रता), (३) पदपरार्ध-वक्रता (प्रत्यय आदि की वक्रता), (४) वाक्य-वक्रता, (५) प्रकरण-वक्रता और (६) प्रबन्ध-वक्रता । (व० जी० १।१८-२१) । इनमें से दूसरे, तीसरे, पाचवे और छठे भेदो के क्रमश. ८, ६, ८, ६, भेद हैं । इस प्रकार वक्रोक्ति कुल मिलाकर २८+२=३० प्रकार की हुई । ये सभी सौन्दर्य-प्रकार, यो कहिये वक्रोक्तिया, अकेले-अकेले रूप में भी काव्य-चमत्कार उत्पन्न करती है, तथा एक से अधिक रूप मे मिल कर भी । दूसरी स्थिति मे काव्य की शोभा कही अधिक वढ जाती है—

परस्परस्य शोभायै बहव पतिताः क्वचित् ।
प्रकारा जनयन्त्येतां चित्रच्छाया मनोहरम् ।। व० जी० २।३४

कुन्तक के मत मे इन्ही भेदोपभेदो के अन्तर्गत काव्य का सभी प्रकार का सौन्दर्य —चाहे वह वाह्य हो अथवा आन्तरिक—समाविष्ट हो जाता है । कतिपय उदाहरण लीजिए—

(क) अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारो का चमत्कार वर्णविन्यास-वक्रता है ।

उन्होंने अलंकारवादी आचार्यों के समान इसी में ही व्यंग्यार्थ के समावेश की सूचना प्रकारान्तर से दी है (व०जी० ३।२४ तथा वृत्ति) । इसके अतिरिक्त परिवृत्ति अलंकार को तो उन्होंने अलंकार न मानकर अलंकार्य ही माना है । (भारतीय साहित्यशास्त्र, भाग २, पृ० ३२४)

१ देखिये व० ज० २।३३,३५; ३।८,४६; ४।८,१०,१६,१७,२०,२१।

(ख) उपमा, रूपक आदि अर्थालंकारो का चमत्कार वाक्य-वक्रता है।

(ग) परिकर और इसके सदृश अलंकारो का चमत्कार पर्याय-वक्रता [नामक पदपूर्वार्द्ध-वक्रता] है।

(घ) पदगत ध्वनि का शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूपव्यंग्य नामक भेद पर्याय-वक्रता के अन्तर्गत आ जाता है।

(ङ) लक्षणामूला ध्वनि के दोनो भेदों—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि को रूढिवैचित्र्यवक्रता [नामक पदपूर्वार्द्धवक्रता] के अन्तर्गत माना जा सकता है।

(च) ध्वनि के प्रत्यय, काल, कारक, वचन, उपसर्ग और निपातगत उपभेद पद परार्धगत और पदगत वक्रता मे अन्तर्भूत हो जाते है।

(छ) वाक्यगत ध्वनि वाक्य-वक्रता के समीप है, और

(ज) प्रबन्धगत ध्वनि प्रबन्ध-वक्रता के।

(झ) रुय्यक के कथनानुसार ध्वनि का अधिकतर प्रपञ्च उपचार-वक्रत [नामक पद-पूर्वार्द्ध वक्रता] के अन्तर्गत आ जाता है उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृत। (अलंकारसर्वस्व, पृष्ठ१०)

●

इस प्रकार कुन्तक की वक्रोक्ति अधिकतर काव्यागो और काव्य-तत्त्वो को अपने विशाल अन्तराल मे समाविष्ट किये है, और इसका आधार है उक्ति की वक्रता अर्थात् विच्छित्ति। किन्तु इनके विवेचन से यह स्पष्ट नही होता कि 'वक्रोक्ति' केवल बाह्य तत्त्व है अथवा केवल आन्तरिक तत्त्व। कही वे इसे [वामन के समान] बाह्य तत्त्व के रूप में स्वीकार करते प्रतीत होते है—न केवल स्थूल प्रसंगो मे अपितु सूक्ष्म प्रसंगो में भी, और कही आनन्दवर्द्धन के समान आन्तरिक रूप मे, अन्तर केवल नाम का ही है—आनन्द जिसे 'ध्वनि' कहते है कुन्तक उसे 'वक्रोक्ति' कह देते है। इस प्रकार हमारे सम्मुख वक्रोक्ति के ये दोनों रूप उपस्थित होते है—बाह्य और आन्तरिक। बाह्य के भी दो रूप हैं (क) स्थूल प्रसगो को बाह्य मानना, और (ख) सूक्ष्म प्रसंगो को बाह्य मानना।

(क) बाह्य रूप

जहा तक स्थूल प्रसंगो को बाह्यरूपात्मिका वक्रोक्ति नाम देने का प्रश्न है, वह निस्सन्देह स्वीकार्य है—शब्दालंकारो को 'वर्णविन्यास-वक्रता' के अन्तर्गत और अर्थालकारो को 'वाक्यवक्रता' के अन्तर्गत निरूपित करना कुन्तक की

दृष्टि से नितान्त संगत है, किन्तु सूक्ष्म प्रसंगो को वाह्यरूपात्मिका वक्रक्ति नाम देना अत्यन्त असगत और कभी-कभी तो हास्यास्पद सा प्रतीत होता है। उदाहरण लीजिए—

कामं सन्तु दृढ कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्व सहे।

—ध्वन्या० पृष्ठ ९९, व० जी० पृष्ठ १९७

इस पद में 'राम' शब्द का गृहीत अर्थ आनन्दवर्द्धन और कुन्तक दोनो को एक ही अभीष्ट है—सकलदु:ख-सहिष्णु। आनन्दवर्द्धन ने इसे अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्य-ध्वनि का उदाहरण माना है, किन्तु कुन्तक ने पदपूर्वार्द्ध-वक्रता का, क्योकि 'राम.' पद के पूर्वार्द्ध अर्थात् प्रातिपदिक 'राम' के ही कारण काव्य-चमत्कार है, इसके प्रत्यय (सु=:) के कारण नही। इसी प्रकार निम्नोक्त पद्य—

तदा जायन्ते गुणाः यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि॥

—ध्वन्या० २।१ वृत्ति, व० जी० २।९ (वृत्ति)

(अर्थात्, जब सहृदयो द्वारा गुणग्रहण किये जाते है तभी वे गुण होते है। जैसे सूर्य की किरणो से अनुगृहीत होने पर ही कमल 'कमल' होते है।)—में दूसरे 'कमलानि' पद का गृहीत अर्थ है—सौन्दर्यादि विशेष गुणो से युक्त, और यही अर्थ आनन्द और कुन्तक दोनो को अभीष्ट है। आनन्द यहाँ अर्थान्तरसक्रमित-वाच्य-ध्वनि मानते है, और कुन्तक पदपूर्वार्द्ध-वक्रता।

अब एक अन्य प्रकार का उदाहरण प्रस्तुत है—

समविषमनिर्विशेषाः समन्ततो मन्दमन्दसञ्चाराः।
अचिराद् भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामपि दुर्लङ्घ्याः॥

—ध्वन्या० ३।१६ (वृत्ति), व० जी० २।९५ (पद्य)

(वर्षाकाल के कारण मार्ग तुरन्त अगम्य 'हो जायेंगे'—बेचारे विरही जन भविष्य की कल्पना करते हुए अभी से व्यथित हो उठे हैं।) आनन्द कहते हैं यहां काल-व्यञ्जक असंलक्ष्यक्रम-व्यग्य [विप्रलम्भ शृगार] है, किन्तु कुन्तक कहते हैं यहां 'भविष्यन्ति' के 'स्य' प्रत्यय के कारण वक्रोक्ति (काव्य-चमत्कार) है, अत. यहां प्रत्यय-वक्रता है।

इन और इस प्रकार के अन्य उदाहरणो और उनके समन्वय से प्रतीत होता है कि कुन्तक की वक्रोक्ति वाह्यात्मिका है, और इसी आधार पर उन्होने 'रूपक-व्यङ्ग्य', 'उत्प्रेक्षा-व्यङ्ग्य' और 'व्यतिरेक-व्यङ्ग्य' के उदाहरणो को भी क्रमश. रूपक, उत्प्रेक्षा और व्यतिरेक नामक [वाच्य] अलकारो के

उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत करके विषय को अव्यवस्थित सा कर दिया है—

'हे चञ्चल और दीर्घ नेत्रवाली प्रिये ! तुम्हारे कान्ति-समुज्ज्वल मुख के मन्द-मुस्कान से युक्त होने पर भी इस समुद्र मे तनिक भी चञ्चलता दिखायी नही देती, प्रतीत होता है कि यह निरा जलसमूह मात्र ही है।'[1] इस पद्यार्थ से अभिप्रेत यह है कि 'मुख चन्द्रमा है', आनन्दवर्द्धन को यहा रूपक अलकार-व्यङ्ग्य[2] रूप में मानना अभीष्ट है, किन्तु कुन्तक उन्ही के प्रभावस्वरूप इसे 'प्रतीयमान रूपक' का उदाहरण मानते हुए भी रूपक के अन्य वाच्यगत उदाहरणों के समान 'वाक्यवक्रता' का ही चमत्कार स्वीकार करते है। इसी प्रकार—

चन्दनासक्तभुजगनिःश्वासानिलमूर्च्छितः।
मूर्च्छयत्येष पथिकान् मधौ मलयमारुत ॥

—ध्वन्या० २।२७ वृत्ति, व०जी० ३।६४ (पद्य)

(अर्थात्, चन्दनवृक्ष में लिपटे हुए सापो की नि श्वास-वायु से मूर्च्छित (प्रवृद्ध) यह मलयानिल वसन्त ऋतु में पथिकों को मूर्च्छित करती है।) इस पद्य में आनन्द ने उत्प्रेक्षा-ध्वनि स्वीकार की है और कुन्तक ने इसे (वाच्य) उत्प्रेक्षा का ही एक भेद मानते हुए इसे 'वाक्यवक्रता' के अन्तर्गत रखा है। यहां 'व्यग्यार्थता' अथवा 'वक्रता' यह है कि यद्यपि वसन्त ऋतु में मलयानिल के स्पर्श द्वारा विरहीजनो का मूर्च्छित हो जाना वर्णित किया जाता है, किन्तु यहां उत्प्रेक्षा यह की गयी है कि मानो मलयानिल इसी कारण विरहीजनो को मूर्च्छित कर रहा है कि वह स्वयं सर्पो की फुंकार से मूर्च्छित (प्रवृद्ध) है।

(ख) आन्तरिक रूप—

उक्त सभी स्थूल एवं सूक्ष्म—यो कहिए क्रमश. संगत एव असंगत—प्रसंगो को देखने से एक सुविज्ञ भी पाठक को आपाततः यही प्रतीत होता है कि कुन्तक की वक्रोक्ति वाह्य-रूपात्मिका ही है, किन्तु कही वे आनन्दवर्द्धन-प्रस्तुत ध्वनि के उदाहरणो को जो निस्सन्देह आन्तरिक तत्त्व को ही प्रस्तुत

---

१. लावण्यकान्तपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे सरसायताक्षि।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः ॥

—ध्वन्या ० २।२७ (वृत्ति), व०जी० ३।७६ (पद्य)

२. अलंकारगत-संलक्ष्यक्रमव्यंग्य-विवक्षितान्यपरवाच्य-(लक्षणामूला-) ध्वनिः।

करते है यथावत् स्वीकार करते हुए भी 'ध्वनि' के स्थान पर 'वक्रता' शब्द का प्रयोग कर देते हैं—

गगनं च मत्तमेघं धारालुलितार्जुननि च वनानि ।
निरहङ्कारमृगाङ्का हरन्ति नीला अपि निशाः ।। व०जी० २।१३(वृत्ति)

(अर्थात्, यह अन्धेरी रात्रियाँ जिनमें आकाश पर मत्त मेघ छाये है और चन्द्रमा निरहंकार (गर्वरहित) हो गया है × × × × मन को हरण कर लेती है ।) यहाँ मेघो को 'मत्त' कहने से तात्पर्य है कि वे अति सघन होकर उमड़-घुमड़ रहे हैं, और चन्द्रमा को 'निरहकार' कहने से तात्पर्य है कि उसका प्रकाश क्षीण पड़ गया है । आनन्दवर्द्धन के अनुसार इन दोनो पदो में अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्यध्वनि का चमत्कार है, और कुन्तक के अनुसार 'पदपूर्वार्द्धवक्रता' के 'उपचारवक्रता' नामक एक उपभेद का । निस्सन्देह यहाँ 'मत्त' और 'निहंकार' शब्दों का आन्तरिक चमत्कार ही दोनो आचार्यो को अभीष्ट है, न कि इनका मुख्यार्थ, किन्तु एक आचार्य इसे 'ध्वनि' कहते है, और दूसरे आचार्य वक्रता । इसी प्रकार—

अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे ।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः ।।

—ध्वन्या० ३।१६ (वृत्ति) व०जी० २ । १०६ (पद्य)

(अर्थात्, उधर प्रियतमा का दुःसह वियोग और इधर नये-नये वादलों के उमड़ आने पर धूप रहित दिन—यह दोनो एक-साथ आ पड़े हैं ।) इस पद्य में 'और' (च) नामक निपात [अर्थात् अव्यय[1]] द्वारा समुत्पन्न काव्य-चमत्कार के कारण आनन्द ने 'निपातगत-ध्वनि'[2] स्वीकार की है, और कुन्तक ने 'निपातगत-पदवक्रता' ।[3] निस्सन्देह दोनो आचार्यों को अभीष्ट तो 'निपात' का

---

१. 'निपातमव्यय.' (अष्टाध्यायी)

२. निपातगत-असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-विवक्षितान्यपरवाच्य-(लक्षणामूला)-ध्वनि ।

इसी प्रकार—

मुहुरंगुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाऽभिरामम् ।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न तु चुम्बितम् ।।

—ध्वन्या० ३।१६ वृत्ति, व० जी० २।३३ (पद्य)

३. यहां 'तु' निपात से पश्चाताप व्यञ्जित होता है । आनन्द यहां 'निपात-ध्वनि' स्वीकृत करते हैं और कुन्तक 'निपात-वक्रता' ।

चमत्कार है जो कि स्वयं आन्तरिक है। आनन्द इसी चमत्कार को 'ध्वनि' कहते है और कुन्तक 'वक्रता'। उक्त दोनो उदाहरणो मे आनन्द की 'अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य ध्वनि' और 'निपातध्वनि' निस्सन्देह आन्तरिक है, पर कुन्तक की 'उपचारवक्रता' और 'निपातवक्रता' आन्तरिक होती हुई भी क्रमशः पदपूर्वार्द्धवक्रता और पदवक्रता के ही उपभेद है, जोकि स्वत· वाह्यपरकता की सूचक है।

●

इस प्रकार हमने देखा कि जिस प्रकार 'ध्वनि' के सम्वन्ध में दृढता-पूर्वक यह कहा जा सकता है कि वह अपने आप मे अनिवार्यतः और सम्पूर्णतः एक आन्तरिक तत्त्व है, अलकार, रीति आदि वाह्यपरक तत्त्व इसी के परिपोषक रूप मे ही स्वीकृत हैं, उसी प्रकार वक्रोक्ति के सम्वन्ध में दृढ़तापूर्वक यह नही कहा जा सकता कि वह केवल वाह्य अथवा केवल आन्तरिक तत्त्व है।

वक्रोक्ति के उपभेदो पर एक सरसरी-सी दृष्टि डाल देने से भी इस कथन की पुष्टि हो जाएगी, उदाहरणार्थ—पदपूर्वार्द्धवक्रता के ८ उपभेदो में से रूढिवैचित्र्यवक्रता और उपचारवक्रता तो आन्तरिक तत्त्व के सूचक है और शेप ६ उपभेद वाह्य तत्त्व के। किन्तु फिर भी यदि समग्र रूप मे वक्रोक्ति के सम्वन्ध में इस दृष्टि से विचार करें तो स्पष्टतः ज्ञात होता है कि उसके वाह्य पक्ष का पलड़ा उसके आन्तरिक पक्ष की अपेक्षा कही अधिक भारी है। किन्तु ऐसा मानते हुए भी यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि 'वक्रोक्ति तत्त्व' की यह वाह्यपरकता भामह आदि के 'अलंकार-तत्त्व' और वामन के 'रीति-तत्त्व' इन दोनो की अपेक्षा अनेक रूपो से निराली है। कुन्तक का दृष्टिकोण इन आचार्यों की अपेक्षा कही अधिक व्यापक है। वक्रोक्ति के ३० उपभेद, इन उपभेदो में प्राय· सभी स्वीकृत काव्यतत्त्वो की समाहिति, अलकार के प्रति कुन्तक का दोहरा दृष्टिकोण, रस के प्रति उनका आग्रहपूर्ण समादर, और ध्वनि तथा इसके भेदोपभेदो की प्रकारान्तर से स्वीकृति—ये सभी तथ्य इस वास्तविकता के सूचक है कि वक्रोक्ति-सिद्धान्त की यह वाह्यपरकता अलंकार-सिद्धान्त और रीति-सिद्धान्त की वाह्यपरकता की अपेक्षा कही अधिक व्यापक है, और कुन्तक द्वारा यही व्यापक एवं विशिष्ट वाह्यरूपात्मिका 'वक्रोक्ति' काव्य की आत्मा के रूप में घोपित की गयी थी।

५. रससिद्धान्त

काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में जितना समादर रस को मिला उतना किसी

अन्य काव्य-तत्त्व को नहीं। भरत को रस-तत्त्व का प्रवर्तक समझा जाता है। उन्होंने इसे नाटक के अनिवार्य धर्म के रूप में स्वीकार किया,[1] तथा कतिपय काव्य-तत्त्वों—अलंकार, गुण, दोष—के रस-संश्रयत्व पर भी उन्होंने प्रकाश डाला।[2] अलकारवादी आचार्यो—भामह, दण्डी और उद्भट ने यद्यपि रस, भाव आदि को रसवद् आदि अलकार नाम से अभिहित किया तथापि उन्होंने अपने दृष्टिकोण से इसे समुचित समादर भी प्रदान किया। भामह और दण्डी ने इसे महाकाव्य के लिए 'एक आवश्यक तत्त्व' के रूप मे स्वीकृत किया।[3] भामह के अनुसार कटु ओषधि के समान कोई शास्त्र-चर्चा भी रस के सयोग से मधुवत् बन जाती है।[4] दण्डी का माधुर्य गुण 'रसवत्' ही है, तथा इसकी यह रसवत्ता मधुपो के समान सहृदयो को प्रमत्त बना देती है।[5] दण्डी के 'माधुर्य' गुण का एक भेद वस्तुगत माधुर्य कहाता है जिसका अपर नाम 'अग्राम्यता' है। दण्डी के शब्दो में यही अग्राम्यता काव्य मे रससेचन के लिए सर्वाधिक शक्तिशाली अलकार है।[6] इसके अतिरिक्त रुद्रट ने भी, जो एक ओर अलंकार-सिद्धान्त से और दूसरी ओर ध्वनि-सिद्धान्त से प्रभावित थे, रस को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया। भामह और दण्डी के समान इन्होंने भी रस को महाकाव्य के लिए आवश्यक तत्त्व माना।[7] प्रथम बार इन्होंने ही वैदर्भी, पाचाली

---

१. (क) एतद् रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियासु च।
सर्वोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥ ना०,शा० १।११०
(ख) बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तम्।
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्॥ वही, १७।१२३

२. एवमेते ह्यलंकारा· गुणाः दोषाश्च कीर्तिता।
प्रयोगमेषां च पुनः वक्ष्यामि रससंश्रयम्॥ वही १७।१०८

३. (क) युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्। का० अ० १।२१
(ख) अलङ्कृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्। का० द० १।१८

४. स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुंजते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटु भेषजम्॥ का० अ० ५।३

५ मधुरं रसवद् वाचि, वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः॥ का० द० १।५१

६. कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चतु।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भार वहति भूयसा॥ का० द० १।६२

७. काव्यालंकार १६।१,५

नामक रीतियों और मधुरा, ललिता वृत्तियो के रसानुकूल प्रयोग का निर्देश किया,[1] शृङ्गार रस का प्राधान्य स्वीकार किया,[2] तथा कवि को रस के लिए प्रयत्नशील रहने का आदेश दिया।[3]

अलंकारवादी आचार्यो के उपरान्त ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा तथा रस को ध्वनि का एक भेद—असंलक्ष्य-क्रमव्यंग्यध्वनि नाम से स्वीकृत करते हुए भी रस को ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट रूप घोषित किया। कतिपय प्रमाण लीजिए :

—वाच्यार्थों की बहुविध रचना रस के आश्रय से सुशोभित होती है।[4]

—यो तो व्यंग्यार्थ (ध्वनि) के कई भेद है, किन्तु रस, भाव आदि [नामक भेद] उनकी अपेक्षा कही [अधिक] प्रधान है।[5]

—रस के सम्पर्क से प्रचलित अर्थ उस प्रकार नूतन रूप में आभासित होने लगते है जिस प्रकार वसन्त के सम्पर्क से द्रुम।[6]

—रस, भाव आदि के विषय से सम्बद्ध रहकर ही वाच्य और वाचक की औचित्यपूर्वक [योजना होती है, और ऐसी] योजना करना महाकवि का मुख्य कर्म है।[7]

—इस व्यंग्य-व्यंजक भाव (अर्थात् ध्वनितत्त्व) के अनेक भेदों के होने पर भी कवि को केवल रसादिमय ध्वनि-काव्य में ही अवधानवान् रहना चाहिए।[8]

१,२. काव्यालंकार १४।३७; १४।३८

३. तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।
उद्वेजनमेतेषां शास्त्रवदेवाऽन्यथा हि स्यात्॥ का० अ० १२।२

४. अवस्थादिविभिन्नानां वाच्यानां विनिबन्धनम्।
भूम्नैव दृश्यते लक्ष्ये तत्तु भाति रसाश्रयात्॥ ध्वन्या० ४।८

५. प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपेलक्षण प्राधान्यात्।
—ध्वन्या० १।५ वृत्ति

६. दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमा॥ ध्वन्या० ४।४

७. वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः॥ ध्वन्या० ३।३२

८. व्यंग्यव्यंजकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन् कवि. स्यादवधानवान्॥ ध्वन्या० ४।५

इसी प्रकार आनन्दवर्द्धन के प्रख्यात अनुकर्ता मम्मट ने भी रस को काव्य का सर्वोपरि प्रयोजन निर्दिष्ट किया।[1]

आनन्दवर्द्धन के उपरान्त वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का 'जीवित' स्वीकार करते हुए भी रस को काव्य का अमृत एव अन्तश्चमत्कार का वितानक मानते हुए प्रकारान्तर से इसे सर्वप्रमुख काव्य-प्रयोजन के रूप में घोषित किया।[2] उन्होंने उपसर्गगत और निपातगत पदवक्रता के प्रसग में रस की चर्चा की,[3] प्रकरण-वक्रता और प्रबन्ध-वक्रता के लिए रस की अनिवार्यता का अनेक रूपो में निर्देश किया[4], और रसवत् अलंकार को 'सब अलंकारों का जीवित' कहते हुए प्रकारान्तर से रस की उत्कृष्टता मुक्तकण्ठ से स्वीकृत की।[5]

कुन्तक के उपरान्त इस दिशा मे अग्निपुराणकार ने काव्य मे रस की अनिवार्यता का संकेत करते हुए कहा कि जिस प्रकार लक्ष्मी त्याग (दान) के विना शोभित नही होती उसी प्रकार वाणी भी रस के विना शोभित नही होती।[6]

३

रस के प्रति उक्त समादर-भाव अग्निपुराणकार के समय के आस-पास और अधिक उच्च रूप ग्रहण कर गया। अब रस को 'आत्मा' पद पर आसीन कर दिया गया—'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।[7] अर्थात् काव्य मे यद्यपि वाणी की विदग्धता की प्रधानता (अनिवार्यता) रहती है किन्तु उसका जीवित (आत्मा) तो रस ही है। इसी प्रकार महिमभट्ट ने

---

१. सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरम् आनन्दम्। काव्यप्रकाश १ म उ०

२. चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनाऽन्तश्चमत्कारो वितन्यते। व० जी० १।५

३. रसादिद्योतन यस्यामुपसर्गनिपातयोः।
वाक्यैकजीवितत्वेन साऽपरा पदवक्रता॥ व० जी० २।३३

४. व० जी० ४।४, ८, १०, १६, २१

५. यथा स रसवन्नाम सर्वालंकारजीवितम्।
काव्यैकसारतां याति तथेदानीं विवेच्यते॥ व० जी० ३।१४

६. लक्ष्मीरिव विना त्यागान्न वाणी भाति नीरसा। अ० पु० ३३९।९

भी रस को सर्वसम्मति से ही काव्य की आत्मा स्वीकृत करने का निर्देश किया—काव्यस्यात्मनि संगिनि × × × रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः।[1]

इधर इसी बीच 'काव्यपुरुष-रूपक' भी पूर्णतः स्थिर हो चुका था—जिसके बीज दण्डी और वामन के समय से मिलना प्रारम्भ हो गये थे।[2] राजशेखर और उनके उपरान्त विश्वनाथ ने इसी रूपक के अन्तर्गत काव्य को आत्मा रूप में घोषित किया,[3] और विश्वनाथ ने तो सर्वप्रथम अपना काव्यलक्षण भी इसी मान्यता के आधार पर प्रस्तुत किया—वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।[4]

●

किसी काव्य-तत्त्व को काव्य की आत्मा स्वीकृत करने के दो आधारो का पीछे निर्देश किया जा चुका है। पहला आधार है उसी काव्यतत्त्व मे काव्य के अन्य तत्त्वो का समावेश एव अन्तर्भाव समझना, और दूसरा आधार है अन्य काव्यतत्त्वों द्वारा इसी तत्त्व की पुष्टि समझना।[5] निस्सन्देह दूसरा आधार अधिक मान्य है क्योकि यह अपेक्षाकृत अधिक पुष्ट, स्वस्थ, आग्रह-रहित एवं तर्कपूर्ण है। रस को काव्य की आत्मा स्वीकृत करने का एक कारण यह भी है कि आनन्दवर्द्धन और उनके अनुकर्ताओं—मम्मट और विश्वनाथ ने, तथा इनके परवर्ती सग्रहकर्ता आचार्यो ने, अन्य काव्यतत्त्वो—अलकार, गुण और रीति—को रस के साथ सम्बद्ध करते हुए इन्हे उसके पोषक रूप में प्रस्तुत किया। इन्होने इन तीनो का लक्षण तो रस के आधार पर स्थिर किया ही, दोष का लक्षण भी 'रस' के अपकर्ष पर स्थिर किया—जहां दोष रस का अपकर्षक है वही वह दोष है अन्यथा नही है।[6]

---

१. साहित्यदर्पण (प्रथम परिच्छेद) से उद्धृत।

२. दण्डी ने 'काव्य-शरीर' की ओर संकेत किया था तो वामन ने 'काव्यात्मा' की ओर—

(क) शरीरं तावद् इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। का०द० १।१०

(ख) रीतिरात्मा काव्यस्य। का०सू०वृ० १।२।६

३ देखिये पृष्ठ १६२

४. विश्वनाथ से पूर्व मम्मट ने भी गुण के लक्षण के प्रसंग में रस को काव्य की आत्मा मानने का संकेत—रूपक का आश्रय लेते हुए प्रकारान्तर से सही—किया अवश्य था : देखिए पृष्ठ १६०, पा० टि० ६ (ख)।

५. देखिए पृष्ठ १६६

६. (क) उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ का०प्र० ८।६७

'कार्य समाप्त करने का समय होगया' आदि, अपितु उसकी आन्तरिक मनोभावनाओ का परिचायक भी हो। उदाहरणार्थ, 'कार्य समाप्त हो गया' इस व्यग्यार्थ को तभी काव्य का विषय माना जाएगा जब वक्ता को अपने प्रियजनों से मिलने की उत्सुकता हो, अथवा उसकी ऐसी किसी अन्य मनोलालसा का पता चले। इस प्रकार ऐसे उदाहरणो में भी वस्तुत: रस की ही सत्ता विद्यमान है, अत: रस को ही काव्य की आत्मा मानना चाहिए, ध्वनि को नही। निस्सन्देह व्यग्यार्थ-प्रतीति का प्रयोजन किसी मनोवृत्ति का द्योतन ही है, किन्तु इसी आधार पर ध्वनि, गुणीभूतव्यग्य अथवा चित्रकाव्य के सभी भेदो के उदाहरणो को शृङ्गार आदि रसों के साथ सम्बद्ध करना समुचित नही है, क्योकि शास्त्रीय दृष्टि से रस अपने पारिभाषिक अर्थ मे सब प्रकार के 'काव्यचमत्कार' अथवा 'काव्यानन्द' का वाचक नही है, अपितु वह विशिष्ट प्रकार के आनन्द का, स्थायिभाव के साथ विभावादि के सयोग से जन्य आनन्द का, वाचक है। यो चाहें तो रस का व्यापक अर्थ—सब प्रकार का काव्यचमत्कार—भी ले सकते है, किन्तु यह उसका लक्ष्यार्थ ही है, वाच्यार्थ नही है, और शास्त्रीय चर्चाओ में वाच्यार्थ के ही बल पर सिद्धान्त प्रतिपादित किये जाने चाहिए, लक्ष्यार्थ के बल पर नही। इस दृष्टि से रस अपनी सीमा मे परिबद्ध है, वह काव्य का अनिवार्य तत्त्व नहीं है।



निष्कर्षत काव्य के अनिवार्य, व्यापक एवं आन्तरिक तत्त्व ध्वनि को ही काव्य की आत्मा (साधन) स्वीकृत करना चाहिए, क्योंकि यही तत्त्व सब प्रकार के काव्यानन्द (साध्य अथवा सिद्धि) का साधन बनने की पूर्ण क्षमता रखता है।



: १७ :

क्या केशवदास अलंकारवादी आचार्य थे ?

भावी घटनाएँ अपने आगमन की सूचना पूर्व ही देने लग जाती है—यदि यह उक्ति सत्य है तो यह हिन्दी-साहित्य के उस ग्रन्थ-समुदाय पर पूर्णतः घटित होती है जिसे हम रीतिकालीन साहित्य कहते है। जब केशवदास ने 'रामचन्द्रिका', 'वीरसिंह देवचरित' 'रतनबावनी', 'विज्ञानगीता' और 'जहाँगीर-जसचन्द्रिका' के अतिरिक्त 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया' और 'नखशिख' की रचना की होगी तो उन्हें तनिक भी ध्यान न आया होगा कि उनके पचास वर्ष उपरान्त कोई चिन्तामणि नामक आचार्य रीतिग्रन्थ का निर्माण करेगा, और फिर उसके तुरन्त उपरान्त ऐसे ग्रन्थों की निर्माण-परम्परा पूरे दो सौ वर्ष तक निरन्तर चली जाएगी जो कि शत-शत रीतिग्रन्थो की रचना का कारण बनेगी, किन्तु हिन्दी-साहित्य का इतिहासकार केशव के उक्त काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो को रीतिकालीन रीतिग्रन्थ-परम्परा का पूर्वसूचक घोषित करता है, और इस प्रकार उपरिलिखित उक्ति की चरितार्थता भी सिद्ध कर देता है।

इसके अतिरिक्त केशव को सम्भवत. इसका भी तनिक ध्यान न आया होगा कि उन के लगभग चार सौ वर्ष उपरान्त उनके कतिपय कथनो के आधार पर आलोचक उन्हे 'अलंकारवादी' आचार्य स्वीकृत करते हुए उनकी गणना भामह, दण्डी और उद्भट जैसे पूर्ववर्ती आचार्यो मे करेंगे, और इससे यह निष्कर्ष निकालने का प्रयास करेंगे कि जिस प्रकार सस्कृत के काव्य-शास्त्रीय इतिहास में पहले अलकारवाद का बोलबाला रहा, और फिर रसवाद और ध्वनिवाद का, उसी प्रकार हिन्दी में भी अनायास यही क्रम उपस्थित हो गया—अलंकारवादी केशव के उपरान्त रसध्वनिवादी चिन्तामणि आदि का आगमन हुआ।

●

किन्तु क्या केशव अलंकारवादी थे? और क्या चिन्तामणि आदि रसध्वनि-वादी थे ? हमे यहा केवल प्रथम शका का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास करना है। अलंकार के सम्बन्ध में केशव की निम्नोक्त उक्तियाँ अथवा धारणाएँ है—

इस प्रकार हमने देखा कि पहले रस के प्रति समादर-भाव प्रकट किया गया, (२) पुनः रस के साथ अन्य काव्यतत्त्वो का स्वरूप सम्बद्ध किया गया, और (३) अन्ततः उसे 'आत्मा' रूप मे उद्घोषित कर दिया गया—और इस सबका एक मात्र कारण यह है कि रस अन्य काव्यतत्त्वो की अपेक्षा कही अधिक आन्तरिक तत्त्व है—यहा तक कि वह 'ध्वनि' के प्रमुख पांच भेदो में से शेष चार भेदों की अपेक्षा भी आन्तरिक है।

उपसंहार

इस प्रकार 'काव्यात्मा' के प्रसग में उक्त पाच सिद्धान्तो के एतद्-विषयक पर्यवेक्षण के उपरान्त काव्य की आत्मा किसे माना जाए—इसके निर्णय का मार्ग सुगम हो जाता है। 'चैतन्यमात्मा' तथा 'ज्ञानाधिकरणमात्मा' इस आधार पर काव्य के प्रसग में 'आत्मा' शव्द का तात्पर्य है—काव्य का अनिवार्य तत्त्व, तथा वह तत्त्व बाह्य न होकर आन्तरिक होना चाहिए। अलंकार, रीति और वक्रोक्ति तत्त्व वाह्य ही हैं।[1] शेष रहे दो काव्यतत्त्व—ध्वनि और रस। हमारे विचार में ध्वनि को काव्य की आत्मा मानना चाहिये। इस स्वीकृति के अनेक कारण है :

—प्रथम कारण यह है कि यह तत्त्व काव्य में अनिवार्यत. विद्यमान रहता है। यहा तक कि रस के उदाहरणो में भी इसी तत्त्व का अस्तित्व अनिवार्यतः अपेक्षित है। रस का चमत्कार व्यङ्ग्यार्थ पर आधारित रहता है—रस वस्तुतः ध्वनि का ही एक भेद माना जाता है। ध्वनि-तत्त्व के अभाव में किसी भी कथन को 'काव्य' नही कह सकते, वह या तो 'लोक-वार्ता' कहा जाएगा या 'शास्त्रचर्चा'।

—दूसरा कारण यह है कि ध्वनि-तत्त्व रस की अपेक्षा कही अधिक

(ख) ये रसस्याङ्गिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणा.॥ का० प्र० ८।६६

(ग) पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनाम् × × ×॥ सा० द० ९।१

(घ) रसापकर्षका. दोपा:। सा० द० ७।१

1. वे कितनी सीमा तक वाह्य हैं, यह विपय प्रस्तुत प्रसंग से सम्बद्ध नहीं है। (देखिए पृष्ठ १८५)

व्यापक है। ध्वनि-तत्त्व के तारतम्य के आधार पर काव्य को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जाता है—ध्वनि-काव्य, गुणीभूतव्यग्य-काव्य और चित्र-काव्य। इन तीनो श्रेणियों में ध्वनि-तत्त्व क्रमशः मुख्य, गौण और अस्फुट रूप में विद्यमान रहता है। ध्वनि-काव्य के प्रमुख पाँच भेदो में से असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि नामक ध्वनि-भेद का अपर नाम ही रसादि (अंगीभूत रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भाव-सन्धि, भावशवलता और भावशान्ति) है। इस प्रकार अगीभूत रस आदि का अन्तर्भाव ध्वनि में हो जाता है। गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य के आठ भेदो मे से 'अपराग' नामक दूसरे भेद के अन्तर्गत रसवद्, प्रेयस्वद् आदि अलंकारो का अन्तर्भाव हो जाता है, जो वस्तुत उस स्थिति में स्वीकृत किये जाते है जब रस, भाव आदि अगभूत रूप मे वर्णित हो। इस प्रकार रस चाहे अंगीभूत रूप में वर्णित हो अथवा अग रूप मे काव्य-श्रेणी के दृष्टि से ध्वनि से ही सम्बन्धित है। शेष रहे ध्वनिं के [रसेतर] शेष चार भेद, और गुणीभूत व्यग्यार्थ के शेष सात भेद—ये सभी तो ध्वनि से सम्बन्धित है ही।

अब काव्य के तीसरे-प्रमुख-भेद चित्रकाव्य को लीजिए। चित्रकाव्य से तात्पर्य है—अलंकार-प्रयोग, किन्तु इसमे भी ध्वनि-तत्त्व की सत्ता, चाहे वह अस्फुट रूप से ही क्यो न हो, नितान्त अनिवार्य है, और इसी चित्रकाव्य के अन्तर्गत सभी शब्दालंकारो और अर्थालकारो का काव्य-चमत्कार निहित हो जाता है। शेष रहे गुण और रीति नामक काव्य-तत्त्व, तो ये दोनो रस-ध्वनि से सम्बद्ध रहने के कारण ध्वनि से ही सम्बद्ध है। इनका चमत्कार वस्तुतः रस-ध्वनि का ही चमत्कार होता है। इस प्रकार ध्वनि-तत्त्व में सभी प्रकार का काव्य-चमत्कार अन्तर्भूत हो जाता है, अत. वह एक व्यापक काव्य-तत्त्व है।

इस प्रकार उक्त दोनो कारणो से ध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानना चाहिए।



किन्तु समस्या का अन्त यही नही हो जाता। रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करने वालों की ओर से यह कहा जा सकता है कि रस के उदाहरण [और 'अपरस्यांग' नामक गुणीभूतव्यंग्य के उदाहरण भी] तो रस है ही, ध्वनि के शेष चार भेदो, गुणीभूतव्यग्य के शेष सात भेदो के उदाहरण भी वस्तुतः रस ही है, क्योकि उनका चमत्कार किसी न किसी रूप में रस से सम्बद्ध रहता है। उदाहरणार्थ, वस्तु-ध्वनि का प्रसिद्ध उदाहरण 'गतोऽस्तमर्क,:' (अर्थात् 'सूर्य डूब गया।') तभी काव्य के अन्तर्गत माना जाएगा जब वक्ता का अभिप्राय केवल इतना मात्र न हो कि अब 'अनध्ययन का समय हो गया,' अथवा

'कार्य समाप्त करने का समय होगया' आदि, अपितु उसकी आन्तरिक मनोभावनाओ का परिचायक भी हो। उदाहरणार्थ, 'कार्य समाप्त हो गया' इस व्यंग्यार्थ को तभी काव्य का विषय माना जाएगा जब वक्ता को अपने प्रियजनो से मिलने की उत्सुकता हो, अथवा उसकी ऐसी किसी अन्य मनोलालसा का पता चले। इस प्रकार ऐसे उदाहरणो में भी वस्तुत: रस की ही सत्ता विद्यमान है, अत: रस को ही काव्य की आत्मा मानना चाहिए, ध्वनि को नही। निस्सन्देह व्यंग्यार्थ-प्रतीति का प्रयोजन किसी मनोवृत्ति का द्योतन ही है, किन्तु इसी आधार पर ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य अथवा चित्रकाव्य के सभी भेदो के उदाहरणो को शृङ्गार आदि रसो के साथ सम्बद्ध करना समुचित नही है, क्योंकि शास्त्रीय दृष्टि से रस अपने पारिभाषिक अर्थ मे सब प्रकार के 'काव्यचमत्कार' अथवा 'काव्यानन्द' का वाचक नही है, अपितु वह विशिष्ट प्रकार के आनन्द का, स्थायिभाव के साथ विभावादि के सयोग से जन्य आनन्द का, वाचक है। यों चाहे तो रस का व्यापक अर्थ—सब प्रकार का काव्यचमत्कार—भी ले सकते हैं, किन्तु यह उसका लक्ष्यार्थ ही है, वाच्यार्थ नही है, और शास्त्रीय चर्चाओ मे वाच्यार्थ के ही वल पर सिद्धान्त प्रतिपादित किये जाने चाहिए, लक्ष्यार्थ के वल पर नही। इस दृष्टि से रस अपनी सीमा मे परिवद्ध है, वह काव्य का अनिवार्य तत्त्व नही है।

●

निष्कर्षत: काव्य के अनिवार्य, व्यापक एवं आन्तरिक तत्त्व ध्वनि को ही काव्य की आत्मा (साधन) स्वीकृत करना चाहिए, क्योंकि यही तत्त्व सब प्रकार के काव्यानन्द (साध्य अथवा सिद्धि) का साधन बनने की पूर्ण क्षमता रखता है।

*

(१) उन्होने अलंकार को कविता का अनिवार्य तत्त्व स्वीकार करते हुए सर्वगुण-सम्पन्न भी अलंकार-रहित कविता को उस प्रकार शोभाहीन माना है जिस प्रकार सर्वगुण-सम्पन्न भी आभूपण रहित नारी—

जदपि सुजाति सुलच्छणी सुवरन सरस सुवृत्त ।
भूषण बिनु न बिराजई कविता वनिता मित्त ॥

(२) उन्होने नौ रसो का निरूपण 'रसवत्' अलकार के अन्तर्गत कर रस (अलकार्य) को भी प्रकारान्तर से अलकार मान लिया है—

रसमय होय सुजाति ये रसवत केशवदास ।
नवरस को सक्षेप हो समुझौ करत प्रकास ॥

(३) उन्होंने निम्नोक्त पद्य में काव्य के सभी उपादेय एवम् सौन्दर्य-विधायक अगो को अलकार के अन्तर्गत प्रकारान्तर मे समाविष्ट करने का संकेत किया है—

अलंकार कवितान के सुनि सुनि विविध विचार ।
कविप्रिया केशव करी कविता को सिंगार ॥

उधर भामह, दण्डी और उद्भट को अनेक कारणो से अलकारवादी माना जाता है। भामह ने अलकार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व माना है—न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्, और केशव ने भी साग-रूपक का आश्रय लेकर इस कथन को उपर्युक्त परिवर्तित रूप में प्रस्तुत कर दिया है।

दूसरा कारण यह है कि वे काव्य के सभी उपादेय अगो को अलकार मे अन्तर्भूत करते है। उदाहरणार्थ, अलंकार-सम्प्रदाय के अनुसार अनुप्रास, उपमा आदि तो अलकार है ही; रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति आदि भी रसवत्, प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वी, समाहित आदि अलकार ही है। दूसरे शब्दो मे, रसध्वनिवादी जिन्हे 'अलकार्य' (अलकारो द्वारा अलकरणीय) मानते है उन्हे यहाँ 'अलकार' कहा जाता है। इसी प्रकार गुण और ध्वनि को भी प्रकारान्तर से 'अलकार' में अन्तर्भूत किया गया है—यहाँ तक कि नाट्य-सन्धियो, नाट्यसन्ध्यगो, रसवृत्तियो, रसवृत्त्यगो तथा 'भूषण' आदि लक्षणो को भी 'अलकार' नाम देने का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। केशव-सम्मत उपर्युक्त दूसरी धारणा उन्हे अलंकार-सम्प्रदाय का पोषक सिद्ध करती है।

उपर्युक्त दोनो कारणो के आधार पर आज का आलोचक यह स्वीकार कर लेता है कि अलंकार-सम्प्रदाय के अनुसार 'अलकार' काव्य-सौन्दर्य का सर्वस्व है, अर्थात् किसी काव्य में जो सौन्दर्य है वह अलंकार के ही कारण

होता है। केशव-सम्मत उपर्युक्त तीसरी धारणा इसी आशय की ओर अस्पष्ट शब्दों में सकेत करती है। वस्तुत. यह धारणा रीतिवादी आचार्य वामन के निम्न कथनो के समकक्ष ठहरती है—काव्यं ग्राह्यमलकारात्, सौन्दर्यमलंकारः। यद्यपि स्वयम् वामन अलंकारवादी न थे, किन्तु उक्त दोनो सूत्रो मे प्रयुक्त 'अलकार' शब्द केवल उपमा आदि का वाचक न होकर काव्यगत सभी सौन्दर्य का, दूसरे शब्दो में, सौन्दर्य-विधायक सभी काव्यांगो का, वाचक ठहरता है, और वामन को 'अलकार' का यह व्यापक अर्थ भी मान्य था।

निस्सन्देह उक्त तीनों धारणाओ के आधार पर केशवदास को अलकार-वादी आचार्य मानने में तनिक भी संकोच न होना चाहिए। केवल इतना ही क्यों, वे एक पग और भी आगे चले गये है। उन्होने अपने कविप्रिया ग्रन्थ मे अलकार के दो प्रकार माने हैं—विशिष्ट अलंकार और साधारण अलकार। विशिष्ट अलंकार से उनका तात्पर्य अनुप्रास, उपमा आदि अलंकारो से है, और साधारण अलंकार से उनका तात्पर्य वर्णनीय विषय-सामग्री से है। इसके उन्होने चार प्रकार माने है—वर्ण, वर्ण्य, भू-श्री और राज्य-श्री। केशव के इस प्रसग का स्रोत अमरचन्द यति कृत 'काव्यकल्पलतावृत्ति' तथा केशवमिश्र कृत 'अलंकारशेखर' है, जहाँ इसे 'कविशिक्षा' के अन्तर्गत स्थान मिला है, पर इन दोनो ग्रन्थो मे इस प्रसग को 'अलकार' नाम नही दिया गया। यह केशव की निजी धारणा है जो कि किसी भी रूप में मान्य नही है। उक्त वर्ण आदि वस्तुतः काव्य की विषय-सामग्री है, अत· ये उपमा आदि अलकारो द्वारा अलकरणीय होने के कारण 'अलकार्य' कहे जाएँगे, 'अलकार' नही। किसी विशिष्ट काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय का अवलम्बन करने के कारण स्वसम्मत काव्यतत्त्व मे इतर काव्यागो—काव्य के सौन्दर्यविधायक उपकरणो—का समावेश तो सह्य हो सकता है, किन्तु स्वय विषयवस्तु को ही उसमे समाविष्ट कर देना न केवल सीमा का उल्लंघन है अपितु नितान्त भ्रमपूर्ण एवम् अमान्य तथा असह्य धारणा है।



इस अन्तिम कारण को छोड भी दिया जाए तो भी ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त तीनो कारणो के बल पर केशव को अलंकारवादी माना जा सकता है, पर वस्तुस्थिति इससे पर्याप्त भिन्न है। किसी लेखक के साम्प्रदायिक विचारो का निर्णय करने के लिए उसके किसी एक ग्रन्थ का आधार न लेकर

तत्सम्बन्धी सभी ग्रन्थो का आधार लेना चाहिए। केशव जितनी तन्मयता के साथ 'कविप्रिया' में अलंकार का निरूपण एवम् समर्थन करते हैं, लगभग उसी तन्मयता के साथ वे 'रसिकप्रिया' मे रस का समर्थन करते है। उनका यह सम्पूर्ण ग्रन्थ रस से सम्बद्ध है। भोजराज तथा अग्निपुराणकार के अनुसार उन्होने शृगार रस को रसो का नायक अर्थात् रसराज माना है।[1] उन्होने शृङ्गार रस का सांगोपाग वर्णन करते हुए भानुमिश्र तथा विश्वनाथ के समान इस रस के आलम्बनविभाव के अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद का विस्तृत निरूपण किया है। शृङ्गार-रस के निरूपण के प्रति इनका पक्षपात एवम् आग्रह इतना अधिक है कि रसिकप्रिया ग्रन्थ का समग्र कवित्व-भाग शृङ्गार रस के ही उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। सभी उदाहरण राधा-कृष्ण को आलम्बन मानकर निर्मित हुए है। यहाँ तक कि शृगारेतर रसो में भी यही युग्म आलम्बन रूप मे गृहीत है, और प्रकारान्तर से इन रसो को शृङ्गार रस में अन्तर्भूत करने का प्रयास किया गया है। ग्रन्थारम्भ मे 'नवरस में ब्रजराज नित' यह कथन लिखकर आचार्य ने ग्रन्थ की मूलवर्तिनी विचारधारा का सकेत प्रारम्भ मे ही कर दिया है। इस प्रक्रिया से दो बाते सिद्ध होती है—एक यह कि केशव ने रूपगोस्वामी आदि भक्त आचार्यो का अनुमोदन करते हुए राधा-कृष्ण के प्रति अपनी आस्था प्रकट की है, दूसरी यह कि शृङ्गार रस को उन्होने सब रसो का नायक माना है। सर्वोपरि रस इसलिए भी मानना अभीष्ट है कि इसमे अन्य रस प्रकारान्तर से अन्तर्भूत हो जाते हैं, किन्तु उनका यह प्रयास अशास्त्रीय तो है ही, साथ ही हास्यास्पद भी बन गया है। दो उदाहरण लीजिए :

श्रीकृष्ण का वीभत्स रस—

टूटे टाटि घुनघने धूम धूम सेन सने, झींगुर छगोडी साँप विच्छिन की घातजू ॥
कटल कलित त्रिन बलित विगध जल, तिनके तलप लता को ललचात जू ॥
कुलटा कुचील गात अंध तम अधरात, कहि न सकत बात अति अकुलात जू ॥
छेडी में घुसे कि घर ईंधन के घनश्याम, घर घरनीनि जात न घिनात जू ॥

वीभत्सपूर्ण छेड़ी (सकरी गली) मे राधा के मिलनेच्छुक कृष्ण के इस प्रसग को केशव ने शृगार रस की पृष्ठभूमि में वीभत्स रस के उदाहरण-स्वरूप

---

१. नवहूँ रस को भाव बहु, तिनके भिन्न विचार।
सब को केशवदास हरि, नाइक है श्रृङ्गार ॥

प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण लीजिए
श्रीकृष्ण का सम (शान्त) रस—

खारिक खात न दारौउदाखन, माखनहूं सह मेटि इठाई।
केशव ऊख मयूषहि दूखत, आइहौं तो पहँ छांडि जिठाई।
तो रदनच्छद को रस रंचक, चाखि गये करि केहूं ढिठाई।
ता दिन ते उन राखी उठाय, समेत सुधा वसुधा की मिठाई॥

राधा के अधर रस को चखने वाले कृष्ण ने समार के सभी स्वादिष्ट भोज्य पदार्थो को तिलाजलि दे दी है। केशव ने इस प्रसग को भी शृगार रस की पृष्ठभूमि में शान्तरस के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया है।

केशव रस के प्रति कितना सचेत और सजग है, इस सम्बन्ध में दो अन्य तथ्य भी अवेक्षणीय है—(१) कवि के लिए 'वाणी' (कवित्व-निर्माण के साधन) की अनिवार्यता का उल्लेख करते हुए वे इस साधन के द्वारा कवित्व को 'रसाल' अर्थात् सरस वनाने का आग्रह कर रहे है, न कि अलंकृत—

ज्यों विन डीठ न शोभिए लोचन लो विशाल।
त्यों ही केशव सकल कवि विन वांणी न रसाल॥

इसी प्रकार, (२) दोष-प्रकरण में दोप को अत्यन्त त्याज्य एव हेय घोषित करते हुए[1] उन्होने अन्य प्रकार के दोपों के अतिरिक्त 'अनरस' अर्थात् रस-दोषो की भी स्वीकृति दी है। इस तरह इन दोनो तथ्यो द्वारा केशव ने काव्य में रस के अनिवार्य अस्तित्व की स्वीकृति प्रकारान्तर से दे दी है।

यह सव दिखाने का हमारा उद्देश्य केवल यही है कि भामह, दण्डी और उद्भट इन अलंकारवादी आचार्यों में से कोई भी आचार्य इस प्रकार की पद्धति एवं विचारधारा को अपनाकर रस के प्रति इतना अधिक आग्रह किसी भी रूप मे न करता। केशव का केवल यही रसिकप्रिया ग्रन्थ देखा जाए तो किसी सुवुद्ध पाठक को विश्वास तक न आएगा कि आगे चलकर यही आचार्य कविप्रिया के माध्यम से अलंकारवाद का समर्थन कर देगा।

•

तो क्या केशव रसवादी आचार्य है ? हमारा इस सम्वन्ध मे भी यही उत्तर है कि 'नही।' कारण अनेक है। रसवादी आचार्य विश्वनाथ के समान रस को काव्य की आत्मा के रूप मे स्वीकृत करते है। वे आनन्दवर्द्धन तथा उनके परवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों के समान रस को व्यग्य पर आश्रित मानकर

१. राजत रंच न दोष युत कविता वनिता मित्त।
बुन्दक हाला परत ज्यों गगा घट अपवित्त॥

उसे असलक्ष्यक्रमव्यंग्य नामक ध्वनि का पर्याय स्वीकार करते हैं, तथा इस सबसे बढ़कर वे गुण, रीति, अलकार और यहाँ तक कि दोष के स्वरूप के लिए भी किसी-न-किसी रूप में रस का ही आधार ग्रहण करते है। किन्तु केशव ने उक्त तत्त्वो मे से किसी ओर भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सकेत नही किया। वस्तुत· रसिकप्रिया ग्रन्थ में इन सब का अवकाश था भी नही। भानुमिश्र का ग्रन्थ 'रसमजरी', जिसके आधार पर केशव आदि हिन्दी के आचार्यो ने शृंगार रस तथा उसके अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद का निरूपण किया है, मूलतः 'नायक-नायिका-भेद' का ग्रन्थ होने के कारण न तो उसमें रस-विषयक उक्त तथ्यो का सकेत करने की आवश्यकता थी, और न ही शृङ्गार रस तथा नायक-नायिका-विषयक ग्रन्थ लिख लेने के कारण भानुमिश्र को अथवा उनके किसी अनुकर्ता को रसवादी घोषित किया जा सकता है। नायक-नायिका-भेद से सम्बद्ध ग्रन्थ लिख देना अलग बात है, और रस की महत्ता का प्रदर्शक ग्रन्थ लिखना अलग बात। ठीक यही स्थिति, बल्कि इससे भी बढ़कर स्थिति, किसी अलंकार-ग्रथ की भी है। भामह, दण्डी और उद्भट तो निस्सन्देह अलकारवादी हैं, पर उधर सस्कृत में 'कुवलयानन्द' के लेखक अप्पय्यदीक्षित को, और इधर हिन्दी मे 'कविकण्ठाभरण' के लेखक दूलह को भामह आदि आचार्यो के अनुरूप अलकारवादी नही कहा जा सकता। यो तो अप्पय्यदीक्षित ने शब्दशक्ति-विषयक 'वृत्तिवार्तिक' ग्रन्थ भी लिखा है, तथा दूलह की भी किसी अन्य काव्यांग से सम्बद्ध रचना उपलब्ध हो जाने पर उसे अलकारवादी मानने का बल कम पड़ सकता है। अस्तु!

●

जहाँ तक किसी सम्प्रदाय अथवा वाद-विशेष का प्रश्न है, हमारा विनम्र निवेदन है कि जब तक कोई आचार्य इतर काव्यांगो को स्वसम्मत काव्यतत्त्व में अन्तर्भूत करने का, अथवा उन्हे इस काव्यतत्त्व के पोषक एवम् उपकारक रूप में स्वीकार करने का, उल्लेख नही करता, तब तक उसे किसी विशिष्ट काव्यतत्त्व-विषयक सम्प्रदाय अथवा वाद से सम्बद्ध मानना समुचित नही है। और साथ ही, यदि कोई आचार्य किसी एक काव्यतत्त्व का समर्थक ग्रन्थ न लिखकर एक से अधिक काव्यतत्त्वो के समर्थक ग्रन्थो अथवा प्रसंगो का प्रणयन करता है तो उसे भी किसी विशिष्ट सम्प्रदाय का समर्थक मानना समुचित नही है।

●

अब केशव के सम्बन्ध में विचार करे। उन्होने पहले 'रसिकप्रिया' का निर्माण किया—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार उनसे पूर्व कृपाराम, सूरदास,

नन्ददास, मोहनलाल, रहीम, सुन्दर आदि नायक-नायिका-भेद-सम्बन्धी ग्रन्थों का निर्माण कर चुके थे। न तो ये सभी रसवादी कहाते हैं और न ही केशव को इसी ग्रन्थ के आधार पर रसवादी मानना चाहिए। 'रसिकप्रिया' के उपरान्त उन्होने 'कविप्रिया' का निर्माण किया। किसी व्यक्ति को किसी विशेष सम्प्रदाय से सम्बद्ध तभी मानना चाहिए जब उसने विभिन्न तत्त्वों के गहन एवम् सूक्ष्म परीक्षण के उपरान्त किसी एक तत्त्व को अपना लिया हो। केशव के सामने भामह, दण्डी, उद्भट आदि ध्वनि-पूर्ववर्ती और आनन्दवर्द्धन एव मम्मट, विश्वनाथ आदि ध्वनि-परवर्ती, आचार्यो के दोनो मार्ग उन्मुक्त थे। वे शायद जानते होगे कि अब अलंकार की व्यापक महत्ता रस और ध्वनि के आगे न केवल समाप्त हो चुकी है, अपितु इनमें उपकारकोपकार्य-सम्बन्ध स्थापित हो गया है—'उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्' (का० प्र० ८।६७)। अब भामह का उपर्युक्त कथन—'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्' निस्सार हो गया है। दण्डी का यह मत कि 'काव्य के सौन्दर्य-जनक सभी साधन—क्या गुण और क्या रस—सभी 'अलंकार' नाम से पुकारे जाने चाहिए' अब अपना महत्त्व खो चुका है। उद्भट की यह धारणा कि रस, भाव आदि प्रधान रूप से वर्णित हो जाने पर भी रसवत्, प्रेय. आदि अलकार कहाते है, आनन्दवर्द्धन द्वारा खण्डित हो चुकी है। अब उन्हे अलकार तभी माना जाएगा जब ये किसी अन्य अंगीभूत रस के अग रहकर वर्णित होगे, अन्यथा नही, और मम्मट ने इन्हें अनुप्रास, उपमा आदि चित्रकाव्य की कोटि से उभार कर 'अपरस्याग' नामक गुणीभूतव्यंग्य के रूप मानते हुए उच्च धरातल पर अवस्थित कर दिया है। सम्भवतः केशव यह भी जानते होगे कि अब 'अलंकार' वामन के 'सौन्दर्य-मलंकारः' इस सूत्र के अनुसार वर्ण्यविषय के चमत्कार (सौन्दर्य) के सभी उपकरणो का पर्याय नही है, अपितु काव्य-सौन्दर्य का एक अस्थिर साधन मात्र रह गया है—अस्थिराः ये धर्माः शोभातिशायिन (सा० द० १०।१)। इतना सब कुछ जानते हुए भी केशव ने यदि प्राचीन अलंकारवाद का समर्थन जान-बूझ कर किया है तो उन्हे एक दृढ़ एव प्रौढ आचार्य के रूप में स्वीकार कर लेने में तनिक भी सकोच नही होना चाहिए था; पर प्रतीत ऐसा होता है कि उनके हाथ केवल दण्डी का ही ग्रन्थ 'काव्यादर्श' लगा है, अथवा उन्हे यह ग्रन्थ आनन्दवर्द्धन, मम्मट आदि परवर्ती आचार्यो के ग्रन्थों की अपेक्षा कही अधिक सरल प्रतीत हुआ है, जिसके आधार पर उन्होने 'कविप्रिया' का निर्माण कर दिया है। वे मूलतः न तो रसवाद के समर्थक थे और न ही अलंकारवाद के। समय-समय पर संस्कृत का जो ग्रन्थ हाथ लगा उसी का आधार लेकर

हिन्दी-ग्रन्थ का निर्माण कर दिया। अलंकारवादी दण्डी आदि तीनों आचार्यों के लिए तो आनन्दवर्द्धन एवं मम्मट आदि के खण्डन का अवकाश न था, पर केशव तो ऐसा कर सकते थे कि वे रस तथा ध्वनि के अतिरिक्त रीति और वक्रोक्ति के साथ अलकार का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करके स्वसम्मत अलंकारवाद का समर्थन करते, किन्तु उन्होने कही भी ऐसा नही किया। सम्भवत: उन्हे ध्वनि-सम्बन्धी ग्रन्थों के अध्ययन का किसी कारणवश अवकाश ही नही मिला। यदि अवकाश मिलता तो वे 'पाण्डित्य-प्रदर्शन' से न चूकते, और इस प्रकार अलकारवाद का विवेक-सम्मत समर्थन कर देते। वस्तुत: वे तो दण्डी के ग्रन्थ काव्यादर्श के रूपान्तरकार मात्र हैं, और बस। इसे उन्होने शायद इसलिए चुन लिया कि वह अपेक्षाकृत एक सरल पाठ्य-ग्रन्थ है। अत: किसी रूपान्तरकार को उस ग्रन्थ से सम्बद्ध सम्प्रदाय के प्रति सदा आस्थावान् समझना भूल होगी, विशेषतः तभी जब कि उसने इतर सम्प्रदाय-विषयक धारणाओं का भी समर्थन कर दिया हो।

०

इसी प्रसग में अब भी एक शका शेष रह जाती है कि केशवदास यद्यपि भामह, दण्डी और उद्भट के समान अलकारवादी न सही, किन्तु वे अलकारवाद की ओर उन्मुख अवश्य थे और इसका प्रबल प्रमाण है इनके प्रबन्ध-काव्य 'रामचन्द्रिका' में अलकारो का अतिशयता से एवं जानबूझ कर प्रयोग। किन्तु इस आधार पर इन्हे 'अलंकारप्रिय' अथवा बाह्य चमत्कार-प्रिय कवि तो अवश्य मान सकते है, पर अलकारवादी आचार्य नही। उदाहरणार्थ, मम्मट जैसे ध्वनिवादी आचार्य की यदि ऐसी काव्यरचना उपलब्ध हो जाए कि जिसमें अलकारो का अतिशयता से और जानबूझकर प्रयोग किया गया हो तो मम्मट को एक ओर अलंकारप्रिय कवि कहेगे और दूसरी ओर ध्वनिवादी आचार्य। उसका इस दृष्टि से दोहरा व्यक्तित्व ही स्वीकृत रहेगा—कविरूप में और आचार्य रूप में, और ये दोनों व्यक्तित्व अलग-अलग ही होगे। ठीक इसके विपरीत यदि दण्डी की कोई रचना उपलब्ध हो जाए जिसके द्वारा सहृदय को 'अमरुशतक' के समान शृंगार रस का आस्वाद प्राप्त हो तो 'रसप्रिय' कवि दण्डी का व्यक्तित्व अलकारवादी आचार्य दण्डी से विभिन्न मानना होगा, उसे रसवादी आचार्य किसी भी स्थिति मे नही मान सकते। इसी प्रकार केशव को अलकारो द्वारा चमत्कारोत्पादक काव्य की रचना करने के कारण भी अलंकारवादी आचार्य नही मान सकते, अलंकारप्रिय कवि उसे भले ही कहा जाए।



: १८ :

श्लेष अलंकार

जो अलंकार अनेकार्थता के आधार पर काव्य-चमत्कार उत्पन्न करता है उसे श्लेष अलंकार कहते है। इसके दो रूप माने जाते है—शब्दश्लेष और अर्थश्लेष। शब्दश्लेष के दो भेद है—सभग और अभग।

श्लेष के उक्त स्वरूप तथा भेदो के सम्बन्ध में कतिपय स्पष्टीकरण अपेक्षित है। जैसे—

१. श्लेष अलकार का अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना नामक शब्द-शक्तियों से क्या सम्बन्ध है ?

२. शब्दश्लेष और अर्थश्लेप में क्या अन्तर है ?

३. अभंग श्लेप को क्यो न अर्थालंकार मान लिया जाए ?

४. श्लेप तथा श्लेपमिश्रित अलकारो की पारस्परिक स्थिति क्या है ? अर्थात् श्लेप अलंकार स्वतन्त्र है अथवा नही ?

इस निवन्ध में इन्ही चार प्रसगो पर विचार-विमर्श प्रस्तुत है।

१. श्लेष अलंकार और शब्दशक्ति

श्लेष अलंकार और अभिधा शब्दशक्ति—अभिधा शब्दशक्ति से मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) का वोघ होता है। एकार्थक शब्दो के मुख्यार्थ-बोध के सम्बन्ध में तो अभिधा शक्ति की स्थिति स्पष्ट है, किन्तु श्लिष्ट अर्थात् अनेकार्थक शब्द के किस अर्थ का ग्रहण अभिधा शक्ति द्वारा किया जाए और किसका नही, इसके निर्णय के लिए निम्नोक्त 'विशेष-स्मृति-हेतु' अर्थात् निर्णायक तत्त्व स्वीकार किये गये है—

सयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण लिंग, अन्य शब्द की सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति, स्वर, आदि। उदाहरणार्थ—'नग सूनो बिन मूदरी' कथन मे 'नग' शब्द के अतिरिक्त शेप शब्दो के वाच्यार्थ का वोध अभिधाशक्ति द्वारा होने में कोई वाधा नही है, किन्तु श्लिष्ट 'नग' शब्द का वाच्यार्थ यहाँ 'पर्वत' ग्रहण किया जाए अथवा रत्न-विशेष, इसका निर्णय 'साहचर्य' नामक विशेष-स्मृति-हेतु (निर्णायक तत्त्व)

के आधार पर किये जाने पर 'नग' शब्द का वाच्यार्थ 'रत्न-विशेष' ही लिया जाएगा, 'पर्वत' नहीं। अब यह गृहीत अर्थ 'श्लेष' का विषय नही रहा, केवल अभिधा शब्दशक्ति का ही विषय बनकर रह गया है, क्योकि श्लेष में सदैव एकाधिक अर्थों का ग्रहण किया जाता है। हाँ, जिन प्रसंगो में दोनों अर्थ ग्रहण करना अभीष्ट रहता है वह श्लेष अलंकार का विषय है, किन्तु वहाँ भी दोनो अर्थ 'वाच्यार्थ' ही होते है, अतः उन दोनों अर्थो का ग्रहण भी अभिधा शक्ति द्वारा ही होता है। (उदाहरणार्थ, देखिए आगे—'करन कलित है चक्र नित × × ×' पृष्ठ २०४)

निष्कर्ष यह कि चाहे शब्द एकार्थक हो अथवा अनेकार्थक, उसका वाच्यार्थ अभिधा शक्ति द्वारा गृहीत होता है। अनेकार्थक शब्दों मे जहाँ सयोग आदि के आधार पर केवल एक अर्थ का ग्रहण किया जाता है, अथवा श्लेष के आधार पर जहाँ कवि को दोनो अर्थ अभीष्ट रहते है—ये सब वाच्यार्थ होने के कारण अभिधा शक्ति से ही गृहीत होते है।

श्लेष अलंकार तथा लक्षणा शब्दशक्ति—लक्षणा शब्दशक्ति द्वारा ज्ञात लक्ष्यार्थ न अभिधा शब्दशक्ति का विषय है और न श्लेष का, क्योकि अभिधा शक्ति केवल वाच्यार्थ का बोध कराती है, किन्तु लक्ष्यार्थ का बोध वाच्यार्थ के उपरान्त होता है, यद्यपि यह अलग बात है कि वह उससे सम्बद्ध रहता है, पर होता उससे भिन्न ही है। लक्ष्यार्थ श्लेष का विषय भी नही है, क्योकि एक तो श्लेष अलंकार मे जिन दो अर्थों का बोध होता है वे दोनों वाच्यार्थ होते हैं—अर्थात् अभिधा शक्ति द्वारा गृहीत रहते है, और दूसरे, ये दोनों ही कवि को अभीष्ट रहते है, उदाहरणार्थ देखिये—करन कलित है चक्र नित × × × पृष्ठ २०४), किन्तु इसके विपरीत लक्षणा के प्रसग में प्रथम अर्थ तो अभिधा शक्ति द्वारा गृहीत रहता है किन्तु दूसरा अर्थ लक्षणा शक्ति द्वारा। इसके अतिरिक्त कवि को केवल लक्ष्यार्थ ही अभीष्ट रहता है वाच्यार्थ नही। उदाहरणार्थ—'गंगा पर आश्रम है।' यहाँ कवि को केवल गगा का लक्ष्यार्थ 'गंगा का तीर' अर्थ ही अभीष्ट है, इसका वाच्यार्थ 'नदी का जलप्रवाह' अभीष्ट नही है।

श्लेष अलंकार और व्यञ्जना शब्दशक्ति—ठीक यही स्थिति व्यञ्जना शब्दशक्ति की भी है। इस शक्ति द्वारा ज्ञात प्रतीयमान अर्थ न तो अभिधा शक्ति का विषय है और न श्लेष का, क्योकि अभिधा शक्ति केवल वाच्यार्थ का बोध कराती है, किन्तु व्यग्यार्थ की प्रतीति वाच्यार्थ के बोध के उपरान्त होती है, और वह अर्थ वाच्यार्थ से नितान्त भिन्न होता है। व्यग्यार्थ श्लेष का विषय भी नहीं

माना जाता, क्योकि श्लेप अलंकार में जिन दोनों अर्थों का ग्रहण होता है वे दोनो वाच्यार्थ होते है, अर्थात् अभिधा शक्ति द्वारा गृहीत होते है, तथा दोनो समान स्तर पर अवस्थित रहते हैं, किन्तु व्यंजना शक्ति के प्रसग मे पहला अर्थ वाच्यार्थ होता है जो अभिधा शक्ति से गृहीत होता है, और दूसरा अर्थ व्यंग्यार्थ होता है जो व्यंजना शक्ति द्वारा गृहीत रहता है। इसके अतिरिक्त ये दोनो अर्थ समान स्तर पर अवस्थित भी नही होते। कवि को वाच्यार्थ अभीष्ट नही रहता, केवल व्यंग्यार्थ ही अभीष्ट रहता है।



इसी प्रसग में अभिधामूला-व्यञ्जना शब्दशक्ति पर भी किञ्चित् प्रकाश डालना अपेक्षित है। जिन अनेकार्थक शब्दो के दोनो अर्थ कवि को अभीष्ट रहते हैं वह श्लेष अलंकार का विपय है, और ये दोनो अर्थ अभिधा शब्दशक्ति द्वारा वोधित होते हैं, तथा जिन अनेकार्थक शब्दों का सयोग, विप्रयोग आदि उक्त नियामक हेतुओं द्वारा केवल एक अर्थ ही गृहीत रहता है वह अभिधा शक्ति का विषय है, यह ऊपर कह आये है। किन्तु ऐसे स्थल भी होते है जहा उक्त नियामक हेतुओ द्वारा किसी एक अर्थ के गृहीत हो जाने पर भी दूसरा अर्थ प्रतीयमान रूप में, व्यग्यार्थ रूप में ज्ञात होता है, यह विपय न तो अभिधा शब्द-शक्ति का है और न श्लेप का, अपितु अभिधामूला व्यञ्जना शब्दशक्ति का है। उदाहरणार्थ—

मुखर मनोहर श्याम रंग बरसत मुद अनुरूप।
झूमत मतवारी झमकि वनमाली रस रूप॥

यहाँ वनमाली अर्थात् मेघ-विपयक प्रसंग के अन्तर्गत इस पद्य का संयोग आदि द्वारा एक अर्थ नियत हो जाने पर भी 'वनमाली' अर्थात् कृष्ण से सम्बद्ध अर्थ भी प्रतीत हो रहा है, जिसका व्यंग्यार्थ यह है कि मेघ कृष्ण के समान है। यह विषय न तो अभिधा शब्दशक्ति का है और न ही श्लेप अलकार का, अपितु अभिधामूला व्यञ्जना शब्दशक्ति का है।

२. शब्दश्लेष और अर्थश्लेष में अन्तर

श्लेप अलंकार के दो रूप माने जाते है—शब्दश्लेप और अर्थश्लेप। इन दोनो रूपो का निर्णायक आधार है—अन्वय-व्यतिरेक-सम्बन्ध। जिसके होने पर जो रहे उसे 'अन्वय' कहते हैं, और जिसके न होने पर जो न रहे उसे 'व्यतिरेक' कहते है—यत्सत्त्वे यत्सत्त्वम् अन्वयः। यदसत्त्वे यदसत्त्वं व्यतिरेकः।

शब्दश्लेष में एक अथवा एक से अधिक अनेकार्थक शब्दो के कारण काव्य-चमत्कार रहता है। इनके स्थान पर किसी अन्य पर्यायवाची शब्द के रख देने से

वह चमत्कार नष्ट हो जाता है, किन्तु इसके विपरीत अर्थश्लेष मे किसी अनेकार्थक शब्द का प्रयोग नही होता, अपितु एक अथवा कई एकार्थक शब्द स्वाभाविक रूप से दो अर्थों का कथन करते हैं, तथा इसमें किसी शब्द के स्थान पर उसका पर्यायवाची शब्द रख देने से किसी प्रकार की चमत्कार-हानि भी नही होती। उदाहरणार्थ—

करन कलित है चक्र नित पीताम्बर छबि चारु।
सेवक जन जड़ता हरन हरि ! श्रिय करहु अपारु॥

पहला अर्थ है—हे हरि अर्थात् हे विष्णु! आप के 'करन' अर्थात् हाथो में नित्य [सुदर्शन] चक्र शोभित रहता है, पीले अम्बर (वस्त्र) द्वारा आपकी शोभा अति सुन्दर है तथा आप सेवक जनो की मूर्खता को हरने वाले है, आप हमें अपार लक्ष्मी प्रदान करें।

दूसरा अर्थ है—हे हरि अर्थात् हे सूर्य ! आप 'करन' अर्थात् किरणो के द्वारा [काल रूपी] चक्र से सुशोभित है, तथा पीले अम्बर अर्थात् आकाश से आप की छवि सुन्दर है। इत्यादि।

इस पद्य मे 'करन', 'अम्बर' तथा 'हरि' शब्द द्व्यर्थक हैं, और इन्ही के कारण काव्य-चमत्कार है। इनके स्थान पर इनके पर्यायवाची शब्दो के रख देने से यह चमत्कार नष्ट हो जाएगा। अतः यह शब्दश्लेष का उदाहरण है। किन्तु इधर इसके विपरीत—

रंचहि सौं ऊंचे चढ़ैं रंचहि सौं घटि जांहि।
तुला-कोटि खल दुहु न की यही रीति जग मांहि॥

अर्थात्, इस जग मे तुला की डण्डी तथा खल दोनो की गति एक-समान है, क्योकि ये दोनों थोड़े मात्र से ऊंचे चढ़ जाते हैं और थोड़े मात्र से घट जाते है। इस पद्य में किसी अनेकार्थक शब्द का प्रयोग नही किया गया, 'रंचहि सौ ऊंचे चढौ, रचहि सो घट जांहि,' इन एकार्थक शब्दो का दूसरा अर्थ अश्लिष्ट पदो के प्रयोग के विना—स्वाभाविक रूप से—ही कथित हुआ है, तथा इनमे किसी शब्द के स्थान पर उसका पर्यायवाची शब्द रख देने से पद्य का काव्य-चमत्कार भी नष्ट नही होता। अतः यहां अर्थश्लेष है।

शब्दश्लेष को शब्दालंकार माना जाता है, और अर्थश्लेप को अर्थालंकार।

३. अभंगश्लेप : शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार

शब्दश्लेप के दो भेद माने जाते हैं सभंग और और अभंग। 'सभंग' से तात्पर्य है जहां दूसरे अर्थ का वोध शब्द को भंग करने पर ही प्राप्त हो, और

'अभंग' से तात्पर्य है जहां शब्द का भंग न करना पड़े, स्वयं उस शब्द के अर्थ ही एक से अधिक हों। उदाहरणार्थ—'हे पूतनामारण में सुदक्ष'। यहां कृष्ण पक्ष मे अर्थ है—'जो पूतना के मारण मे निपुण' है, तथा राम के पक्ष मे अर्थ है—'जो पूतनामा अर्थात् पवित्र नाम वाला है, तथा रण में निपुण है।' यहा 'पूतना-मारण' में सभंग श्लेष है। अभग श्लेप का उपर्युद्धृत उदाहरण है—'करन कलित है चक्र नित··· ।' (देखिए पृष्ठ २०४)

कतिपय आचार्य सभंग श्लेष को तो शब्दालंकार मानते हैं, किन्तु अभंग श्लेष को अर्थालकार मानते है। केवल सभंग श्लेष को शब्दालंकार स्वीकृत करने का कारण यह दिया जाता है कि 'जतुकाष्ठ-न्याय' के समान सभंग श्लेप के प्रसंग में पहले शब्द पर दूसरा शब्द विभिन्न होते हुए भी उस प्रकार चिपका रहता है जिस प्रकार काष्ठ पर जतु (गोद), और ये दोनो शब्द स्वर और प्रयत्न के उच्चारण की दृष्टि से नितान्त भिन्न होते हुए भी एक ही प्रतीत होते है। यदि 'पूतना-मारण में सुदक्ष' काष्ठ है, तो 'पूतनामा, रण मे सुदक्ष' जतु है, किन्तु ये दोनो विभिन्न न होकर एक है—परस्पर संश्लिष्ट हैं। अत. ऐसे पदो को शब्दश्लेष का उदाहरण मानना चाहिए।

इसके विपरीत अभग श्लेप को अर्थालकार मानने का यह कारण दिया जाता है कि इसमे दो शब्दों का नहीं अपितु दो अर्थो का ही सश्लेप रहता है। एक ही 'पीताम्वर' शब्द के दोनो अर्थ—'पीला वस्त्र' और 'पीला आकाश', परस्पर सश्लिष्ट है। अत. इसे अर्थालकार मानना चाहिए न कि शब्दालंकार। यहा संश्लिष्टता दो अर्थों की है न कि दो शब्दों की। अत यह अर्थश्लेप का ही विपय है, शब्दश्लेप का नही।

किन्तु मम्मट आदि परवर्ती आचार्य उक्त दोनों रूपो को शब्दश्लेप का ही विषय मानते है। सभग श्लेप तो शब्दश्लेप है ही। अभंग श्लेप के सम्वन्ध में भी उनका कथन है कि शब्दगतता और अर्थगतता का निर्णायक आधार उपर्युक्त 'अन्वय-व्यतिरेक-सम्वन्ध' ही है। उदाहरणार्थ उक्त 'पीताम्वर' पद को शब्दश्लेप का विषय मानने का आधार भी उक्त सम्वन्ध ही है। 'पीताम्वर' शब्द को हटाकर इसके स्थान पर इसके पर्यायवाची शब्द 'पीला वस्त्र' अथवा 'पीला आकाश' रख देने पर श्लेप का चमत्कार नष्ट हो जाएगा। अतः अभंग श्लेप भी शब्दश्लेप ही है।

वादी का कथन था कि इन प्रसगो मे दो अर्थों का संश्लेप है न कि दो शब्दो का। किन्तु इधर ये परवर्ती आचार्य 'अर्थभेदेन शब्दभेद' (अर्थात् अर्थभेद

के कारण एक अन्य शब्द की स्वीकृति कर लेनी चाहिए) तथा 'प्रत्यर्थं शब्दनिवेशः' (अर्थात् प्रत्येक अर्थ पृथक् शब्द का सूचक रहता है) के आधार पर 'पीताम्बर' शब्द को एक शब्द न मानकर दो पृथक्-पृथक् शब्द ही स्वीकार करते हैं। वस्तुतः देखा जाए तो वादी का उक्त आक्षेप सभग श्लेप पर भी एक रूप से घटित हो जाता है। यदि सभंग श्लेप में दो पृथक् शब्दों का संश्लेप होता है तो वहां अभंग श्लेप के समान दो पृथक् अर्थों का संश्लेप भी होता है। इस दृष्टि से वहाँ भी शब्दगतता और अर्थगतता दोनो पक्ष समान रूप से ही प्रबल हैं, अतः वहां किसी एक पक्ष का समर्थन करना समुचित नही है। अस्तु! इस निर्णय का एक ही आधार है, और वह है—अन्वय-व्यतिरेक-सम्बन्ध। यही कारण है कि अनुप्रास, यमक आदि अलकारो को भी, जिनमें अर्थ की भी अपेक्षा रहती है, शब्दालंकारो में परिगणित किया जाता है, न कि अर्थालंकारो में। इसी प्रकार अर्थश्लेप का निर्णायक तत्त्व भी उक्त सम्बन्ध ही है। उदाहरणार्थ—

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम्।
अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च॥

इस पद्य में तुला तथा खल की तुलना में जिन शब्दो का प्रयोग किया गया है उनके पर्यायवाची शब्द रख देने पर भी श्लेप का चमत्कार यथावत् बना रह जाता है, अतः यह अर्थश्लेप का विपय है न कि शब्दश्लेप का।

निष्कर्पतः अभग-श्लेप के समान सभग-श्लेप को भी शब्दालकार मानना चाहिए।

४. श्लेष अलंकार स्वतन्त्र है अथवा नहीं?

श्लेप अलंकार स्वतन्त्र रूप से रह सकता है अथवा नही, इस सम्बन्ध में ध्वनि-पूर्ववर्ती और ध्वनि-परवर्ती आचार्यों के बीच मतभेद है। इसी मत-भेद पर यहा प्रकाश डाला जा रहा है।[1]

●

उद्भट और रुय्यक का मन्तव्य है कि श्लेष अलंकार स्वतन्त्र रूप से कभी नही रहता, शास्त्रीय शब्दावलि में कहे तो श्लेप अलंकार अन्य अलं-कारो से विविक्त (रहित) कभी नही रहता। जहा इसकी स्थिति होगी वहां

---

१. विशेप विवरण के लिए देखिए—काव्यप्रकाश नवम उल्लास, साहित्य-दर्पण दशम परि०, काव्यानुशासन (हेमचन्द्र) पृष्ठ २३१-२३२।

कोई न कोई अन्य अलंकार अनिवार्यतः रहेगा, किन्तु इसका चमत्कार अन्य अलंकारो के चमत्कार को बाधित कर देता है, अतः वहा श्लेष अलकार स्वीकृत किया जाता है ।

इस सम्बन्ध में उनका प्रमुख तर्क यह है कि यदि श्लेष के होते हुए अन्य अलकार माने जाएगे तो श्लेप अलकार निर्विषय हो जाएगा, अर्थात् इसके उदाहरण नही मिलेंगे। यद्यपि ये आचार्य काव्यशास्त्र के [अथवा किसी भी अन्य शास्त्र के] इस नियम से भली-भाँति परिचित है कि 'जो सबसे अन्त्य मे प्रतीत हो वही प्रधान, पोष्य एवं उपस्कार्य माना जाता है', तथापि उनके विचार में श्लेष अलकार के प्रसग में यह नियम शिथिल करना पडेगा, अन्यथा किसी अन्य अलंकार की स्वीकृति कर लेने पर श्लेष सदा अप्रधान (पोपक) बना रहने के कारण अलकार-पद से च्युत हो जाएगा ।

किन्तु इधर मम्मट और विश्वनाथ इस स्थिति को सदा स्वीकार नही करते। इनके मत में श्लेप अलंकार कभी अन्य अलकारो से स्वतन्त्र रहता है और कभी नही रहता। जहां वह स्वतन्त्र नही रहता वहां कभी तो इसका चमत्कार अन्य अलकारो के चमत्कार को बाध देता है और कभी स्वय बाधित होकर उसका पोपक बन जाता है। इस प्रकार इन आचार्यो के मत में श्लेष अलंकार की स्थिति तीन विकल्पो में सम्भव है—

१. श्लेष स्वतन्त्र रूप मे रहता है ।

२. श्लेप अन्य अलंकारो का बाधक बन जाता है ।

३. श्लेप अन्य अलकारो का पोषक बन जाता है ।

इनमें से प्रथम दो विकल्प ही श्लेष अलकार से सम्बद्ध है।

सर्वप्रथम ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे है जहां केवल श्लेष अलंकार का चमत्कार है—

(१) है पूतनामारण में सुदक्ष, जघन्य काकोदर था विपक्ष ।
की किन्तु रक्षा उसकी दयालु, शरण ऐसे प्रभु है कृपालु ॥

अर्थात् [राम और कृष्ण] ये दोनो प्रभु, शरण देने वाले और कृपालु है। राम पूतनामा अर्थात् पवित्र नाम वाले है और रण में सुदक्ष (निपुण) है, कृष्ण पूतना-मारण में दक्ष (निपुण) है। राम अपने विपक्षी काकोदर (इन्द्र के पुत्र जयन्त) की रक्षा करने वाले है, और कृष्ण अपने विपक्षी कालीय सर्प की भी रक्षा करने वाले है।

इस पद्य में उद्भट और रुय्यक के अनुसार वस्तुतः तुल्ययोगिता नामक

अलकार होना चाहिए था, क्योकि इसमें दोनो प्रकृतो का, राम और कृष्ण का, एक धर्म से सम्बन्ध बताया गया है, पर श्लेप का चमत्कार तुल्ययोगिता के चमत्कार पर आच्छादित हो गया है। अतः यहां श्लेप अलंकार है।

किन्तु मम्मट और विश्वनाथ के मत में यहा केवल श्लेप का ही चमत्कार है। यहां तुल्ययोगिता अलकार प्राप्त ही नही है। प्रथम तो राम और कृष्ण इन दोनो प्रकृत पक्षो का यहां एक धर्म से सम्बन्ध स्थिर ही नही किया गया। जैसे राम 'पूतनामा और रण में सुदक्ष' है, तो कृष्ण 'पूतना-मारण में सुदक्ष' है, इत्यादि। और दूसरे, इस पद्य में कवि को उक्त दोनो पक्षो के वाच्यार्थ अभीप्ट हैं और यही श्लेप का विपय है। अतः यहां श्लेप अलंकार पूर्णतः स्वतन्त्र रूप से ही है।

इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत है—

(२) येन ध्वस्तमनोभवेन वलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो।
यश्चोद्वृत्तभुजंगहारवलयोगङ्गां च योऽधारयत्॥
यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्य च नामामराः।
पायात् स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः॥

—अलंकारसर्वस्व पृष्ठ १२२, सा० द० १०।१२ (वृत्ति)

इस पद्य में भी कवि को दोनो पक्षो [माधव अर्थात् विष्णु, और उमाधव अर्थात् उमा का धव (पति) अर्थात् महादेव] के अर्थ अभीष्ट हैं और ये दोनो ही वाच्यार्थ है। इसके अतिरिक्त यहाँ कोई अन्य अलंकार भी नही है। अतः यहाँ मम्मट और विश्वनाथ के मत में श्लेप अलंकार है।

उधर उद्भट और रुय्यक के मत में भी यहा श्लेप अलंकार है, यद्यपि वस्तुतः यहां तुल्ययोगिता अलंकार प्राप्त था, क्योकि दो प्रस्तुत विपयो का एक धर्म से सम्बन्ध बताया गया है। जैसे, विप्णुपक्ष मे—अगं गां च योऽधारयत्, जिसने [कृष्णरूप से] अग (गोवर्द्धन पर्वत) को, और [कूर्मरूप से] गो (पृथ्वी) को धारण किया था। महादेव-पक्ष मे— गगां च योऽधारयत्, जिसने गंगा को धारण किया था। किन्तु तुल्ययोगिता का यह चमत्कार श्लेप के चमत्कार द्वारा वाधित हो जाता है।

निष्कर्पतः दोनो प्रकार के आचार्य यहाँ श्लेप अलकार ही स्वीकार करते हैं, किन्तु अपने-अपने दृष्टिकोण से।

●

अब दूसरे प्रकार के ऐसे उदाहरण प्रस्तुत है जहाँ किसी अन्य अलंकार

के रहते हुए भी श्लेप का चमत्कार प्रमुखत: स्वीकार किया जाने के कारण उन्हे श्लेप अलंकार का ही उदाहरण माना जाता है—

नीतानामाकुलीभाव लुब्धैर्भूरिशिलीमुखै. ।
सदृशे वनवृद्धानां कमलानां तदीक्षणे ॥ सा०द०१०।११ (वृत्ति)

अर्थात्, इस [सुन्दरी] की आँखें कमलो अर्थात् पद्मो और हरिणियो के सदृश हैं (मृगभेदेऽपि कमल: इति मेदिनीकोश.)। एक ओर पद्म तो अनेक लुब्ध (लोभी) शिलीमुखो (भ्रमरो) से आकुलीभाव (सकुलता) को प्राप्त वन (जल) में बढ़े हुए है, और दूसरी ओर मृग अधिक शिलीमुख (वाणो) वाले लुब्धो (शिकारियो) द्वारा आकुलीभाव (त्रासभाव) को प्राप्त हैं, तथा वन (जंगल) मे पडे हुए है।

उद्‌भट और रुय्यक के अनुसार इस पद्य में भी यद्यपि तुल्ययोगिता अलंकार प्राप्त है, क्योंकि यहा दो अप्रकृतो पद्म और हरिणी का एक धर्म से सम्वन्ध स्थापित किया गया है[1], किन्तु श्लेप का चमत्कार इस अलकार के चमत्कार को आच्छादित कर देता है। तुल्ययोगिता का चमत्कार श्लेष के आगे गौण है, वह इस अलंकार के चमत्कार का पोपण करता है। अत यहां श्लेप अलकार है। ठीक यही स्थिति मम्मट और विश्वनाथ को भी स्वीकृत है।

इस प्रकार श्लेप की इस दूसरी स्थिति में ये दोनो प्रकार के आचार्य परस्पर एक ही आधार पर सहमत है।



अब तीसरे प्रकार के उदाहरण लीजिए जहाँ मम्मट और विश्वनाथ के मत मे श्लेप स्वयं गौण वन कर किसी अन्य अलंकार की पुष्टि करता है। विरोधाभास और परिसख्या अलंकारो के उदाहरण इसी श्रेणी मे आते हैं—

(क) सन्निहितवालान्धकारा भास्वन्मूर्तिश्च।

इस कथन में विरोध यह है कि 'वाल (अप्रौढ) अन्धकार जिसके पास रहता है, ऐसे भास्वान् (सूर्य) की मूर्ति,' और इसका परिहार यह है कि वह (सुकन्या) वाल (केश) रूप अन्धकार जिसके पास रहता है ऐसी भास्वत् (चमकदार) मूर्ति वाली है। इस प्रकार यहाँ 'वाल' और 'भास्वत्' शव्दो में श्लेप का चमत्कार विरोधाभास के चमत्कार का पोपक है। अत. यहा 'श्लेप' की

---

1. साहित्यदर्पण की शालग्राम-कृत विमला टीका में इसे दीपक अलंकार का उदाहरण वताया गया है।

इसी प्रसग से सम्बद्ध एक शंका मम्मट एवं विश्वनाथ ने उपस्थित की है कि यदि 'सकलकलम् ' ··· 'इत्यादि स्थलो मे उपमा के स्थान पर शब्द-श्लेष का चमत्कार माना जाए तो 'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्' इस उदाहरण में पूर्णोपमा के स्थान पर अर्थश्लेष ही मानना चाहिए, क्योकि 'मनोज्ञ' शब्द द्व्यर्थक न सही, पर कमल की 'मनोज्ञता' और मुख की 'मनोज्ञता' में तो अन्तर है ही, अर्थश्लेष की परिभाषा भी यही है—

शब्दैः स्वभावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थवाचनम् । (सा० द० १०।५८)

स्पष्ट है कि 'मनोज्ञ' शब्द का यहाँ 'सौन्दर्य' की ओर संकेत है जो कि कमलगत सौन्दर्य और मुखगत सौन्दर्य दोनों का वाचक है। इन दोनो सौन्दर्यों मे निस्सन्देह पार्थक्य एवं अन्तर है। अतः जिस प्रकार 'सकलकलम् ' ' इस उपर्युक्त उदाहरण में उपमा को गौण समझ कर शब्दश्लेप माना जाता है, उसी प्रकार 'कमलमिव मुखं मनोज्ञम्' में भी उपमा को गौण समझ कर अर्थश्लेप मानना चाहिए। किन्तु मम्मट का यह तर्क अत्यन्त सूक्ष्म होते हुए भी इस दृष्टि से अमान्य है कि यहा भी सहृदय का भावोद्वेलन ही निर्णायक आधार है। स्वय मम्मट और विश्वनाथ के अनुसार 'कमलमिव मुख मनोज्ञम्' में यदि उपमा अलंकार का चमत्कार मान्य है, और निम्नोक्त पद्य—

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम् ।
अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च ॥

में अर्थश्लेष का, (यद्यपि दोनों में साम्यता-तत्त्व लगभग एक समान है, तो इसका एक मात्र कारण सहृदय का भावोद्वेलन ही है। अत· केवल इसी आधार पर 'सकलकलम् आदि कथनों में कवि द्वारा साम्यता के उद्दिष्ट रहने पर भी सहृदय का पलडा अत्यधिक भारी मान कर शब्दश्लेष स्वीकार करना चाहिए, उपमा नही।

निष्कर्षतः—

१. श्लेष अलंकार का क्षेत्र स्वतन्त्र भी रहता है, तथा अन्य अलंकारों से युक्त भी।

२. जहां श्लेप के साथ अन्य अलंकार रहते हैं वहां कभी यह उनसे पुष्ट होता है और कभी उनका पोषक रहता है।

३. किन्तु उक्त तीनों स्थितियों का निर्णायक आधार सहृदय का भावोद्वेलन है, न कि कवि की विवक्षा।

*

: १९ :

हेतु, सूक्ष्म और लेश अलंकार

उद्भट अलंकार-सम्प्रदाय के एक स्तम्भ माने जाते है। उनका 'काव्यालंकारसारसंग्रह' नामक ग्रन्थ अलंकार-निरूपक ग्रन्थ है। उनका 'भामह-विवरण' ग्रन्थ शताब्दियो पर्यन्त अप्राप्य रहा है।[1] 'भामह-विवरण' नाम से प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ अलकार-सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य भामह के 'काव्यालकार' का विवरण (व्याख्या, टीका, भाष्य आदि) प्रस्तुत करता होगा, या उसी के आधार पर निर्मित अलकार-सम्प्रदाय का एक व्याख्यात्मक ग्रन्थ रहा होगा। तात्पर्य यह कि भामह और दण्डी के समान उद्भट भी अलकारवादी आचार्य थे।

यदि इन तीनों आचार्यो के अलकार-प्रकरणो की तुलना की जाए तो दण्डी प्राय. भामह के उपजीव्य ठहरते है, और उद्भट प्राय भामह और दण्डी दोनो के —अलंकारो के स्वरूप-निर्धारण मे भी और अलकारों के क्रम-विन्यास में भी। हाँ, दण्डी ने भामह द्वारा प्रस्तुत, और उद्भट ने भामह और दण्डी द्वारा प्रस्तुत कतिपय अलंकारो को अपने ग्रन्थो में स्थान नही दिया। इनके सम्बन्ध मे यह शंका उपस्थित होती है कि उत्तरोत्तर एक दूसरे के उपजीव्य होते हुए भी पुराने अलंकारो को छोड़ने के सम्बन्ध में इनका क्या दृष्टिकोण रहा होगा। उदाहरणार्थ, उद्भट ने अन्य अलकारो के अतिरिक्त हेतु, सूक्ष्म और लेश अलकारो को अपने ग्रन्थ में स्थान नही दिया, जबकि इनसे पूर्ववर्ती दोनो आचार्यों ने इन्हे किसी न किसी रूप में उल्लिखित किया है। 'काव्यालकारसारसग्रह' के सम्पादक श्री० नारायणदास बनहट्टी ने अपनी भूमिका में इस स्वाभाविक शंका का समाधान करने का प्रयास किया है। उन्होने कश्मीरी और अकश्मीरी काव्यशास्त्रियो में अन्तर निर्धारित करते हुए अनेक कारणो मे से एक कारण यह भी दिया कि कश्मीरी आचार्यो ने उक्त तीनो अलंकारो को नही माना, और अकश्मीरी आचार्यों ने इन्हे माना है। कश्मीरी आचार्यों मे उन्होने भामह, उद्भट, रुद्रट,

---

१. देखिए पृष्ठ १४, पादटिप्पणी १

स्वीकृति न होकर विरोधाभास अलंकार माना जाता है। इसी प्रकार—

(ख) यस्मिंश्च राजनि जितजगति चित्रकर्मसु वर्णसंकराश्चापेषु गुणच्छेदाः × × ×, इत्यादि।

अर्थात्, जगत् को जीतने वाले उस राजा के राज्य में चित्रकारी में ही वर्णों (रंगों) का संकर (सम्मिश्रण) होता था [अन्यथा 'वर्णसकर' नहीं था], धनुषों में ही गुणों (रस्सियों) का विच्छेद होता था [अन्यथा गुणों का कहीं नाश नहीं होता था।] इस कथन में भी श्लेष का चमत्कार परिसंख्या के चमत्कार का पोषक है। अतः यहाँ परिसंख्या अलकार ही है।

०

इसी प्रसंग के सन्दर्भ में अब रुद्रट का निम्नोक्त कथन उल्लेखनीय है। इससे विषय के स्पष्टीकरण में एक नयी दिशा मिलेगी—

स्फुटमर्थालंकारावेतावुपमासमुच्चयौ किंतु।
आश्रित्य शब्दमात्र सामान्यमिहापि संभवतः॥ का० अ० ४।३२

अर्थात्, यद्यपि उपमा और समुच्चय ये दोनों स्पष्टतः अर्थालंकार है, किन्तु ये दोनों अलंकार [प्रकृत और अप्रकृत दोनों पक्षों के लिये] सामान्य अर्थात् एक-समान शब्दों को धारण करते हुए भी सम्भव होते है।

इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि उपमा और समुच्चय अर्थालंकार हैं, किन्तु ये दोनों शब्दगत समानता पर [भी] आधारित रहते है। रुद्रट के इसी कथन को उद्धृत करते हुए मम्मट और उनके अनुकरण पर विश्वनाथ ने यह निष्कर्ष निकाला कि उपमा अलंकार के अन्तर्गत उपमेय और उपमान में गुण और क्रिया का साम्य तो होता ही है, साथ ही उनमें शब्द-साम्य भी रहता है। उदाहरणार्थ—

सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव।

अर्थात्, यह नगर अब चन्द्र-बिम्ब के समान हो गया है, [क्योंकि एक ओर] चन्द्रबिम्ब 'सकलकल' है, अर्थात् सकल कलाओं से युक्त है, [तो दूसरी ओर] यह नगर भी 'सकलकल' अर्थात् कलकल (शोर) से युक्त है।

यह उदाहरण रुद्रट-प्रस्तुत नहीं है, जो मम्मट और विश्वनाथ ने प्रस्तुत करते हुए कहा है कि यहाँ उपमा अलंकार मानना चाहिए, श्लेष अलंकार नहीं। यह उपमा 'सकलकल' इस शब्द-साम्य पर आधारित है। किन्तु हमारा विचार है कि यहाँ श्लेष का ही चमत्कार है। निस्सन्देह यहाँ कवि का उद्दिष्ट उपमा की स्थापना है, किन्तु यह रूप श्लेष से ही चमत्कृत होना

है, उपमा का चमत्कार उसे गौण प्रतीत होता है, यहां तक कि सुरुचिपूर्ण पाठक को ऐसे स्थलो में उपमा हास्यास्पद-सी प्रतीत होती है। वस्तुत. कवि की विवक्षा से बढ़कर सहृदय का भावोद्वेलन ही काव्यगत सौन्दर्य का निर्णायक होता है। अतः उक्त कथन में उपमा अलंकार के स्थान पर श्लेष अलंकार ही मानना चाहिए। वस्तुत. यहां भी वही स्थिति मान्य है जिसे 'नीतानामाकुलीभावम् ··· 'उपर्युक्त पद्य में दोनो प्रकार के आचार्यो ने स्वीकार करते हुए तुल्ययोगिता के स्थान पर श्लेष का चमत्कार माना था। अस्तु ! हां, 'सकलकलम् ··· ' इस कथन मे यदि हम चाहे तो श्लेप को उपमापुप्ट, उपमाश्रित, उपमाजन्य, उपमामूलक, उपमागर्भित आदि में से किसी एक विशेषण के साथ समन्वित कर सकते है। जव श्लेपमूलक विरोधाभास, परिसख्या आदि अनेक अलंकार स्वीकृत किये जाते है तो उपमामूलक श्लेप अलकार स्वीकृत करने में भी कोई आपत्ति नही होनी चाहिए। ठीक यही स्थिति रहीम के निम्नोक्त दोहे की भी है। यहां भी उपमा के स्थान पर श्लेष अलकार ही मान्य है—

ज्यों रहीम गति दीप की, कुल कपूत गति सोय।
बारे उजियारो करै बढ़े अन्धेरो होय॥

वस्तुत. मम्मट और विश्वनाथ को उक्त उद्धृत कारिका से पूर्व रुद्रट की इससे पहली कारिका भी उद्धृत करनी चाहिए थी—

भाषाश्लेषविहीनः स्पृशति प्रायोऽन्यमप्यलकारम्।
धत्ते वैचित्र्यमयं सुतरामुपमासमुच्चययो॥ का०अ० ४।३१

अर्थात् 'भापा-श्लेप को छोड़कर [अपने इतर प्रकारो से युक्त] यह [श्लेप अलकार] अन्य अलंकारो का भी प्रायः स्पर्श करता है, [और जव वह] उपमा और समुच्चय का [स्पर्श करता है तो अत्यधिक] वैचित्र्य (चमत्कार) को धारण कर लेता है। वस्तुत रुद्रट यहां दण्डी के इस कथन से ही प्रभावित हैं कि 'श्लेष अलंकार प्राय' सभी वक्रोक्तियो (अर्थात् अलकारो) की शोभा को वढ़ा देता है—श्लेष. सर्वासु पुष्णाति प्रायः वक्रोक्तिषु श्रियम्। (का०द०२।२६३)

इस प्रकार हमने देखा कि रुद्रट के उक्त कथन में मूल प्रसग श्लेप का है, और इसी के ही अधिक चमत्कार धारण करने की चर्चा उन्हे अभीष्ट है। स्वयं उनका उक्त उदाहरण—'सुरचितवराहवपुषस्तव च हरेश्चोपमा घटते' इसी तथ्य की पुष्टि करता है कि यहाँ उपमामूलक श्लेप है—प्रस्तुत नृप और अप्रस्तुत विष्णु के औपम्य से वढ़ कर यहाँ श्लेप का ही चमत्कार सहृदयहृदयहारी है।

इसी प्रसग से सम्बद्ध एक शंका मम्मट एव विश्वनाथ ने उपस्थित की है कि यदि 'सकलकलम् ...' इत्यादि स्थलो में उपमा के स्थान पर शब्द-श्लेष का चमत्कार माना जाए तो 'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्' इस उदाहरण में पूर्णोपमा के स्थान पर अर्थश्लेप ही मानना चाहिए, क्योकि 'मनोज्ञ' शब्द द्वयर्थक न सही, पर कमल की 'मनोज्ञता' और मुख की 'मनोज्ञता' में तो अन्तर है ही, अर्थश्लेष की परिभाषा भी यही है—

शब्दैः स्वभावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थवाचनम् । (सा० द० १०।५८)

स्पष्ट है कि 'मनोज्ञ' शब्द का यहाँ 'सौन्दर्य' की ओर संकेत है जो कि कमलगत सौन्दर्य और मुखगत सौन्दर्य दोनो का वाचक है । इन दोनो सौन्दर्यो मे निस्सन्देह पार्थक्य एव अन्तर है । अतः जिस प्रकार 'सकलकलम् ' इस उपर्युक्त उदाहरण में उपमा को गौण समझ कर शब्दश्लेप माना जाता है, उसी प्रकार 'कमलमिव मुखं मनोज्ञम्' में भी उपमा को गौण समझ कर अर्थश्लेष मानना चाहिए । किन्तु मम्मट का यह तर्क अत्यन्त सूक्ष्म होते हुए भी इस दृष्टि से अमान्य है कि यहा भी सहृदय का भावोद्वेलन ही निर्णायक आधार है । स्वयं मम्मट और विश्वनाथ के अनुसार 'कमलमिव मुख मनोज्ञम्' में यदि उपमा अलकार का चमत्कार मान्य है, और निम्नोक्त पद्य—

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम् ।
अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च ॥

में अर्थश्लेप का, (यद्यपि दोनो में साम्यता-तत्त्व लगभग एक समान है, तो इसका एक मात्र कारण सहृदय का भावोद्वेलन ही है । अत. केवल इसी आधार पर 'सकलकलम् आदि कथनो में कवि द्वारा साम्यता के उद्दिष्ट रहने पर भी सहृदय का पलडा अत्यधिक भारी मान कर शब्दश्लेष स्वीकार करना चाहिए, उपमा नही ।

निष्कर्षतः—

१. श्लेष अलंकार का क्षेत्र स्वतन्त्र भी रहता है, तथा अन्य अलंकारों से युक्त भी ।

२. जहां श्लेष के साथ अन्य अलंकार रहते हैं वहां कभी यह उनसे पुष्ट होता है और कभी उनका पोषक रहता है ।

३. किन्तु उक्त तीनों स्थितियों का निर्णायक आधार सहृदय का भावोद्वेलन है, न कि कवि की विवक्षा ।

★

: १६ :

हेतु, सूक्ष्म और लेश अलंकार

उद्‌भट अलंकार-सम्प्रदाय के एक स्तम्भ माने जाते हैं। उनका 'काव्यालंकारसारसंग्रह' नामक ग्रन्थ अलंकार-निरूपक ग्रन्थ है। उनका 'भामह-विवरण' ग्रन्थ शताब्दियो पर्यन्त अप्राप्य रहा है।[1] 'भामह-विवरण' नाम से प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ अलंकार-सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य भामह के 'काव्यालकार' का विवरण (व्याख्या, टीका, भाष्य आदि) प्रस्तुत करता होगा, या उसी के आधार पर निर्मित अलंकार-सम्प्रदाय का एक व्याख्यात्मक ग्रन्थ रहा होगा। तात्पर्य यह कि भामह और दण्डी के समान उद्‌भट भी अलकारवादी आचार्य थे।

यदि इन तीनो आचार्यो के अलंकार-प्रकरणो की तुलना की जाए तो दण्डी प्रायः भामह के उपजीव्य ठहरते है, और उद्‌भट प्रायः भामह और दण्डी दोनो के —अलकारो के स्वरूप-निर्धारण में भी और अलंकारों के क्रम-विन्यास में भी। हाँ, दण्डी ने भामह द्वारा प्रस्तुत, और उद्‌भट ने भामह और दण्डी द्वारा प्रस्तुत कतिपय अलंकारो को अपने ग्रन्थों में स्थान नही दिया। इनके सम्बन्ध मे यह शंका उपस्थित होती है कि उत्तरोत्तर एक दूसरे के उपजीव्य होते हुए भी पुराने अलंकारो को छोड़ने के सम्बन्ध में इनका क्या दृष्टिकोण रहा होगा। उदाहरणार्थ, उद्‌भट ने अन्य अलकारो के अतिरिक्त हेतु, सूक्ष्म और लेश अलकारो को अपने ग्रन्थ में स्थान नही दिया, जबकि इनसे पूर्ववर्ती दोनो आचार्यों ने इन्हे किसी न किसी रूप में उल्लिखित किया है। 'काव्यालकारसारसग्रह' के सम्पादक श्री० नारायणदास बनहट्टी ने अपनी भूमिका में इस स्वाभाविक शंका का समाधान करने का प्रयास किया है। उन्होने कश्मीरी और अकश्मीरी काव्यशास्त्रियों मे अन्तर निर्धारित करते हुए अनेक कारणो मे से एक कारण यह भी दिया कि कश्मीरी आचार्यो ने उक्त तीनो अलंकारो को नही माना, और अकश्मीरी आचार्यों ने इन्हे माना है। कश्मीरी आचार्यो मे उन्होने भामह, उद्‌भट, रुद्रट,

---

१. देखिए पृष्ठ १४, पादटिप्पणी १

रुय्यक और मम्मट का उल्लेख किया और अकश्मीरी आचार्यों में दण्डी, वामन, भोजराज, हेमचन्द्र और वाग्भट (वाग्भटालंकार के कर्त्ता) का।[1]

किन्तु यदि इन आचार्यों के ग्रन्थों को इस दृष्टि से देखें तो वस्तुस्थिति किंचित् भिन्न प्रतीत होती है। एक ओर कश्मीरी आचार्यों में रुद्रट ने इन तीनों अलकारो का निरूपण किया है; तथा मम्मट ने हेतु और लेश को तो नही माना पर सूक्ष्म को माना है। दूसरी ओर अकश्मीरी आचार्यों में वामन, हेमचन्द्र और वाग्भट ने इन तीनो अलंकारो को स्थान नही दिया, और भोजराज ने हेतु और सूक्ष्म को तो स्थान दिया, पर लेश को नही। और, इस अध्ययन से इन अलकारो के स्वरूप के सम्बन्ध में एक रोचक सी विवरणात्मक गाथा हमारे सम्मुख आ जाती है, जिससे प्रतीत होता है कि ये अलंकार प्रारम्भ से ही विवादास्पद रहे है।

७

भामह ने अलंकारों के सम्बन्ध में 'वक्रोक्ति' को एक अनिवार्य तत्त्व ठहराया है।[2] वक्रोक्ति से उनका तात्पर्य परवर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत शब्दालकार नामक एक अलकार नही है। उनका यह शब्द पारिभाषिक है, जिसका अभिप्राय है—विशेष प्रकार का चमत्कारपूर्ण कथन। भामह के मत में हेतु, सूक्ष्म और लेश को अलकार नही मानना चाहिए, क्योंकि ये अलंकार 'वक्रोक्ति' का अभिधान न करके 'समुदाय' का ही अभिधान करते है—

हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः।
समुदायाऽभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः॥ का०अ० २।८६

'समुदाय' शब्द से भामह का तात्पर्य क्या था—इसका यथावत् उत्तर दे सकना कठिन है, तो भी उक्त कथन से प्रतीत होता है कि 'समुदाय' से उनका अभिप्राय होगा वक्रोक्ति का अभाव। इसी प्रसग में उन्होंने 'वार्त्ता' शब्द का भी प्रयोग किया है—

गतोऽस्तमर्कः भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्त्तामेनां प्रचक्षते॥ का० अ० २।८७

---

१. काव्यालंकारसारसंग्रह (पूना-सस्करण), इण्ट्रोडक्शन, पृष्ठ १७-२०

२. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥ काव्यालकार २।८५।

अर्थात् 'सूर्य डूब रहा है,'[1] चन्द्रमा चमक रहा है, पक्षी अपने घोंसलो को जा रहे हैं' इस वाक्य को काव्य कौन कहेगा ? यह तो केवल 'वार्त्ता' मात्र है।

उक्त स्थलो के आधार पर कहा जा सकता है कि भामह के मत में—

(१) 'वार्त्ता' और 'समुदाय' शब्द परस्पर पर्याय-से है, और 'वक्रोक्ति' शब्द के विपरीतार्थक है।

(२) यदि 'वक्रोक्ति' साधारण वार्त्ता से ऊपर उठ कर असाधारण एव चमत्कारपूर्ण कथन-विशेष है तो 'वार्त्ता' अथवा 'समुदाय' शब्द साधारण वातचीत के समानार्थक हैं।

(३) उक्त हेतु, सूक्ष्म और लेश अलंकार वक्रोक्ति-तत्त्व से शून्य होने के कारण अलकार-कोटि में नही आने चाहिएं, ये केवल वार्त्ता-मात्र हैं।

●

१. हेतु

किन्तु आगे चल कर दण्डी ने भामह का खुले शब्दो में प्रतिवाद करते हुए कहा कि ये तीनो तो वाणी के उत्तम भूषण हैं: हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम्। (काव्यादर्श २।२३५)। दूसरे शब्दो मे, इन्हे भामह के समान अलकार न मानने का प्रश्न ही उपस्थित नही होता। भामह ने 'सूर्य डूब गया है ... ...'आदि जिस वाक्य को 'वार्त्ता' मात्र माना था, दण्डी ने उसे ही उद्धृत करते हुए कहा कि यह वाक्य एक कालावस्था अर्थात् संध्याकाल का ज्ञापक है—

गतोऽस्तमर्कः भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इतीदमपि साध्वेव कालावस्थानिवेदने॥ काव्यादर्श २।२४४

अतः यहां उन्होने हेतु अलंकार के दो भेदो—कारक हेतु और ज्ञापक हेतु— में से ज्ञापक हेतु की स्वीकृति की है। इस प्रकार दण्डी के मत में ज्ञापक हेतु वहाँ मानना चाहिए जहां केवल कारण के कथन-मात्र से कार्य अथवा अभीष्ट कथन स्वतः ज्ञाप्य हो जाए।

दण्डी के इस कथन से यह भी प्रतीत होता है कि भामह के उक्त पद्य मे विवेच्य तीन अलकारो में से केवल हेतु अलकार का ही उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, शेप दो अलकारो का नही।

---

१. 'गतोऽस्तमर्कः' यह उदाहरण काव्यशास्त्रियों में बहुचर्चित रहा है। इसे ध्वनिवादियों ने वस्तु-ध्वनि के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया है।

०

भामह के समय मे हेतु अलंकार का प्रचलित स्वरूप क्या होगा इसका निश्चय करना कठिन है। जिस उपर्युक्त उदाहरण में भामह ने अलकार नही माना, उसी में दण्डी ने ज्ञापक हेतु माना है। यदि दण्डी की यह धारणा भामह की प्रतिक्रिया-स्वरूप है तो भामह के समय में हेतु अलंकार का स्वरूप वही स्वीकृत करना चाहिए जो दण्डी के समय में था। इधर दण्डी ने भी इसका लक्षण प्रस्तुत नही किया। इनके उदाहरणों से ज्ञात होता है कि कारण और कार्य का एक साथ रहना दण्डिसम्मत हेतु अलंकार है। कार्य के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह सदा शब्दोपात्त रहे, प्रतीयमान भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, उक्त 'गतोऽस्तमर्कः ····' आदि पद्य में केवल कारणों अथवा ज्ञापकों का निर्देश किया गया है, सन्ध्या-रूप कार्य अथवा ज्ञाप्य प्रतीयमान है। इसी प्रसंग मे दण्डी का एक और उदाहरण लीजिए जिसमे उन्होने उक्त उदाहरण के समान कार्य (ज्ञाप्य) को भी शब्दोपात्त रखा है—'हे सखि ! तेरा काम-पीड़ित मन तेरे शरीर की गर्मी से स्पष्ट बोधित हो रहा है, जो न तो चन्द्रमा की किरणों द्वारा नष्ट होती है, और न चन्दन-जल द्वारा साध्य होती है'—

अवध्यैरिन्दुपादानामसाध्यैश्चन्दनाम्भसाम् ।
देहोष्मभिः सुबोधं ते सखि कामातुर मनः ॥ काव्यादर्श २।२४५

'तेरा मन कामातुर है' यह ज्ञाप्य वाक्य है, जिसे स्पष्ट शब्दो द्वारा कह दिया गया है।

उक्त दोनो उदाहरण ज्ञापक हेतु के थे। कारक हेतु से इसका अन्तर समझने के लिए दण्डि-प्रस्तुत कारक हेतु का एक उदाहरण लीजिए—'यह मलय-पवन चन्दन-वन को कम्पित करके तथा मलय पर्वत के झरनो का स्पर्श करके पथिको के विनाश के लिए उपस्थित हुआ है'—

चन्दनारण्यमाधूय स्पृष्ट्वा मलयनिर्झरान् ।
पथिकानामभावाय पवनोऽयमुपस्थितः ॥ काव्यादर्श २।२३८

यहा पथिको का विनाश 'कार्य' है, तथा मलयपवन 'कारक हेतु' है। इस प्रकार दण्डी के मन में हेतु अलंकार के उपर्युक्त तीन प्रमुख रूप हैं।

•

हेतु अलंकार की प्रथम बार स्पष्ट परिभाषा रुद्रट ने प्रस्तुत की—

कार्य के साथ कारण का अभेद-कथन ।[1] किन्तु हेतु का यह स्वरूप दण्डि-प्रस्तुत स्वरूप से भिन्न हो गया । कारण और कार्य का एक-साथ रहना अलग बात है और कारण और कार्य का अभेद-कथन अलग बात । उदाहरणार्थ, निम्नोक्त पद्यार्थ में कारण और कार्य का अभेद-कथन होने के कारण रुद्रट ने हेतु अलकार माना है—'यह सुन्दर [वसन्त-] काल अब आ गया है जो कि बहुत से कमलो का विकास है, सकल भ्रमरो का मद है, कोकिलो का आनन्द है, तथा लोगों को उत्कण्ठित करने वाला है ।'[2] इस कथन मे वसन्त-काल को 'कमलों का विकास करने वाला' आदि न कहा जाकर 'कमलो का विकास' आदि कहा जाने के कारण हेतु अलंकार की स्वीकृति की गयी है। इसी प्रसंग मे एक अन्य उदाहरण रुद्रट-कृत काव्यालंकार के टीकाकार नमिसाधु ने प्रस्तुत किया है—

आयुर्घृतं नदी पुण्यं भयं चौरः सुखं प्रिया ।
वैरं द्यूतं गुरुर्ज्ञानं श्रेयो ब्राह्मणपूजनम् ॥

—काव्यालकार ७ । ८३ (टीकाभाग)

इन उदाहरणो से स्पष्ट है कि रुद्रट का हेतु अलकार दण्डी के हेतु अलंकार से भिन्न हो गया है ।

रुद्रट के उपरान्त उत्तरध्वनिकाल में केवल भोजराज, अग्निपुराणकार और अप्पय्यदीक्षित ने हेतु अलकार की परिभाषा प्रस्तुत की । इनमें से अग्नि-पुराण की परिभाषा में दण्डि-सम्मत स्वरूप की छाया है,[3] भोजराज की परि-भाषा में कोई नवीनता नही है,[4] और अप्पय्यदीक्षित-सम्मत हेतु की परिभाषाओ मे दण्डी और रुद्रट दोनो के मतो की स्वीकृति है—कारण और कार्य का एक साथ वर्णन भी हेतु कहाता है, तथा कारण और कार्य की एकता को भी हेतु कहते है ।[5]

---

१ हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदकृद् भवेद् यत्र ।
सोऽलंकारो हेतुः स्याद् × × × ॥ काव्यालंकार ७।८२

२ अविरलकमलविकासः सकलालिमदश्च कोकिलानन्दः ।
रम्योऽयमेति सम्प्रति लोकोत्कण्ठाकरः कालः ॥ वही ७।८३

३. सिषाधयिषितार्थस्य हेतुर्भवति साधक. ।
कारको ज्ञापकश्चेति द्विधा सोऽप्युपजायते ॥ अग्निपुराण ३३४।२६,३०

४. सरस्वतीकण्ठाभरण ३।१२

५. (क) हेतोर्हेतुमता सार्धं वर्णनं हेतुरुच्यते ।
(ख) हेतुर्हेतुमतोरैक्यं हेतुं केचित् प्रचक्षते । कुवलयानंद १६७, १६८

किन्तु दण्डी और अप्पय्यदीक्षित के बीच 'हेतु' की अवहेलना भी होती रही—एक तो इस रूप में कि भोजराज आदि उपर्युक्त तीन आचार्यों को छोड़कर किसी ने इसका नामोल्लेख तक नही किया, और दूसरी इस रूप मे कि मम्मट जैसे तत्त्ववेत्ता आचार्य ने स्पष्ट शब्दो में इसका खण्डन प्रस्तुत करके भामह की पुन:स्मृति दिला दी। प्रथम प्रकार की अवहेलना इतनी चिन्त्य नही है जितनी कि दूसरी प्रकार की। मम्मट के खण्डन का आधार वही रहा जो भामह का था। अन्तर केवल शब्दावलि में है। भामह ने इसमें 'वक्रोक्ति के अनभिधान' के कारण इसकी अस्वीकृति की, और मम्मट ने 'वैचित्र्य के अभाव' के कारण। रुद्रट-सम्मत 'हेतु' के स्वरूप का खण्डन करते हुए उन्होने इसका अन्तर्भाव काव्यलिंग अलकार में स्वीकृत किया है—

'हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदतो हेतुः।' इति हेत्वलंकारो न लक्षित.। 'आयुर्घृतम्' इत्यादिरूपो ह्येष न भूषणतां कदाचिदर्हति वैचित्र्याभावात्। 'अविरलकमलविकासः ' इत्यत्र काव्यरूपतां कोमलानुप्रासमहिम्नैव समाम्नासिपुर्न पुनर्हेत्वलकारकल्पनयेति पूर्वोक्तकाव्यलिंगमेव हेतुः॥

—काव्यप्रकाश १०।५२५ पद्य (वृत्ति)

किन्तु मम्मट की यह मान्यता विचारणीय है। एक ओर 'आयुर्घृतम्' जैसे वाक्यो मे उनके कथनानुसार वैचित्र्य के अभाव के कारण 'हेतु अलंकार' के सद्भाव का प्रश्न ही उपस्थित नही होता [यद्यपि 'आयुर्घृतम्' मे उन्होने स्वय सारोपा लक्षणा की स्वीकृति की है], और दूसरी ओर 'अविरलकमलविकासः ' जैसे पद्यो मे प्रथम तो उक्त अभाव के कारण 'हेतु' अलंकार नही है, और यदि स्वीकृत कर भी लिया जाए तो उनके द्वारा सम्मत काव्यलिंग अलंकार ही 'हेतु' है। किन्तु उनके ये दोनो कथन परस्पर-विरोधी हैं। जब तथाकथित 'हेतु' अलंकार के उदाहरणो में 'वैचित्र्य का अभाव' मान लिया गया तो उन्हे काव्यलिंग का उदाहरण मानना समुचित प्रतीत नही होता।



वस्तुत. हमारे विचार में मम्मट-सम्मत काव्यलिंग का स्वरूप रुद्रट-सम्मत 'हेतु' से भिन्न है। मम्मट-सम्मत काव्यलिंग का स्वरूप है—'काव्यलिंगं हेतोर्वाक्यपदार्थता,' अर्थात् हेतु को काव्यलिंग कहते है और यह दो प्रकार का होता है—वाक्यार्थगत और पदार्थगत। वस्तुत. 'लिंग' शब्द का हेतु के अर्थ मे प्रयोग तर्कशास्त्र में होता है, उस 'लिंग' शब्द से अन्तर बताने के लिए यहाँ इसे 'काव्यलिंग' नाम दिया गया है। स्पष्ट है कि मम्मट ने उक्त लक्षण में काव्यलिंग (अथवा हेतु) का स्वरूप स्पष्ट नही किया। किन्तु उनके निम्नोक्त

उदाहरण से प्रतीत होता है कि वे 'कारण' प्रस्तुत कर देने को काव्यलिंग (अथवा हेतु) अलंकार मानते है—

'हे शिव ! इस शरीर के धारण करने से मेरा यह अनुमान है कि मैने पिछले जन्म में आपको नमस्कार नही किया होगा [अन्यथा मै मुक्त हो गया होता], और इधर मै अगले जन्म मे भी आपको नमस्कार नही कर पाऊगा, क्योंकि इस जन्म में आपको नमस्कार कर लेने के कारण [आपकी कृपालुतावश] मै मुक्त हो जाऊंगा और अगला शरीर धारण ही न कर पाऊंगा। अतः अब इन दोनों अपराधो को क्षमा कर दीजिए।'[1]

इस कथन में महेश से क्षमा-प्रार्थना का कारण उपस्थित किये जाने के कारण 'काव्यलिंग' अलंकार की स्वीकृति की गयी है। अब इस उदाहरण की तुलना रुद्रट-प्रस्तुत उदाहरण 'अविरलकमलविकास.···' आदि से करने पर स्पष्ट हो जाएगा कि रुद्रट-सम्मत 'हेतु' अलंकार मम्मट-सम्मत काव्यलिंग अलंकार से भिन्न है। वहां कार्य और कारण का (अविरल कमल-विकास और काल का) अभेद-कथन हुआ है, और यहाँ कार्य (क्षमा-प्रार्थना) का कारण (नमस्कार न कर सकने का कारण) प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार हमारे विचार में ये दोनो तत्त्व अलग-अलग हैं, अतः ये दोनो अलकार भी भिन्न-भिन्न है।

इसके अतिरिक्त वैचित्र्य के अभाव का प्रश्न भी 'अविरलकमलविकास. [काल.] आयाति' जैसे कथनो में उपस्थित नही होता। ऐसे कथन जहां एक ओर 'आयुर्घृतम्' के समान स्वय मम्मट द्वारा स्वीकृत सारोपा अथवा साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरण है, वहां दूसरी ओर 'विशेषण-विपर्य्यय' नामक नवीन अलंकार की भी स्मृति दिलाते है। अस्तु![2]

---

१. वपुःप्रादुर्भावादनुमितमिदं जन्मनि पुरा
पुरारे न प्रायः क्वचिदपि भवन्तं प्रणतवान्।
नमन् मुक्तः संप्रत्यहमतनुरग्रेऽप्यनतिभाक्
महेश क्षन्तव्यं तदिदमपराधद्वयमपि ॥ का० प्र० १०।५०१

२. मम्मट के उपरान्त भी हेतु अलंकार से सम्बद्ध विवाद समाप्त नहीं हो गया। काव्यप्रकाश के टीकाकार नागोजी भट्ट ने इसे काव्यलिंग का पर्याय न मान कर 'प्रथम अतिशयोक्ति' में अन्तर्भूत किया है। किन्तु जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट कर आये हैं हेतु अलंकार का चमत्कार स्वतन्त्र रूप से स्वीकार्य होना चाहिए।

हेतु अलंकार के स्वरूप-निर्देश के उपरान्त अब लेश और सूक्ष्म अलंकारो को लीजिए।

२. लेश

सर्वप्रथम दण्डी ने लेश अलंकार का स्वरूप निम्नोक्त दो रूपो में निरूपित किया—

(क) लेश (स्वल्प) मात्र भी प्रकट होती हुई वस्तु के रूप को छिपाना, अथवा प्रकट होती हुई वस्तु को लेश (व्याज) द्वारा छिपाना ; और

(ख) लेशतः (व्याज से) स्तुति द्वारा निन्दा और निन्दा द्वारा स्तुति करना।

किन्तु आगे चल कर अप्पय्यदीक्षित ने दण्डी-प्रस्तुत उक्त दोनों रूपो में से पहले रूप की चर्चा नही की, और दूसरे रूप की चर्चा तो की है, किन्तु उसे लेश नाम नही दिया। उसने पहले प्रकार को व्याजोक्ति माना और दूसरे प्रकार को व्याजस्तुति। भोजराज और अप्पय्यदीक्षित के अनुसार दोष में गुण की और गुण में दोष की कल्पना करना भी लेश अलकार कहाता है।[1] उदाहरणार्थ—

अखिलेषु विहङ्गेषु हन्त स्वच्छन्दचारिषु।
शुक ! पञ्जरबन्धस्ते मधुराणां गिरां फलम्॥ कुवलयानन्द—१३८

(हे शुक ! स्वच्छन्दतापूर्वक उड़ने वाले सभी पक्षियो मे से यदि तुझे पिञ्जरे में बन्द करके रख दिया जाता है तो यह तेरी मधुर वाणी का ही फल है।) इस पद्य में शुक के पञ्जरबन्ध रूप दोष को उसकी मधुरवाणी के रूप में निरूपित किया गया है। इसे भोजराज ने 'व्याजस्तुति' अलकार नाम भी दिया है। किन्तु उनकी यह मान्यता स्वीकार्य नही है, क्योकि व्याजस्तुति अलकार मे स्तुति अथवा निन्दा के द्वारा विपरीतार्थ का अवगमन वाच्यार्थ से न होकर व्यंग्यार्थ द्वारा होता है, किन्तु लेश अलकार में दोनो का निर्देश एक साथ रहता है।[2] उदाहरणार्थ, व्याजस्तुति का यह निदर्शन लीजिए—

साधु दूति ! पुनः साधु कर्तव्यं किमतः परम्।
यन्मदर्थे विलूनासि दन्तैरपि नखैरपि॥ कुवलयानन्द—७१

---

१. (क) लेशो लेशेन निर्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम्।
(ख) लेशमेके विदुर्निन्दां स्तुतिं वा लेशतः कृताम्॥ का०द० २।२६५,२६८

२. दोषस्य यो गुणीभावो दोषाभावो गुणस्य यः।
स लेशः स्यात्ततो नान्या व्याजस्तुतिरपीष्यते॥ सरस्वतीकण्ठाभरण ४।५६

(हे दूति ! क्या कहने, इससे बढकर भला तू क्या कर्तव्य निभाती कि मेरे कारण तू [उस नायक द्वारा] दांतो से भी और नखो से भी क्षत की गयी है।) इस पद्य में नायिका ने दूती की स्तुति की है, किन्तु वस्तुत: उसे उसकी निन्दा करना अभीष्ट है जो कि वाच्य न होकर अवगमित है।

●

३. सूक्ष्म

भामह के समय मे सूक्ष्म का स्वरूप क्या था, साधनों की अनुपलब्धि में निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता। हाँ, यदि उनके समय मे भी सूक्ष्म का स्वरूप वही था जो दण्डी के समय में था, तो उनका इस अलंकार पर उक्त 'वक्रोक्त्यनभिधान' रूप दोषारोपण अवश्य खटकता है, क्योकि 'जनाकीर्ण स्थान पर भी नायक को मिलन-समय (सायकाल) का सूक्ष्म सकेत देने वाली नायिका के इस चतुर काव्य-व्यवहार' मे 'वैचित्र्य का अभाव' देखना इस अलकार के चमत्कार के प्रति निस्सन्देह अन्याय करना है—

संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।
ईषन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम्॥ का०प्र० १०।५३१ (पद्य)

इस प्रकार दण्डी से लेकर अप्पय्यदीक्षित-पर्यन्त अधिकतर आलंकारिको ने इस अलकार की चर्चा एक स्वतन्त्र अलंकार के रूप मे और लगभग एक-समान ही की है। इस दिशा में मम्मट का उदाहरण अत्यन्त चमत्कारपूर्ण है। नायिका की हथेली पर खड्ग का चित्र बनाकर सखी ने उसके विपरीत रति-कार्य को सूक्ष्म सकेत द्वारा व्यञ्जित कर दिया।[1]

●

इस प्रकार उक्त विकास-गाथा के निरूपण के उपरान्त इस सम्बन्ध मे हम निष्कर्ष रूप में कह सकते है कि—

१. 'गतोऽस्तमर्कः' वाक्य बिना किसी प्रसंग के, अपने आप में, किसी चमत्कार का द्योतक नहीं है—यह ठीक है, किन्तु किसी विशिष्ट प्रसंग के आलोक में यह वाक्य ध्वनि के उदाहरण-स्वरूप निस्सन्देह प्रस्तुत किया जा सकता है। अत. भामह द्वारा ऐसे वाक्यों में किसी प्रकार की 'वक्रोक्ति'—काव्य-चमत्कृति—की अस्वीकृति मानना समुचित नहीं है। सम्भवतः उन्होंने किसी वर्गविशेष से पक्षपात करते हुए ऐसा लिखा हो।

---

१. वक्त्रस्यन्दिस्वेदबिन्दुप्रबन्धैर्दृष्ट्वा भिन्नं कुंकुमं क्वापि कण्ठे।
पुंस्त्वं तन्व्या व्यञ्जयन्ती वयस्या स्मित्वा पाणौ खड्गलेखां लिलेख॥
—का० प्र० १०।५३०

२. हेतु, लेश और सूक्ष्म ये तीनों काव्य-चमत्कारोत्पादक हैं, अतः इन्हें 'अलंकार' रूप में स्वीकृत करना चाहिए। इन्हें किसी अन्य अलंकार में अन्तर्भूत करना भी युक्ति-संगत नहीं है।

३. हेतु अलंकार के अप्पय्यदीक्षित-सम्मत दोनों रूप चमत्कारपूर्ण होने के कारण मान्य हैं। दण्डि-सम्मत हेतु भी अप्पय्यदीक्षित-सम्मत प्रथम हेतु होने के कारण मान्य है।

४. लेश का स्वरूप अप्पय्यदीक्षित के ही अनुसार ग्राह्य है, दण्डी के अनुसार नहीं।

५. भामह के अतिरिक्त शेष सभी प्रमुख आचार्यों ने सूक्ष्म अलकार का निरूपण किया है। निस्सन्देह यह अलंकार इस गौरव का अधिकारी है भी।

६. श्री० नारायणदास वनहट्टी का यह कथन मान्य नहीं है कि [अन्य आधारों के अतिरिक्त] हेतु, सूक्ष्म और लेश अलकारो की क्रमश· अस्वीकृति और स्वीकृति के आधार पर [भी] कश्मीरी और अकश्मीरी आचार्यों के बीच विभाजन-रेखा खीची जा सकती है।



: २० :

अभिनय, अभिनेता तथा प्रेक्षक

अभिनय उस कृत्य को कहते है जिसके द्वारा [अभीप्ट] विषय सामाजिकों के सम्मुख साक्षात् रूप से प्रस्तुत किया जाता है—सामाजिकानाम् आभिमुख्येन साक्षात्कारेण नीयते प्राप्यतेऽनेनेति अभिनय ।

अभिनेता (अनुकर्ता अथवा नट) उसे कहते हैं जो अपने अभिनय(अनुकरण) द्वारा अनुकार्य (राम आदि) और प्रेक्षक के बीच सम्बन्ध स्थापित करके प्रेक्षक की रसस्वाद-प्राप्ति का कारण बनता है, और यह तभी सम्भव होता है जब अभिनेता के सफल अनुकरण के कारण प्रेक्षक अभिनेता को ही अनुकार्य समझने लगता है ।

किन्तु यह कैसे सम्भव होता है क्योकि न तो अनुकर्त्ता (अभिनेता) ने अनुकार्य को देखा होता है और न प्रेक्षक ने । अत न तो अनुकर्त्ता अनुकार्य का [यथावत्] अनुकरण कर सकता है और न प्रेक्षक अनुकर्त्ता को देखते हुए भी इसे [वास्तविक] अनुकरण मान सकता है ।[1]

इस स्वाभाविक शका के समाधान के लिए नाटयदर्पण के प्रणेता रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने कतिपय कारण प्रस्तुत किये है[2]—

१ अभिनेता कवि-प्रणीत राम आदि के चरित को पढ अथवा सुनकर अत्यन्त अभ्यास द्वारा ऐसा अनुभव करने लगता है कि उसने अनुकार्य को स्वयं

---

१. रामादेरनुकार्यस्य नटेन प्रेक्षकैर्वा स्वयमदृष्टत्वात् । अनुकर्ता हि अनुकार्यमदृष्ट्वा नानुकर्तु मलम् । प्रेक्षकोऽपि चाऽदृष्टानुकार्यो नाऽनुकर्त्तु रनुकर्तृत्वमनुमन्यते । —हि० ना० द० पृष्ठ ३५२

२. इस निबन्ध का लेखक यह निर्दिष्ट करने में असमर्थ है कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र इस प्रकरण के लिए किन पूर्ववर्ती आचार्यों के पूर्णतः अथवा आंशिक रूप से ऋणी हैं ।

देख-सा लिया है और पुनः यह अध्यवसान करने लगता है कि मैं उसी का ही अनुकरण कर रहा हूँ।[1]

२. यहाँ एक शका की जा सकती है कि कविजन अपने नाटकों में राम आदि अनुकार्य की अवस्था का चित्रण कैसे कर पाते है जबकि इन्होने भी तो उनको नही देखा होता। इसके उत्तर में कहा गया है कि 'त्रिकालदर्शी' ऋषिजनों से उन्हे यह ज्ञान मिलता है, जिसके आधार पर वे अपने नाटकों का निर्माण करते है, तथा इनके ही ज्ञान पर पूर्ण विश्वास करने से प्रेक्षक भी नट को अनुकार्य समझ लेता है।[2]

३. वस्तुतः नट को यह ज्ञात नही होता कि अनुकार्य ने अमुक अवसर पर किस रूप में हास्य, रोदन आदि किया होगा, अत. वह लोक-व्यवहार का (लोक में विभिन्न अवसरो पर हंसने और रोने वाले व्यक्तियो का) अनुकरण कर रहा होता है।[3]

४. इधर प्रेक्षक भी यद्यपि देश-काल के भेद के कारण नट को रामादि समझने मे असमर्थ होता है तो भी नट द्वारा उच्चरित रामादि के शब्द-सकेतो के श्रवण से, तथा अत्यन्त मनोरम सगीत आदि के वशीभूत होने के कारण वह उस नट को रामादि समझने लगता है जो [आंगिक, आहार्य, वाचिक और सात्त्विक इन] चार प्रकार के अभिनय से आच्छादित हो चुका होता है, अर्थात् उसका अपना वास्तविक रूप रामादि के रूप के नीचे ढँप गया होता है। ऐसी स्थिति में प्रेक्षक रामादि की सुख अथवा दुःख रूप अवस्थाओ मे लीन हो जाता है।[4]

५. इसके अतिरिक्त अनुकर्त्ता को अनुकार्य समझ लेने का कारण

---

१. तदयं नटो रामादेश्चरित कविनिबद्धमधीत्य अत्यन्ताऽभ्यासवशतः स्वयं दृष्टमनुमन्यमानोऽनुकरोमि इत्यध्यवस्यति।—हि०ना०द० पृष्ठ ३५२

२. इह तावद् इत्थमाकृतिरित्थ गति. × × × इत्येवमशेषमपि रामादि-ललितम् ऋषीणां कालदर्शिना ज्ञानेन निश्चितं कवयो नाटके निबध्नन्ति तत्र चार्थे मुनिज्ञानविश्वासात् नटस्य साक्षाद् दर्शनमेव।—वही, पृष्ठ ३५३

३. परमार्थस्तु लोकव्यवहारमेवाऽयमनुवर्तते।—वही

४. प्रेक्षकोऽपि रामादिशब्दसकेतश्रवणाद् अतिहृद्यसंगीतकाहितवैवश्याच्च स्वरूपदेशकालभेदेनाऽतथाभूतेष्वपि अभिनेयचतुष्टयाऽऽच्छादनात् तथाभूतेष्विव नटे पुरामादीनध्यवस्यति। अतएव तासु तासु सुखदुःखरूपासु रामाद्यवस्थासु तन्मयीभवति।—वही, पृष्ठ ३५२-३५३

भ्रान्ति भी है, जिसके बल पर प्रेक्षक शृंगार आदि रसो का आस्वाद प्राप्त करता है—उन्मिषन्ति च भ्रान्तेरपि शृङ्गारादय॰, क्योंकि इसी भ्रान्ति के ही कारण स्वप्न में भी कामिनी, वैरी अथवा चोर आदि को देखकर स्वप्नद्रष्टा स्तम्भ आदि अनुभावो का अनुभव करते है ।[1]

उक्त कथनो का निष्कर्ष यह है कि कोई प्रेक्षक जब तक अनुकर्ता को कृत्रिम व्यक्ति समझ रहा होता है तब तक उसे रसास्वाद प्राप्त नही हो सकता ।[2] किन्तु जब वह उसे अनुकार्य समझने लगता है तभी उसे रसास्वाद की प्राप्ति होती है । उसे अनुकार्य समझ लेने का कारण है उसका अभिनय-कौशल तथा अन्य रगमञ्चीय मनोहारी व्यवस्था । इन दोनो को नाट्यदर्पण के अनुसार 'भ्रान्ति' (चकाचौध) भी कह सकते हैं । उधर अनुकर्ता का अभिनय-कौशल भी इसी अध्यवसान पर आधारित है कि वह अपने आप को अनुकार्य ही समझ ले, और यह तभी सम्भव होता है जब वह एक ओर तो कवि-निबद्ध नाटक का पुन. पुन॰ अभ्यास करता है, और दूसरी ओर लौकिक व्यवहार के अनुभवो द्वारा विभिन्न प्रकार के मनोभावो का प्रदर्शन करना सीखता है । शेष रहा कवि का प्रश्न कि उसे अनुकार्यों की विभिन्न मनोदशाओं का ज्ञान कैसे हो जाता है ? तो वह इसे ज्ञानचक्षुओ से देखने वाले ऋषियो से प्राप्त करता है ।



रामचन्द्र-गुणचन्द्र का उक्त विवेचन अधिकाशत. मान्य है । उनका अन्तिम कथन किञ्चित् शिथिल है । इसका अभिप्राय केवल यही लिया जा सकता है कि कविजन काव्य-नाटक के निर्माण के समय अपनी कल्पना के बल पर जो विवरण प्रस्तुत करते है वे शायद लगभग वैसे ही होगे जैसे कि अनुकार्यों के साथ घटित हुए होंगे । जिसे आज का आलोचक कल्पना (इमैजिनेशन) कहता है उसे रामचन्द्र-गुणचन्द्र के शब्दो में 'ऋषियो की ज्ञानचक्षु' कह सकते है । स्वय वाल्मीकि भी यदि राम के समय में रहे हो तो भी वे उनकी सर्वप्रकार की मनोदशाओ से अवगत नही होंगे । अतः उनकी ज्ञान-चक्षु को 'कल्पना' का पर्याय मान सकते है । इसी प्रकार भास, कालिदास

---

१. उन्मिषन्ति च भ्रान्तेरपि शृंगारादयः । कामिनीवैरिचौरादीन् अधिस्वप्नमभिपश्यतः पुंसः कथम् अपरथा रसप्ररोहरोहिणस्तत्र स्तम्भादयोऽनुभावाः प्रादुर्भवेयुरिति ।— हि॰ना॰द॰ पृष्ठ ३५३

२. कृत्रिममेतद् इति जानन्तो [प्रेक्षकाः] न रामादिसुखदुःखेषु तन्मयीभवेयुः । —वही

आदि नाटककारो ने अन्य ऋषियो (गुरुजनो) के सम्पर्क द्वारा अनुकार्य व्यक्ति की मनोदशाओ का ज्ञान प्राप्त किया होगा—यह मानना भी न तो व्यवहार-सगत है और न बुद्धि-सगत।

हमारे विचार मे अनुकार्य की स्थिति के अवबोध के लिए सर्वप्रमुख साधन है परम्परागत ज्ञान अथवा लोकानुश्रुति। वस्तुत. इसी के ही बल पर कविजन राम आदि के परम्परागत अथवा लोकानुश्रुत रूप का चित्रण करते चले आये हैं। यद्यपि अपनी कल्पना के बल पर ये उनके चरित्र में इधर-उधर परिवर्तन भी कर देते है, तथापि उनके मूल रूप में, उनकी मूल भावना मे, कोई अन्तर नही आता। वे अपने ही देश-विशेष अथवा काल-विशेष के व्यक्ति के रूप में ही चित्रित किये जाते है, अन्य देश अथवा काल के व्यक्ति के रूप में नही। इसी प्रकार अभिनेता भी यद्यपि नाटक मे निर्दिष्ट नाटककार (अथवा निर्देशक) के 'स्वगत, प्रकट, सावेग, सकोप, सहर्ष, तारस्वरेण' आदि निर्देशो द्वारा अभिनय-कौशल प्राप्त करता है, तो भी किसी व्यक्ति-विशेष के अभिनय करने का निर्देशन इसे लोक-परम्परा द्वारा ही मिलता है। विरही राम, विरही यक्ष और विरही पुरुरवा,—इन तीनो के विरह-विलाप में क्या अन्तर है, इसका ज्ञान उसे अथवा स्वय उसके निर्देशक को केवल लोक-परम्परा द्वारा ही प्राप्त होता है। ठीक यही स्थिति प्रेक्षक की भी है। सीता के वियोग में 'राम' यदि रंगमच पर विसूरने लगता है तो भारतीय परम्परा से सुपरिचित प्रेक्षक का 'करुण' रस तत्क्षण के लिए हास्य-विनोद[1] में परिवर्तित हो जाता है, किन्तु इस परम्परा से अपरिचित किसी विदेशी प्रेक्षक के रसास्वाद में कोई अन्तर नही आता। विसूरना भी करुण रस की अभिव्यक्ति का अनुभाव (कारण) बन सकता है, पर सामान्य नायक के अनुकरण-प्रसग में, न कि राम जैसे धीरोदात्त नायक के प्रसग में। इस रसभंग अथवा रसास्वाद का एक मात्र कारण है लोक-परम्परागत ज्ञान अथवा लोकानुश्रुति। इसी कसौटी पर यदि कोई अभिनेता अभिनय करता है तो प्रेक्षक उसे अनुकार्य समझ कर रसास्वाद प्राप्त करने मे समर्थ हो सकता है।



---

१. 'हास्य-विनोद' से तात्पर्य हास्य रस नहीं लेना चाहिए।

: २१ :

एकांकी

कविता, नाटक,आख्यान आदि काव्य के ऐसे अंग है, जिनका सम्बन्ध मानव के रागात्मक तत्त्व के साथ अपेक्षाकृत अधिक रहता है और बौद्धिक तत्त्व के साथ कम। कलाकार इनके द्वारा सहृदय की रागवृत्ति को सजग कर देता है, परिणामत उसे अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है। यह परिणाम इतना प्रत्यक्ष है कि इसके लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही है। रागात्मक वृत्ति की सजगता से एक अप्रत्यक्ष परिणाम और भी होता है—सुगम रूप मे सहृदय का बौद्धिक विकास अथवा उसकी ज्ञानवृद्धि। आधुनिक काव्यशास्त्री दूसरे परिणाम को न भी माने, पर है यह अवश्यम्भावी। हाँ, यह प्रत्यक्ष नही है अपितु अप्रत्यक्ष है, और इसकी अप्रत्यक्षता में ही ऐसी रचना का सौन्दर्य निहित है, अन्यथा वह कोरा उपदेशात्मक ग्रन्थ है—शुष्क दर्शन है।

कविता, नाटक और आख्यान मे से नाटक के द्वारा उक्त दोनो प्रयोजन अपेक्षाकृत अधिक क्षिप्रता के साथ तथा अधिक प्रभावशाली रूप मे सहृदय को प्राप्त होते है। इसी कारण नाटक को अन्य काव्यागो की अपेक्षा अधिक रम्य माना गया है, तथा समस्त काव्य के दो स्थूल भेदो, श्रव्य और दृश्य, में से 'दृश्य' काव्य अकेले 'नाटक' को ही समाविष्ट किये हुए है, और 'श्रव्य काव्य'काव्य की शेप विधाओ को—यह भी नाटक की अपेक्षाकृत अधिक श्रेष्ठता का ही द्योतक है। अस्तु ! नाटक शताब्दियो से विश्व के मानव का मनोरजन और ज्ञानवर्द्धन करता आया है। भारत में भी नाटक-निर्माण की परम्परा संस्कृत-भापा के माध्यम से प्रारम्भ हो गयी थी।

आगे चलकर कई कारणो से नाटक-रचना का प्रवाह मन्द पड गया। किन्तु आधुनिक युग मे आकर अनेक भापाओ मे इसका पुनरुत्थान हुआ। प्रारम्भ मे इसमे भारतीय नाट्य-विधान का पालन किया गया, किन्तु फिर अंग्रेज़ी-साहित्य के प्रभाव के कारण पाश्चात्य नाट्य-विधान का भी साथ ही साथ सम्मिश्रण होने लगा। अंग्रेजी-साहित्य का एक अन्य प्रभाव भी नाटक-निर्माण-कला पर पड़ा—वह था [अनेकाकी] नाटको के साथ-साथ

एकांकियों का निर्माण। हिन्दी-साहित्य भी इस दिशा मे पीछे न रहा। इसमें वगला-साहित्य के प्रभाव-स्वरूप भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के युग से नाटक-निर्माण की जो परम्परा प्रारम्भ हुई थी वह ग्राज तक ग्रक्षुण्ण रूप से चली ग्रा रही है। किन्तु एकाकी का जो स्वरूप ग्राज माना जाता है, उसके ग्रनुसार एकाकी का प्रारम्भ भारतेन्दु-युग से न मानकर प्रसाद-युग से माना जाता है, क्योंकि प्रसाद से पूर्व-निर्मित एकाकी एतत्सम्बन्वी ग्राधुनिक धारणाग्रो पर पूरे नही उतरते, तब शायद भारतेन्दु-युगीन नाटककार 'एकांकी' नाम से परिचित ही न होगे; ग्रौर इधर प्रसाद का 'एक घूट', जिसका प्रकाशन सन् १९२९ मे हुग्रा था, सर्वप्रथम ऐसा 'एकाकी' हैं, जो इन धारणाग्रो पर पर्याप्त ग्रश तक पूरा उतरता है।

वस्तुत· ग्राधुनिक एकाकी के स्वरूप की निश्चेता धारणाएं भारतीय नाट्य-विधान पर ग्राधारित न होकर पाश्चात्य नाट्य-विंधान पर ही ग्राधारित है। पर उधर भारतीय नाट्य-विधान मे भी एक ग्रक वाले नाटक (रूपको ग्रौर उपरूपको) का भी उल्लेख मिलता है, इसलिए कुछ विद्वान् ग्राधुनिक एकाकी को उससे प्रभावित ग्रौर शृंखलाबद्ध रूप मे ग्रागत समझते है। ग्रत· उसका एतत्सम्बन्धी सक्षिप्त परिचय देना ग्रपेक्षित है।

●

भारत मे संस्कृत भापा में निर्मित काव्य के ग्रन्य ग्रनेक ग्रंगो के समान नाटको के वहुविध निर्माण के पश्चात् इनके भी वर्गीकरण का प्रश्न काव्य-शास्त्रियो के सम्मुख ग्राया, ग्रौर उन्होने इसे पूर्ण मनोयोग के साथ सुलझाने का प्रयास किया। 'दृश्य काव्य' पहले प्रधान दो भेदों में विभक्त हुग्रा—रूपक ग्रौर उपरूपक। फिर ये दोनो भेद क्रमश दस ग्रौर ग्रठारह उपभेदो मे विभक्त हुए। इन भेदो से नाटककारों की बहुमुखी प्रतिभा का परिचय मिलता है, ग्रौर साथ ही काव्यशास्त्रियो की सूक्ष्म विभाजक शक्ति का भी। इन उपभेदो के नियत हो जाने के उपरान्त शताब्दियो पर्यन्त भारतीय काव्यशास्त्रियो ने दृश्य काव्य की ग्रन्य विधाग्रो का न तो निर्माण किया ग्रौर न किसी नूतन विधा की ग्रोर सकेत किया। इस ग्रभाव का स्पष्ट कारण यह है कि सस्कृत का नाटककार रूपक का निर्माण तो शताब्दियो पर्यन्त करता रहा, पर शिल्पविधि की दृष्टि से वह उसमे कोई नूतनता नही लाया। वस्तुत. उक्त २८ उपभेद ग्रपने-ग्राप में इतने ग्रधिक ग्रौर व्यापक थे कि नूतन शिल्पविधि की तो बात ही क्या, इन सब में रचनाए कर सकना दुष्कर होगा—दुष्कर नही तो ग्ररुचिकर ग्रवश्य

होगा। यही कारण है कि विश्वनाथ के अनुसार इनमे से अनेक भेदो के तो उदाहरण ही नही मिलते, और कुछ के केवल एक-एक दो-दो मिलते है।

लक्ष्य-ग्रन्थ के उपरान्त लक्षण-ग्रन्थ का निर्माण होता है—इस सिद्धान्त के आधार पर आज का आलोचक यह मानने को विवश हो जाता है कि उक्त २८ उपभेदो के नामकरण से पूर्व ऐसे अनेक दृश्य-ग्रन्थ रचे गये होगे जिनके आधार पर ये भेद निर्मित हुए, पर स्थिति इससे किंचित् भिन्न भी हो सकती है। वस्तुतः भारत के आचार्य ने हर शास्त्रीय क्षेत्र मे अपनी वर्गकिरण-प्रियता तथा विस्तृत भेदोपभेद-कल्पना का इतना अधिक रूप प्रस्तुत किया है कि यह सोचने को भी विवश होना पड़ता है कि कही ऐसा तो नही कि इन भेदो में से अनेक भेदों का व्यावहारिक रूप तो कही उपलब्ध न हो, पर भारतीय आचार्य इनके सम्भाव्य वहुविध रूपो की कल्पना करता चला गया हो। उदाहरणार्थ, व्याकरण-ग्रन्थो में उल्लिखित अनेक अप्रचलित और अप्रख्यात रूप हमारी इस सम्भावना के समर्थक है जो व्याकरण-नियमो के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किये गये है, पर उनका प्रयोग शायद ही इन नियमो के निर्माण से पूर्ववर्ती साहित्यिक ग्रन्थों में हुआ हो। अस्तु ! हमारी यह सम्भावना भ्रान्त एवं अमान्य भी हो सकती है, पर यह तो निश्चित है कि रूपक के २८ उपभेदो में से अधिकांश से सम्बद्ध दृश्य काव्य उपलब्ध नही हैं—न इन भेदो के निर्माण से पूर्ववर्ती-काल मे और न इससे परवर्ती-काल मे। इस अभाव के दो कारण हो सकते है—एक यह कि ऐसे सभी ग्रन्थ थे अवश्य, पर फिर लुप्त हो गये, और दूसरा यह कि ऐसे सभी प्रकार के ग्रन्थ निर्मित ही नही हुए। अस्तु !

इन उपभेदो में से नाटक नामक उपभेद सर्वप्रमुख है—जिसकी रचना शताब्दियो पर्यन्त होती रही। नाट्य-विधानके अनुसार इसमें पांच या इससे अधिक अंक होते है। रूपको में व्यायोग, रासक, भाण, वीथी और प्रहसन ये पांच उपभेद, और उपरूपको में नाट्य-रासक, रासक, गोष्ठी, भाणिका, उल्लाप्य, काव्य, श्रीगदित, विलासिका और प्रेंखण—ये नौ उपभेद ऐसे है, जिनमें एक अक का विधान किया गया है। इन 'एक अंक' वाले रूपको अथवा उपरूपको में पारिस्परिक अन्तर निर्दिष्ट करते वाले तत्त्व है—इनकी कथावस्तु का वर्ण्य विषय, कथावस्तु की शृखला-सूचक सधियों अथवा सध्यंगो की न्यूनता अथवा अधिकता, पात्रो की संख्या तथा उनकी जाति, गुण, कर्म, स्वभाव आदि, विशेप प्रकार के संवाद का प्रयोग, विशेप रस का परिपाक आदि। इस प्रकार ये सभी रूपक अथवा उपरूपक 'एक अंक' की दृष्टि से परस्पर समान होते हुए भी उक्त तत्त्वों की विभिन्नता के कारण अपनी विशिष्ट स्थिति वनाये रखते है।

उदाहरणार्थ, कथावस्तु के आधार पर व्यायोग, भाण और वीथी में यह अन्तर है कि व्यायोग में कथानक इतिहास अथवा पुराण पर आधारित होता है, और प्रहसन में यह कविकल्पित होता है। व्यायोग, भाण, वीथी और प्रहसन में पारस्परिक अन्तर यह है कि व्यायोग में वीर रस की प्रधानता रहती है, वीथी में शृंगार अथवा वीर रस की और भाण तथा प्रहसन में हास्य रस की। किन्तु इन विभाजक विशिष्टताओं के रहते हुए भी ये 'एक अंक' वाले दृश्य-काव्य बाह्य विधान की दृष्टि से लगभग समान ही हैं—वही नान्दी, सूत्रधार, स्वगत-भाषण, आकाशभाषित, भरतवाक्य आदि। किसी में ये सभी तत्त्व विद्यमान रहते है, और किसी मे कम।

बस, आधुनिक एकांकियो का इन प्राचीन 'एक अक' वाले रूपको अथवा उपरूपको के साथ एक तो यही अन्तर है कि इधर इनमे इन स्थूल रूढ़ियो को स्थान नही मिला। इनका शिल्प-विधान निजी है, इनसे नितात स्वतंत्र है। इनमें दूसरा अन्तर अपेक्षाकृत अधिक प्रबल है। इनका कथानक आभिजात्य वर्ग के स्थान पर जनसाधारण के दैनिक जीवन से लिया जाता है। इनमें बाह्य संघर्ष को इतना स्थान नही दिया जाता जितना कि आन्तरिक सघर्ष को। सस्कृत का व्यायोगकार परम्परागत रूढ़ि के अनुसार उच्चवशोद्भव एव धीरोदात्त तथा प्रख्यात चरितनायक की अन्तिम सफलता को प्रारम्भ से ही मानकार चलता था, अतः उसे अन्तर्द्वन्द्व दिखाने की कदाचित् आवश्यकता नही थी, पर इधर आधुनिक एकाकीकार का चरितनायक साधारण जन का प्रतिनिधि होता है, अतः उससे अन्त में निश्चित सफलता की आशा नही की जा सकती, और न वह अनिवार्यतः किसी प्रख्यात एव ऐतिहासिक घटना का पात्र होता है कि जिसकी सफलता को पहले से ही निश्चित मानकर एकांकी का आरम्भ किया जाए। परिणामतः उसका नायक अन्तर्द्वन्द्व में रत रहता है—वह सघर्ष करता हुआ विपदाओ का चीरकर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। सामान्य व्यक्ति होने के कारण उसके सम्मुख पग-पग पर बाधाए आती है, जिन्हे दूर करना वह अपना प्रथम कर्तव्य समझता है और इस प्रकार जीवन-दर्शन की विभिन्नता के कारण सस्कृत के 'व्यायोग' के चरितनायक से उसका चरित्र एवं व्यक्तित्व कोसो दूर जा पड़ता है। निःसन्देह यह अन्तर पाश्चात्य नाट्य-विधान को अपनाने के परिणाम-स्वरूप ही है।

७

एकांकी का जो आधुनिकतम स्वरूप आज निश्चित-सा हो गया है, उसकी उपज इग्लैंड मे १९ वी शती के अन्त में 'कर्टेन-रेज़र' (curtain

raiser) अथवा 'पट्ट उत्थापक' से मानी जाती है। कहा जाता है कि उस युग मे इंग्लैंड में एक ऐसा शिष्ट वर्ग भी था, जो रात्रि को अधिक देर से भोजन करने का अभ्यासी बन गया था। व्यवसायी नाटक-कम्पनियो के अधिकारियो को नाटक प्रारम्भ करने से पूर्व उस वर्ग की प्रतीक्षा करनी पडती थी। किन्तु समय पर अथवा समय से किंचित् पूर्व आये हुए दर्शको का भी समय-यापन करना आवश्यक था। इस उद्देश्य के लिए छोटे-छोटे नाटको की रचना की गयी, और उन्हे रंगमच के मुख्य परदे को उठाने से पूर्व अभिनीत कर लिया जाता, और फिर आवश्यकतानुसार मुख्य परदा उठा कर प्रधान नाटक का अभिनय प्रारम्भ कर दिया जाता। इसी कारण इन लघु-नाटकों को लाक्षणिक रूप मे 'कर्टेन-रेज़र' की सज्ञा मिल गयी।

धीरे-धीरे नाटक की यह विधा भी लोकप्रिय बनती गयी। कहा जाता है कि सन् १९०३ मे विलियम जेकब द्वारा रचित "मकी'ज पा" (Monkey's paw) नामक कर्टेन-रेज़र को इतना अधिक पसंद किया गया कि इसे देख चुकने के बाद मुख्य नाटक के प्रारम्भ होने पर दर्शक धीरे-धीरे प्रेक्षागृह छोड़कर बाहर जाने लगे। व्यवसायी रंगमच को तो इससे अपने व्यवसाय को धक्का पहुंचने का भय उत्पन्न हो गया, और धीरे-धीरे उन्होंने इन लघु-नाटको को अभिनीत करना बन्द कर दिया। पर इससे इस नाटक-विधा को क्षीणता के स्थान पर बल मिला। इसकी लोक-प्रियता ने इसे स्वतन्त्र रगमच प्रदान किया। इसका बहिष्कार इसके लिए वरदान सिद्ध हुआ। पिछली अर्द्ध-शताब्दी में इस कला की आशातीत उन्नति हुई। इसे यूरोप और अमेरिका के अनेक प्रतिभा-सम्पन्न कलाकारो—इब्सन, शॉ, गाल्जवर्दी, मेतरलिंक, स्ट्रिंडबर्ग, चेखव, सिमोनोव, ओनील, काफ़मैन, बेरी, प्रीस्टले आदि ने समृद्ध बनाया। परिणामतः इस विधा की उत्तरोत्तर वृद्धि होती चली गयी, यह लोकप्रिय बनती चली गयी, और आगे चलकर इधर इसका सुप्रभाव हिन्दी नाटक-साहित्य पर भी पड़ा।

इसकी लोकप्रियता के सम्बन्ध में एक कारण यह बताया जाता है कि आज के संघर्षमय और व्यस्त जीवन में जनता के पास उपन्यास पढ़ने अथवा बड़े-बड़े नाटक देखने का समय नही-है। परिणामत., उपन्यास के स्थान पर कहानी का और नाटक के स्थान पर एकांकी का प्रचलन बढ गया है। निस्सन्देह एकांकी की लोकप्रियता का एक यह कारण भी है, पर भारत में यह कारण एकपक्षीय है। इस कारण का सम्बन्ध केवल बड़े-बड़े नगरो की जनता, केवल व्यस्त जनता, के साथ है, न कि छोटे-छोटे नगरो की जनता के साथ, जिसके पास समय का प्रायः अभाव नही रहता वह तो रात-रात भर रास, नौटकिया

आदि बड़े चाव से देखती रहती है।

एकांकी की लोकप्रियता के कतिपय अन्य कारण भी हैं, जो महत्त्व की दृष्टि से उक्त कारण की अपेक्षा किसी भी रूप मे कम नही है। स्कूलो और कालेजो मे विशिष्ट अवसरो पर आमन्त्रित विशिष्ट लोगो के मनोविनोदार्थ मनोरजक कार्यक्रम को उपस्थित करने की अपेक्षा रहती है, जिसमें कुछ तो छात्रों की सुविधा को देखते हुए और कुछ आमन्त्रित वर्ग की सुविधा को देखते हुए कार्यक्रम थोड़े समय में समाप्त कर देना होता है। इसीलिए नाटक के स्थान पर 'एकांकी' प्रस्तुत कर देना अधिक व्यावहारिक और सगत रहता है। इधर, एकाकी के प्रसार व प्रचार मे रेडियो का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। रेडियो के अधिकारी पन्द्रह मिनिट से लेकर एक घण्टे के अल्प समय तक किसी नाटक के वाचिक अभिनय द्वारा अपने श्रोताओ का मनोविनोद कर देना चाहते हैं, और इसके लिए इन्हे एकाकियों की सदा आवश्यकता रहती है। परिणामत', प्राय. सभी विशिष्ट नाटककार 'एकाकियों' का भी सृजन करके उनकी इस आवश्यता को पूर्ण किया करते है। अन्य देशो के साथ-साथ ठीक यही स्थिति भारत की भी है। प्राय' सभी विशिष्ट नाटककारों ने एकांकियों का भी निर्माण किया है, तथा उनमें से अधिकाश एकाकी रेडियो से प्रसारित हो चुके है। स्थिति यह भी है कि कुछ एकाकी मूलतः लिखे ही रेडियो के लिए गये, और कुछ नाटककारो ने एकाकी-रचना का प्रारम्भ ही रेडियो के लिए किया। एकाकी की लोकप्रियता का एक अन्य कारण सुविधा भी है। दर्शको की सुविधा का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इसके अतिरिक्त एकाकी के अभिनय के लिए पात्र कम चाहिए, वस्त्र कम चाहिए और फिर ऐतिहासिक एकांकियो को छोडकर प्राय. अन्य सभी विपयो से सम्बद्ध एकांकी 'रोजमर्रा' के वस्त्रो से ही अभिनीत हो सकते है। इसके अतिरिक्त इसके अभिनय के लिए परदे, फरनीचर तथा अन्य 'साजोसामान' भी अपेक्षाकृत कम चाहिए। इन सभी कारणो से एकाकी लोकप्रिय बन गये है।

●

एकांकी-सम्बन्धी पाश्चात्य नाट्य-विधान और इधर भारतीय वातावरण की अनुकूलता—इन दोनो के घुल-मिल कर एक हो जाने से एकाकी का जो स्वरूप आज हमारे सम्मुख है उसका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. एकाकी में एक अक होता है, उसमे तीन-चार दृश्य होते हैं।

२ इसका कथानक जीवन की किसी एक घटना के आधार पर निर्मित होता है, पर उस घटना का अत्यन्त मार्मिक एवं महत्त्वपूर्ण होना आवश्यक

है। अन्तर्द्वंद्व ऐसे कथानक का प्राण है। नाटक के असमान एकांकी में केवल एक मार्मिक चित्र सफलता के साथ उपस्थित कर देने मे ही इस की सिद्धि है। अतः इसका कथानक यथासम्भव सक्षिप्त होना चाहिए, जिसके लिए पात्रो की अपेक्षा भी कम रहती है।

३. एकांकी के सवाद सक्षिप्त, नपे-तुले और चुस्त होने चाहिएं—अनावश्यक और व्यर्थ विस्तार से नितान्त दूर। इन्ही गुणो के बल पर वे घटना के चरम विकास की ओर क्षिप्रता-पूर्वक अग्रसर होते चले जाते हैं।

४. कथानक की सक्षिप्तता एकाकी का प्रधान गुण है। इसके लिए आवश्यक है कि इसमें समय और स्थान की एकता के अतिरिक्त कार्य की भी एकता होनी चाहिए। इस 'एकता-त्रयी' को इब्सन की नाट्यकला से प्रभावित माना जाता है। निस्सन्देह यही एकता एकाकी का व्यावर्तक धर्म है। इसी के निर्वाह-स्वरूप एकाकी के बाह्य और आन्तरिक दोनो रूपो में क्षिप्रता और गतिमत्ता आती है, और इसी के कारण यह नाटक से अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। अतः जिस प्रकार कहानी को उपन्यास का लघु रूप नही कह सकते, उसी प्रकार एकांकी को भी नाटक का लघु रूप नही कह सकते।

२

पीछे लिख आये हैं कि हिन्दी-नाटक-साहित्य में लघु नाटको का प्रारम्भ भारतेन्दु-युग से हो गया था। स्वय भारतेन्दु जी ने 'नीलदेवी' और 'विपस्य विपमौपधम्'—ये दो एक-एक अक वाले नाटक लिखे थे। भारतेन्दु के सहयोगियो—श्रीनिवासदास, राधाचरण गोस्वामी, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्णदास आदि ने भी एक-एक अक वाले नाटको का सृजन किया, पर केवल 'एक अंक' के ही सद्भाव को देखकर इन्हें एकाकी कहना—'एकाकी' शब्द से आज जो तात्पर्य लिया जाता है, वैसा एकाकी कहना—युक्तिसगत नही है। उनमे एकांकी की उक्त विशेषताओ का प्राय अभाव है। वे मूलतः भारतीय नाटयशास्त्र मे स्वीकृत 'एक अंक' वाले नाटको की शैली पर रचित है, अत' वास्तविक एकांकी का आरम्भ भारतेन्दु-युग से मानना समुचित नही है।

जयशकरप्रसाद-रचित 'एक घूट' का उल्लेख ऊपर हो चुका है। यद्यपि इसमें भारतीय नाटच-विधान का वातावरण यत्र-तत्र उपलब्ध है, तथापि इसमें सघर्ष का तत्त्व भी विद्यमान है, समय और स्थान की एकता का भी इसमें निर्वाह हुआ है। अत. इस दृष्टि से हिन्दी मे इसे एकाकी-प्रारम्भ का प्रथम सूत्र तो मान सकते है, किन्तु फिर भी यह पूर्णत' आदर्श एकांकी नही हैं। इससे लेखको को 'एकाकी' लिखने की प्रेरणा नही मिल सकी। 'एक घूंट' के

निर्माण के आसपास सुदर्शन ने 'राजपूत की हार' 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' और 'प्रताप प्रतिज्ञा' एकांकी लिखे । रामनरेश त्रिपाठी ने 'स्वप्नो का चित्र' और 'दिमागी ऐयाशी,' बदरीनाथ ने 'लवड़ घोंघो', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने 'चार बेचारे' 'अफजल वध' आदि एकांकी लिखे, पर इन सब में 'एकांकी' के लिए स्वीकृत तत्त्वो का प्राय. अभाव है, ये भी आदर्श एकाकी नही है ।

वस्तुत· आदर्श एकांकियो का सृजन भुवनेश्वरप्रसाद और रामकुमार वर्मा के एकांकी-निर्माण (सन् १९३५-३६) से प्रारम्भ होता है । भुवनेश्वर प्रसाद का 'कारवां' और डॉ० रामकुमार वर्मा का 'पृथ्वीराज की आँखे, इस काल की उपज हैं । उदयशकर भट्ट, जगदीशचन्द्र माथुर और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने भी उन्ही दिनो एकाकियो का निर्माण प्रारम्भ कर दिया था । भट्ट का 'एक ही कब्र में', 'वर-निर्वाचन,' 'उन्नीस सौ पैंतीस,' माथुर का 'मेरी बांसुरी' और 'भोर का तारा' तथा 'अश्क' का 'लक्ष्मी का स्वागत' और 'अधिकार का रक्षक' —ये सभी एकाकी सन् १९३५-३८ के बीच रचे गये ।

इनके अतिरिक्त सर्वश्री गोविन्दवल्लभ पन्त, सेठ गोविन्ददास, चन्द्रगुप्त विद्यालकार, भगवतीचरण वर्मा, सद्गुरुशरण अवस्थी आदि ने भी उन्ही दिनो एकाकी लिखना प्रारम्भ किया था, और तब से एकाकी का भण्डार उत्तरोत्तर भरता चला आ रहा है । भारत के विभाजन के पश्चात् उक्त महानुभावो के अतिरिक्त आचार्य चतुरसेन शास्त्री, लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरिकृष्ण 'प्रेमी', रामवृक्ष बेणीपुरी, धर्मवीर भारती आदि ने इस काव्यांग के विकास में पूर्ण सहयोग दिया । विभाजन से पूर्व के एकांकियो में तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का चित्रण किया गया, तथा महायुद्ध की विभीषिकाए, आज़ादी की हुंकार, बंगाल का अकाल, चोरबाजारी आदि सामयिक घटनाओ को एकाकियों का वर्ण्य-विषय बनाया गया । देश-विभाजन के पश्चात् नयी समस्याए आ खड़ी हुईं, जिन्हे पुरानी पीढ़ी तथा नवीन पीढी के नाटकारो ने अपने एकाकियो में चित्रित किया । नवीन पीढ़ी के नाटककारो मे चिरजीत, विष्णु प्रभाकर, सत्येन्द्र शरत्, देवराज 'दिनेश,' विनोद रस्तोगी, सिद्धिनाथ कुमार आदि के नाम विशेषत: उल्लेखनीय हैं । इन सबने 'रेडियो' के लिए तथा स्वतंत्र रूप से एकाकियो का सृजन किया और इस काव्याग की श्रीवृद्धि मे सहयोग दिया । इस प्रकार हिन्दी का एकाकी-साहित्य उत्तरोत्तर समृद्ध बनता जा रहा है ।



: २२ :

मौलिकता और चौरकवि

अन्यकाव्यै· कवित्व तु कलंकस्यापि चूलिका

अन्य कवियों की रचनाओ का किसी भी प्रकार का अपहरण चौरकर्म कहाता है और इसे कलक का मूल कहा गया है।[1] निस्सन्देह चौरकवि की निन्दा जितनी की जाए थोड़ी है। दूसरो की रचना को अपनी बताने वाला तो चौर है ही, किन्तु दूसरो का भावापहरण करके उसे अपने शब्दो में प्रस्तुत करने वाला तो पहले प्रकार के चौरकवि की अपेक्षा कही अधिक दम्भी है, अतः अधिक अपराधी और निन्दनीय है। ऐसे 'कवियो' की निन्दा अनेक रूपो में की गयी है। इस सम्बन्ध में काव्यशास्त्रियो मे राजशेखर के और कवियो में बाणभट्ट के कथन प्रायः उद्धृत किये जाते है। राजशेखर ने चार प्रकार के कवियों का निर्देश किया है—उत्पादक. परिवंतक, आच्छादक और संवर्गक।[2] इनमें से प्रथम प्रकार का कवि तो निस्सदेह यथार्थ कवि है क्योकि वह प्रतिभा-सम्पन्न होता है, किन्तु शेष तीनो किसी न किसी रूप में चौर-कर्म करते है। परिवर्तक इधर-उधर [भाषा में] परिवर्तन करके अपना कार्य चला लेता है, आच्छादक दूसरो के भावो तक को आच्छादित कर देता है, संवर्गक तो डाकू होता है वह दूसरों की रचना को वैसे का वैसा ग्रहण करके स्पष्टत· अपनी घोषित करता फिरता है।[3]किसी अज्ञात कवि ने ऐसे 'साहसी'[4] को वार-वार नमस्कार किया है:

कविरनुहरतिच्छायां अर्थं कुकविः पदादिकं चौर. ।
सकलप्रबन्धहर्त्रे साहसकर्त्रे नमस्तस्मै ॥

---

१. अकवित्वं परस्तावत् कलकः पाठशालिनाम् ।
अन्यकाव्यैः कवित्व तु कलंकस्याऽपि चूलिका ॥ ना० द० १ । ११

२. उत्पादकः कविः कश्चित् कश्चिच्च परिवर्त्तक. ।
आच्छादकस्तथा चान्यस्तथा संवर्गकोऽपरः ॥

३. विशेष विवरण के लिए देखिए—काव्यमीमांसा ११ अ० (अन्तिम भाग), हिन्दी नाट्यदर्पण (आ० विश्वेश्वर) पृष्ठ ६

४. संस्कृत में 'साहस' शब्द का अर्थ डकैती आदि अर्थ में प्रयुक्त होता है।

बाणभट्ट ने चौर-कवि की भर्त्सना करते हुए श्लेष अलंकार के माध्यम से उसे चौर ही सिद्ध किया है—

अन्यवर्णपरावृत्त्या बन्धचिह्ननिगूहनैः ।[1]
अनाख्यातः सतां मध्ये कविश्चौरो विभाव्यते ॥ हर्षचरितम् १।६

इस सम्बन्ध मे विचारणीय यह है कि यदि यह स्वीकार किया जाता है कि 'मौलिकता' नाम का तत्त्व नितान्त दुर्लभ है तो भावसाम्य के आधार पर किसी की भर्त्सना क्यो की जाए ? भावसाम्य का कारण तो मानव-मन का ऐक्य है। विभिन्न देश और काल में विद्यमान व्यक्तियो ने जो कि प्रत्येक दृष्टि से एक दूसरे से अप्रभावित है एक ही प्रकार के विचार प्रकट किये है। निस्सन्देह इस प्रकार का भावसाम्य उपस्थित करने वाला व्यक्ति किसी भी रूप में अपराध तथा निन्दा का पात्र नही है। कभी कोई बात, कोई घटना, अथवा कोई विचार पढा-सुना जाने पर हमारे हृदय के किसी कोने पर जा पड़ता है और फिर कभी परिस्थितिवश जागृत होकर अनायास वाणी अथवा लेखनी द्वारा नि.सृत हो जाता है, और भावसाम्य का कारण बन जाता है। किन्तु इस प्रकार की साम्यता पर मानव का कोई अधिकार नही है, क्योकि न तो वह दूसरो के विचारो को अपने मन में संस्कार रूप में प्रस्तुत होने से रोक सकता है और न समय पडने पर अभिव्यक्त होने से। कभी हम दूसरो के विचारो को पढ़ और सुनकर उन्हे नवीन एव व्यवस्थित रूप में प्रतिपादित करने के लिए लालायित हो उठते है और उन्हे निबन्ध कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि के रूप मे ढाल देते है। निस्सन्देह यह प्रक्रिया भी निन्दनीय नही है, क्योकि इससे पूर्व भावो को नवीन दिशा मिलती है। कभी-कभी तो हमारी कल्पना का सयोग पाकर ये भाव पहले की अपेक्षा कही अधिक स्पष्ट, विशद, ग्राह्य एवं प्रभावशाली बन जाते है। इस पुनराख्यान-प्रक्रिया को, चाहे तो, 'मौलिकता' का नाम दिया जा सकता है। पूर्वज्ञात भाव हमारी कल्पना का योग पाकर यदि नवीन रूप मे प्रतिपादित हो जाए तो इसे 'मौलिकता'

---

१. यदि चौर दूसरे व्यक्ति के वर्ण अर्थात् रूप-रंग को बदल लेता है तो चौरकवि दूसरों के वर्णों अर्थात् शब्दों एवं वाक्यों को। चौर शृंखला-बन्ध से उत्पन्न चिह्नों को छिपाता फिरता है तो इधर चौरकवि दूसरों के रचना-बन्ध के चिह्नों तक को मिटा देता है। किन्तु ये दोनों समझदार व्यक्तियों के बीच न बताये हुए भी पहिचान लिये जाते है।

मान लेने में अधिक आपत्ति नही होनी चाहिए। अब केवल शेप एक रूप रह जाता है जो अत्यन्त भर्त्सनीय है, वह है—दूसरो के भावो का बाह्य कलेवर बदल देना, दूसरों के शब्दों के स्थान पर अपने शब्दों और दूसरो की वाक्या-वली के स्थान पर अपनी वाक्यावली को रखते चले जाना और इस दम्भ की आड़ में कवि और विचारक कहलाना, यह प्रवृत्ति नि.सन्देह पूर्णतः गर्हित एवं त्याज्य है।

परिशिष्ट

१. हिन्दी-रीतिकालीन अन्य हस्तलिखित ग्रन्थ

[इस पुस्तक के 'काव्यशास्त्रीय परम्परा' नामक खण्ड के अन्तर्गत रीतिकालीन उपलब्ध ग्रन्थो की सूची प्रस्तुत की गयी है (देखिए पृष्ठ ४८-५३), उसमें निम्नोक्त हस्तलिखित ग्रन्थ भी सम्मिलित करने योग्य है। प्रस्तुत सूची डॉ० ओम्प्रकाश शर्मा प्राध्यापक देशबन्धु कालेज दिल्ली के सौजन्य से प्राप्त हुई है। लेखक उनके प्रति अति कृतज्ञ है। ये सभी ग्रन्थ उनके पास सुरक्षित है।]

कवि	ग्रन्थ	प्राप्ति-स्थान
(१) अमीरचन्द्रिका	अमीरदास	सैन्ट्रल लायब्रेरी पटियाला
(२) अलंकारचन्द्रोदय	रसिक सुमति	ना० प्रचारिणी सभा काशी
(३) अलंकारदर्पण	रामसिंह	" "
(४) अलंकारमाला	कविदास	सै० ला० पटियाला
(५) अर्थालकारमंजरी	दामोदर	वालकृष्णदेव तैलंग, टीकमगढ
(६) कान्ताभूपण	रतनेस कवि	राज पुस्तकालय दतिया
(७) कविवल्लभवचनिका	कवि वल्लभ	सै० ला० पटियाला
(८) चित्रचमत्कृत कौमुदी	ईश्वर कवि	"
(९) तुलसीभूपण	रस रूप	ना० प्रचारिणी सभा काशी
(१०) नरेन्द्र भूषण	ईश्वर कवि	सै० ला० पटियाला
(११) भापाभूषण	श्रीधर ओझा	ना० प्रचारणी सभा काशी
(१२) फतेप्रकाश (फतेभूपण)	रत्नेस कवि	राज पुस्तकालय दतिया
(१३) रसिकगोविंदानंदघन	रसिक गोविंद	सै० ला० पटियाला
(१४) वाणीभूपण	उमेदराय	× × ×
(१५) श्रीकृष्णसाहित्यसिन्धु	अमीरदास	सै० ला० पटियाला
(१६) साहित्यशिरोमणि	निहाल	"

२. प्रमुख-सहायकग्रन्थ-सूची

संस्कृत-ग्रन्थ

अप्पय्यदीक्षित	कुवलयानन्द	नि० सा० प्रे०
अभिनवगुप्त	अभिनवभारती	आ० विश्वेश्वर
आनन्दवर्द्धन	ध्वन्यालोक	,,
उद्भट	काव्यालंकारसारसंग्रह	व० सं० प्रा० सी०
कुन्तक	वक्रोक्तिजीवित	आ० विश्वेश्वर
जगन्नाथ	रसगंगाधर	नि० सा० प्रे०
जयदेव	चन्द्रालोक	चौ० सं० सी०
दण्डी	काव्यादर्श	बी०ओ०आर०आई०, पूना
धनञ्जय	दशरूपक	नि० सा० प्रे०
भरत	नाट्यशास्त्र	चौ० सं० सी०
भामह	काव्यालंकार	,,
भोजराज	सरस्वतीकण्ठाभरण	नि० सा० प्रे०
,,	शृंगारप्रकाश	डॉ० वी. राघवन
मम्मट	काव्यप्रकाश	झलकीकर
राजशेखर	काव्यमीमांसा	पं० केदारनाथ सारस्वत
रामचन्द्र-गुणचन्द्र	नाट्यदर्पण	आ० विश्वेश्वर
रुद्रट	काव्यालंकार	नि० सा० प्रे०
वामन	काव्यालंकारसूत्रवृत्ति	आ० विश्वेश्वर
विश्वनाथ	साहित्यदर्पण	पं० शालग्राम

हिन्दी-ग्रन्थ

आनन्दप्रकाश दीक्षित .. रससिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण
नगेन्द्र .. रीतिकाल की भूमिका
,, . भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका
बलदेव उपाध्याय .. भारतीय साहित्यशास्त्र (दो खण्ड)
रामचन्द्र शुक्ल ... चिन्तामणि (१ भाग), रसमीमांसा
रामदहिन मिश्र काव्यदर्पण